



ISSN : 2321-6581

जुलाई - दिसम्बर - 2021

वर्ष : IX, अङ्क - II

कुल अङ्क - XVII

Impact Factor : 4.214

# शोध नवनीत

## SHODH NAVNEET

षाण्मासिकी अन्ताराष्ट्रिया शोध-पत्रिका

The Half Yearly International Peer-Reviewed  
Research Journal of Humanities and  
Oriental Knowledge

हमारा प्रयास समाजोपयोगी,  
नवीन एवं प्राच्यज्ञान का प्रकाशन

“Our whole effort is to publish  
societal, innovative and  
oriental knowledge”

स्तुति प्राच्यविद्या समिति, गोण्डा ( उ.प्र. )

STUTI PRACHYVIDYA SAMITI, GONDA (U.P.)

अन्तर्जाल (Website) : [www.shodhnavneet.com](http://www.shodhnavneet.com)

अणुसंकेत (E-mail) : [shodhnavneet@gmail.com](mailto:shodhnavneet@gmail.com)

चलभाष (contact us) : +91-7800193920

जुलाई - दिसम्बर - 2021

ISSN : 2321-6581

वर्ष : IX, अङ्क - II, कुल अङ्क - XVII

Impact Factor : 4.214

# शोध नवनीत

## SHODH NAVNEET

( षाण्मासिकी अन्ताराष्ट्रिया शोध-पत्रिका )

The Half Yearly International Peer-Reviewed (Refereed)  
Research Journal of Humanities and Oriental Knowledge

हमारा प्रयास समाजोपयोगी, नवीन एवं प्राच्यज्ञान का प्रकाशन  
Our whole effort is to publish societal, innovative and oriental knowledge.

प्रधान सम्पादक :

डॉ. अवधेश प्रताप सिंह

असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सम्पादक :

डॉ. प्रमोद कुमार मिश्र

असिस्टेंट प्रोफेसर-संस्कृत, गौतमबुद्ध राजकीय महाविद्यालय, अयोध्या (उ.प्र.)

सह-सम्पादक :

डॉ. आशुतोष पारीक

असिस्टेंट प्रोफेसर, सम्राट पृथ्वीराज चौहान राजकीय महाविद्यालय अजमेर, राजस्थान

डॉ. सुनील कुमार शर्मा

सहायक आचार्य, शिक्षाशास्त्र विभाग, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नव देहली

## स्तुति प्राच्यविद्या समिति

51- जबर नगर, पो. परास,

जिला - गोण्डा, उत्तर प्रदेश, भारत - 271403

अन्तर्जाल (Website) : [www.shodhnavneet.com](http://www.shodhnavneet.com)

अणुसंकेत (E-mail) : [shodhnavneet@gmail.com](mailto:shodhnavneet@gmail.com)

चलभाष (contact us) : +91-7800193920

- प्रबन्ध सम्पादक  
डॉ. अनुराधा शुक्ला
- विधिक सलाहकार  
श्री सतीश कुमार मिश्र  
एडवोकेट, चैम्बर नम्बर 18 ए, हाईकोर्ट, प्रयागराज - 211 002
- शोध नवनीत
- Shodh Navneet (International Peer-Reviewed (Refereed) Research Journal)
- ISSN : 2321-6581
- Impact Factor : 4.214
- वर्ष : IX, अङ्क : II, कुल अङ्क : XVII, - जुलाई - दिसम्बर 2021

© प्रकाशक द्वारा सभी अधिकार सुरक्षित

- प्रकाशक  
स्तुति प्राच्यविद्या समिति (Reg. No. - 1137/2013-14)  
म० सं० 51, जबर नगर, पो० परास  
जिला - गोण्डा, उत्तर प्रदेश, भारत - 271403
- सम्पर्क सूत्र : +91-7800193920
- अणु-सङ्केत : shodhnavneet@gmail.com
- बेबसाइट : www.shodhnavneet.com
- सहयोग राशि (Subscription) : प्रति अङ्क ₹ 150  
Soft Copy : Free by E-mail or Free Download from- www.shodhnavneet.com
- D.D. 'Stuti Prachyavidya Samiti' Payable at 'Gonda' के पक्ष में होना चाहिए।
- मुद्रित :  
प्रभा कम्प्यूटर्स एण्ड प्रिंटर्स  
30/21, यूनिवर्सिटी रोड, प्रयागराज - 211 002

नोट : शोधपत्र/शोधलेख के प्रति सम्पूर्ण उत्तरदायित्व उसके आलेखकों का होगा तथा लेखकों के मत से सम्पादक, सम्पादक मण्डल आदि का सहमत होना अनिवार्य नहीं है। सम्पादक मण्डल/समीक्षक समिति आदि द्वारा चयनित शोधपत्रों को निःशुल्क प्रकाशित प्रदान किया जाएगा। शोध नवनीत से सम्बन्धित किसी भी विवाद के लिए न्यायिक क्षेत्र जनपद न्यायालय फैजाबाद होगा। ₹ 1500 सहयोग राशि का भुगतान करके 'शोध नवनीत' शोध पत्रिका का वार्षिक सदस्य बना जा सकता है। सदस्य बनने पर सदस्यता प्रमाण-पत्र के साथ पत्रिका का वार्षिक दो अङ्क प्रदान किया जायेगा।

## मुख्य संरक्षक (Chief Patrons)

- प्रो. रमेश कुमार पाण्डेय  
पूर्व कुलपति, श्री लाल बहादुर राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली
- प्रो. के. रविशङ्कर मेनोन  
पूर्व-कुलसचिव एवं संकायप्रमुख शिक्षाविभाग, राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ (मा. वि.), तिरुपति (आ.प्र.)
- प्रो. वृजभूषण ओझा  
आचार्य, व्याकरण विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.)
- प्रो. हरेकृष्ण शतपथी  
पूर्व कुलपति, किश विश्वविद्यालय भुवनेश्वर, ओडीसा
- प्रो. राम किशोर शास्त्री  
पूर्व-अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
- प्रो. सत्यप्रकाश दुबे  
आचार्य, संस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय जोधपुर, राजस्थान
- प्रो. पवन कुमार  
परीक्षा नियन्त्रक, केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
- प्रो. जि.एस. कृष्णमूर्ति  
संकाय प्रमुख, साहित्य विभाग, राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, तिरुपति

## सम्पादक मण्डल (Editorial Board)

- प्रो. राम सेवक दुबे  
संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
- प्रो. उमेश प्रसाद सिंह  
संस्कृत विभाग, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
- प्रो. रंजन त्रिपाठी  
संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
- डॉ. विजय कुमार शर्मा  
वेद विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.)
- प्रो. आशीष सक्सेना  
समाजशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
- प्रो. सत्यपाल तिवारी  
हिन्दी विभाग, राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
- डॉ. शैलेन्द्र कुमार मिश्र  
असिस्टेंट प्रोफेसर, मानवशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

- **डॉ. अमित कुमार मिश्र**  
विभागाध्यक्ष, पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग, जी.एन.एस. विश्वविद्यालय, जमुहार, सासाराम, विहार
- **श्री आदित्य प्रताप सिंह**  
असिस्टेंट प्रोफेसर, शारीरिक शिक्षा विभाग, राजकीय महाविद्यालय पचवस बस्ती (उ. प्र.)
- **डॉ. शैलेन्द्र कुमार शाहू**  
सहायक आचार्य, साहित्य विभाग, संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
- **डॉ. राजीव रंजन**  
असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
- **डॉ. विवेक शर्मा**  
असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, हिमाचल प्रदेश केन्द्रीय विश्वविद्यालय धर्मशाला, हिमाचल प्रदेश
- **डॉ. देवराज**  
सहायक आचार्य, संस्कृत इकडोल, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय शिमला, हिमाचल प्रदेश
- **डॉ. हरिपद महापात्र**  
सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग, साँकराइल अनिल विश्वास स्मृति महाविद्यालय झाडग्राम, पश्चिम बंगाल
- **डॉ. प्रताप चन्द्र राय**  
सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग, सिधो-कानहो वीरसा विश्वविद्यालय पुरुलिया, पश्चिम बंगाल
- **डॉ. विशाल श्रीवास्तव**  
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, राजकीय महाविद्यालय पचवस बस्ती (उ. प्र.)
- **डॉ. रजनीश शर्मा**  
प्राचार्य, कंचन देवी शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय एवं कंचन देवी कॉलेज ऑफ कम्प्यूटर साइंस भीलवाड़ा, राजस्थान
- **डॉ. परमेश कुमार शर्मा**  
सहायक आचार्य-शिक्षाशास्त्र विभाग, श्री लाल बहादुर राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नव देहली
- **डॉ. रवि प्रभात**  
सहायक प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक, हरियाणा

### **समीक्षक समिति / निर्णायक मण्डल** **(Review Committee/Referees Board)**

- **प्रो. पी. के. साहू**  
शिक्षाशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
- **प्रो. ई. एम. राजन**  
केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालयः, गुरुवायूर-परिसरः, तृशशुर, केरलम्
- **प्रो. रमाकान्त पाण्डेय**  
निदेशक, मुक्तस्वाध्यायपीठ, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान (मा. वि.), नई दिल्ली
- **प्रो. सुशील कुमार शर्मा**  
अंग्रेजी एवं आधुनिक यूरोपियन भाषा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

- **प्रो. उमाकान्त यादव**  
संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
- **प्रो. धनञ्जय यादव**  
शिक्षाशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
- **प्रो. आमोदवर्धन कौण्डिन्यायन**  
वेद विभाग, वाल्मीकि विद्यापीठ, काठमाण्डू, नेपाल संस्कृत विश्वविद्यालय, नेपाल
- **डॉ. बजरंग बिहारी तिवारी**  
एसो. प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, देश बन्धु डिग्री कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
- **डॉ. प्रदीप कुमार दीक्षित**  
एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभागाध्यक्ष, अकबरपुर महाविद्यालय, अकबरपुर, कानपुर देहात (उ.प्र.)
- **डॉ. अमूल्य कुमार सिंह**  
एसो. प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, का. सु. साकेत महाविद्यालय, अयोध्या (उ.प्र.)
- **डॉ. राघवेन्द्र मिश्र**  
असिस्टेंट प्रोफेसर, जन संचार विभाग, असम विश्वविद्यालय, सिलचर, असम
- **डॉ. राजीव सिन्हा**  
असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, श्रीकृष्ण महाविद्यालय, नदीया (कल्याणी विश्वविद्यालय), पश्चिम बंगाल
- **डॉ. सुदेव**  
असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, पाँच मुड़ा विश्वविद्यालय, बाँकुड़ा, पश्चिम बंगाल
- **डॉ. अनुपम पाण्डेय**  
एसोसिएट प्रोफेसर, भूगोल विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
- **डॉ. उमाकान्त प्रसाद**  
असिस्टेंट प्रोफेसर, शिक्षाशास्त्र विभाग, विश्वभारती, शान्ति निकेतन, पश्चिम बंगाल

### परामर्शदात्री समिति ( Advisory Committee)

- **डॉ. जी. गङ्गाधरन नायर**  
पूर्व डीन एवं प्रोफेसर, संस्कृत व्याकरण विभाग, श्री शङ्कराचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय, कालडी, केरल
- **प्रो. ए. पी. सच्चिदानन्द**  
प्राचार्य, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मा. वि.), राजीव गाँधी परिसर शृङ्गेरी, कर्नाटक
- **प्रो. लक्ष्मीनिवास पाण्डेय**  
प्राचार्य, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मा. वि.), वेदव्यास परिसर बलहार, हिमाचल प्रदेश
- **प्रो. सुकान्त सेनापति**  
परीक्षा नियन्त्रक, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मा. वि.), नव देहली
- **प्रो. मनोज मिश्र**  
विभागाध्यक्ष, वेद विभाग, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मा. वि.), नव देहली
- **प्रो. सुरेश चन्द्र दुबे**  
अंग्रेजी एवं आधुनिक यूरॉपियन भाषा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

- श्रीमती प्रियंवदा काफ्ले  
एसो. प्रोफेसर, इतिहास पुराण विभाग (वाल्मीकि विद्यापीठ), नेपाल संस्कृत विश्वविद्यालय, नेपाल
- डॉ. विजय शङ्कर द्विवेदी  
असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
- डॉ. शिव कुमार मिश्र  
प्रवक्ता संस्कृत, देव विद्यालय इण्टर कॉलेज तरौली, अयोध्या (उ.प्र.)

---

**नोट :** शोधपत्र/शोधलेख का प्रकृति के अनुसार सम्पादक मण्डल एवं समीक्षक समिति में अन्य विषय विशेषज्ञों का सहयोग लिया जा सकता है। शोधपत्र दो या दो से अधिक विशेषज्ञों की समीक्षा के अनन्तर ही प्रकाशित किया जाएगा।

## सम्पादकीय (Editorial)

संस्कृत भाषा विश्व की सर्व प्राचीनतम भाषा है। इस साहित्य में प्राच्यज्ञान-विज्ञान के भाण्डार समाहित हैं। जिसके कारण भारत प्राचीनकाल से ही अपने ज्ञान गौरव के लिए विख्यात है। इसमें वेद, वेदाङ्ग, उपनिषद्, पुराण, रामायण, महाभारत के साथ-साथ काव्य, साहित्य, कथा, अलङ्कार, छन्द-कोश, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, वास्तुशास्त्र, कामशास्त्र, संगीतशास्त्र, आयुर्वेद व्याकरण, ज्योतिष, अध्यात्म, संस्कृति, दर्शन, आयुर्वेद, योग, खगोलशास्त्र, गणित, भाषाविज्ञान, शल्य चिकित्सा, रसायन विज्ञान, संगीत, कला आदि के क्षेत्र में भारतीयों की अबाध प्रगति रही है। राष्ट्र की सांस्कृतिक निधि हमारे मनीषियों द्वारा निर्मित पारम्परिक विद्याओं एवं कलाओं में निहित है।

वेद और भारतीय संस्कृति में विश्व-कल्याण तथा विश्व-बन्धुत्व की भावना का वर्णन मिलता है। भारतीय संस्कृति मानव कल्याण और विश्व कल्याण की यही भावना इसे सर्वश्रेष्ठ बनाती है -

अयं परो वेति गणना लघुचेतसाम्।  
उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥  
सर्वे भवन्ति सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामया।  
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

महाभारत में कहा गया है कि सुसंस्कृत व्यक्ति को ऐसा कुछ नहीं करना चाहिए जिसे वह स्वयं सहन नहीं कर सकता - 'आत्मनः प्रातिकूलानि परेषां न समाचरेत्।' मनुष्य को मानव कल्याण के लिए कार्य करना चाहिए।

भाषा और शास्त्रों का गहन दर्शन संस्कृत भाषा के माध्यम से हम सभी तक अनवरत् रूप से पहुँचा है और निश्चय ही संस्कृत के वैभव को वर्तमान समाज से जोड़ने और भावी समाज के लिए आदर्श प्रस्तुत करने हेतु विविध शोधाभिवृत्तियों व अनुसंधान की परम आवश्यकता है। जब संस्कृत के विशालतम ग्रंथ महाभारत के माध्यम से महर्षि वेदव्यास उद्घोषणा करते हैं - 'यदिहास्ति तदन्यत्र, यत्रेहास्ति न तत् क्वचित्' तो उनके मूल में मात्र महाभारत नहीं अपितु उसे अनुप्राणित करने वाला संस्कृतमय सम्पूर्ण ज्ञान-वैभव रहा होगा। इन्हीं संस्कृतशास्त्रों की उपासना एवं अनुसंधान को अपने अभिनव कौशल से सार्थकता की ओर बढ़ाते आप सभी विद्वज्जन का परिश्रमसाध्य आनन्ददायी प्रतीक है यह 'शोध-नवनीत' नामक अन्ताराष्ट्रिय शोधपत्रिका।

'शोध नवनीत' अन्ताराष्ट्रिया षाण्मासिकी शोधपत्रिका का यह १७वाँ अंक (जुलाई-दिसम्बर

२०२१) है। जिसमें मुख्यतः प्राच्यज्ञान से सम्बन्धित संस्कृत भाषा एवं मानविकी के चयनित शोधपत्रों का संकलन किया गया है। यह अंक संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी में लिखित लेखों के माध्यम से यह शोध के नवीन आयाम एवं आधुनिक सामाजिक पक्षों का प्राच्य भारतीय ज्ञान और मानविकी से सम्बद्ध संस्कृत गवेषकों के मौलिक आलेखों को आप सभी के हृदय तक पहुँचाने वाला होगा, यही हम सभी की कामना है। 'शोध नवनीत' के अबाध गति से हो रहे प्रकाशन के लिए स्तुति प्राच्यविद्या समिति की ओर से सभी गवेषकों का साधुवाद के पात्र हैं जिनके सतत् प्रयास से यह विगत नव वर्षों से प्रवाहमान है। प्रकाशन मण्डल यह आशा करता है कि नूतन शोधालेख पाठकों, समिति के लक्ष्यों और समाज में संस्कृत भाषा के क्षेत्र में हो रहे अनुसन्धानों को पल्लवित एवं पुष्पित करेंगे। इसी क्रम में पत्रिका के समस्त सदस्यों एवं पदाधिकारियों का हृदय के अंतस्तल से हार्दिक आभार एवं धन्यवाद; क्योंकि उन्हीं के मार्गदर्शन एवं सुझावों के माध्यम से इस पत्रिका का प्रकाशन निरन्तर सम्भव हो रहा है।

हम आशा करते हैं कि आपके स्नेह एवं मार्गदर्शन से यह 'शोध नवनीत' शोध पत्रिका अनुसंधानात्मक उत्कृष्ट प्रयासों की अप्रतिम धारा को अनवरत् रूप से प्रवाहित करती रहेगी।

॥ पाठयेम संस्कृतं, जगति सर्वमानवान्, प्रापयेम भारतं, सपदि परमवैभवम् ॥

प्रधान सम्पादक / सम्पादक

## विषयानुक्रमणिका (CONTENTS)

- भूतकालस्यावधारणा लिट्लकारश्च : पाणिनिव्याकरणस्य विशेष सन्दर्भे 01  
संजयमठपालः डॉ. धनञ्जयकुमार आचार्यः
- पाणिनीये संज्ञाशब्दप्रयोगवैचित्र्यम् 09  
डॉ. गिरिधारी पण्डा
- उपपदविभक्त्यर्थविमर्शः 14  
अभिजित् घोषः (Avijit Ghosh)
- वेदे तक्मा यक्ष्मा च 27  
मधुमिता गराइ
- भारतीयदर्शनेषु अहिंसा 34  
विनय कुमार
- नीतिशतकम् - अध्ययनमेकम् 41  
डॉ. गुंजन गर्ग
- रीतेरभिनवत्त्वम् 53  
शर्मिष्ठा वन्दोपाध्याय
- काव्यप्रकाशे लोचनटीकायाः प्रभावः 58  
राहुलमण्डलः
- आश्वलायनगृह्यसूत्रे विवाहविमर्शः 67  
मामणि मण्डलः
- विवाहसंस्कारेषु कन्यादानमेकं सम्बन्धस्थापनम् 72  
सरस्वती अधिकारी
- वैदिकवाङ्मये सृष्टिविज्ञानम् 82  
डॉ. आभा द्विवेदी

● कालिदाससाहित्यस्य वैश्विकी सार्वकालिकता डॉ. एम. किषन्	86
● पदार्थतत्त्वनिर्वचनम् गीताञ्जलि देइ	93
● राजेन्द्रलालमित्रस्य शिल्पिकदर्शनग्रन्थे वस्त्रविमर्शः तन्मय-अधिकारी	99
● प्राचीनकृषिविज्ञानम् डॉ. प्रमोद कुमार मिश्र	104
● संस्कृतसाहित्ये दक्षताविकासप्रशिक्षणोपयोगित्वम् डॉ. रीता पाल	111
● Music, Sound and beyond of these-a discourse based on The Gita Dr. Sebika Nag	117
● The great tradition of Hospitality in the Rāmāyaṇa era Suparna Mondal	124
● The Socio-Political World of Ray : Studying <i>Hirak Rajar Deshe</i> beyond the Text and within the Text Swagata Chatterjee	130
● Importance of The <i>Sannyāsopaniṣad</i> Sangeeta Mandal	135
● आचार्यरामानन्द और उनकी शिष्य-परम्परा की सामाजिक समरसतापरक दृष्टि : एक समीक्षा कान्ता फुलवरिया, डॉ. आशुतोष पारीक	142
● जैनदर्शन में प्रामाण्यवाद जया सिंह	148
● राज्य की उत्पत्ति: भारतीय दर्शन के परिप्रेक्ष्य में डॉ. विश्वामित्र वैष्णव	153
● प्राचीन भारत में आभूषण परम्परा का विकास अंकिता मीना	160

- प्राचीन राजस्थान में मृण्मूर्ति कला का अध्ययन 169  
(प्रारम्भ से ६वीं शताब्दी ई. तक)  
*जयप्रकाश कुमावत*
- कवि गङ्गाधरमेहेर प्रणीत 'तपस्विनी' महाकाव्य का हरेकृष्णमेहेर-कृत 175  
संस्कृतानुवाद : एक समीक्षण  
*डॉ. बुधिराम मिश्र:*
- हिन्दी पत्रकारिता : मिशन से प्रोफेशन 184  
*दीपक कुमार, डॉ. अमित कुमार मिश्र*
- स्त्री विरुद्ध अपराध : देवी अस्मिता का खंडन के संदर्भ में 191  
'दयानन्द दिग्विजयम्' महाकाव्य में नारी विमर्श एक नैतिक मूल्य  
*प्रवीण शर्मा*
- ईशोपनिषदि श्रीबलदेवभाष्यभास्करोदयेन पञ्चमुख्यतत्वानामनुसन्धानम् 195  
*Subrata Sarkar*

## भूतकालस्यावधारणा लिट्लकारश्च : पाणिनिव्याकरणस्य विशेष सन्दर्भे

संजयमठपालः\* डॉ. धनञ्जयकुमारआचार्यः\*\*

( कालः सर्वव्यवहारहेतुः। स च त्रिविधः भूतभविष्यद्वर्तमानात्मकः। लेखेऽस्मिन् कालत्रयस्य सामान्यपरिचयपूर्वकं पाणिनीयव्याकरणानुसारं भूतकालस्य तदङ्गभूतस्य लिट्लकारस्य च स्वरूपादयः विवेच्यन्ते। पाणिनेः तदनुवर्तिनाञ्चान्येषामप्याचार्याणां मतान्यत्र प्रस्तूयन्ते। )

चराचरात्मकेऽस्मिन् जगति सर्वविधप्राणिषु मानवस्य वैशिष्ट्यं सर्वसिद्धं प्रसिद्धं चाऽस्ति। तत्र प्रमुखं कारणं अस्ति यत् मानवः स्वकीयान्भावान् सम्प्रेषयितुं परान् वा ग्रहीतुं सार्थकशब्दसमूहरूपायाः भाषायाः प्रयोगे समर्थो विद्यते। अनया भाषया विना सकलोऽयं लोकः तमोपूर्णः भवेदित्युक्तं काव्यादर्शे आचार्येण दण्डिना -

इदमन्धःन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।  
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।।<sup>१</sup>

भाषायाः स्वरूपं सर्वत्र नैकरूपं भवति। नैकरूपता चैषा भाषायाः देशविशेषं कालविशेषञ्चानुसृत्य वर्तते। 'क्रोशेन जलं परिवर्त्यते चतुर्भिश्च तैर्वाणी'<sup>२</sup> इत्यनया लोकभाषाप्रथितया लोकोक्त्यापि सिद्धान्तोऽयमेव परिपुष्टिमेवाप्नोति। इत्थमेव कालाद्यनुसृत्यापि भाषायाः बहुविधत्वं नितरामेव स्पष्टं दृश्यते। अत एव तस्यामशुद्धीनामपभ्रंशानाञ्च समावेशो भवति। एतस्माद्धेतोः भाषां परिशोधयितुं व्याकरणस्य आवश्यकता वरीवर्ति। व्याकरणस्यास्य महत्त्वं व्याकरणशब्दस्यानया परिभाषयापि स्पष्टतरं भवति- 'व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते असाधुशब्देभ्यो विविच्य साधुशब्दा अनेन इति व्याकरणम्।' संस्कृतभाषां परिशोधयितुमनेके आचार्याः विविधान् व्याकरणग्रन्थान् व्यरचयन्। कतिपयोद्धरणैः स्पष्टं प्रतीयते यत् संस्कृतभाषायाः व्याकरणं संस्कृतभाषेव प्राचीनतमं विद्यते -

नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।  
बहु व्याहरतानेन न किञ्चिदपभाषितम्।।<sup>३</sup>  
सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते।  
तन्मूलतो व्याकरणं व्याकरोतीति तत्तथा।।<sup>४</sup>

निरुक्तेऽपि प्राचीनवैयाकरणानां मतानि 'न सर्वाणि ( नामानि आख्यातजानि ) इति गार्ग्यः वैयाकरणानां चैके' ( निरुक्तं ) व्याकरणस्य कात्स्न्यम्<sup>५</sup> चेत्यादिभिर्वचनैः यास्काचार्येण उद्धृतानि।

\* शोधच्छात्रः, संस्कृतविभागः, दिल्लीविश्वविद्यालयः, नवदेहली

\* सहायकाचार्यः, संस्कृतविभागः, दिल्लीविश्वविद्यालयः, नवदेहली

व्याकरणशास्त्रस्य प्राचीनत्वविषये महाभाष्येऽपि निगदितं यत्- 'पुराकल्पे एतदासीत्- संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते।'<sup>8</sup> एतदतिरिच्यान्यैरपि विभिन्नैः प्रमाणैः शास्त्रस्यास्य प्राचीनता परिज्ञाता भवति। पाणिनिव्याकरणे न केवलं लौकिकमपितु वैदिकशब्दानामप्यान्वाख्यानं लाघवेन स्पष्टतया च प्राप्यते। इदमेव वैशिष्ट्यं ग्रन्थमेतं सर्वप्रधानं विशिष्टञ्च विदधाति। उक्तञ्च भाष्यकारेण महाभाष्ये-

शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्।

केषां शब्दानां? वैदिकानां लौकिकानां च।<sup>9</sup>

शब्दानामन्वाख्यानमिदं प्रकृति-प्रत्ययविभागपूर्वकं सम्पद्यते। धातवः प्रायः सर्वेषामपि शब्दानां प्रकृतिरूपेण निश्चिताः। प्रकृतिप्रत्यययोः कल्पनां विधाय तेष्वर्थेषु शब्दाः साधव असाधवो वेति विवेच्यन्ते। प्रकृति-प्रत्यय-विभागोऽयं सर्वथा कल्पनाश्रित इति -

उपायः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।

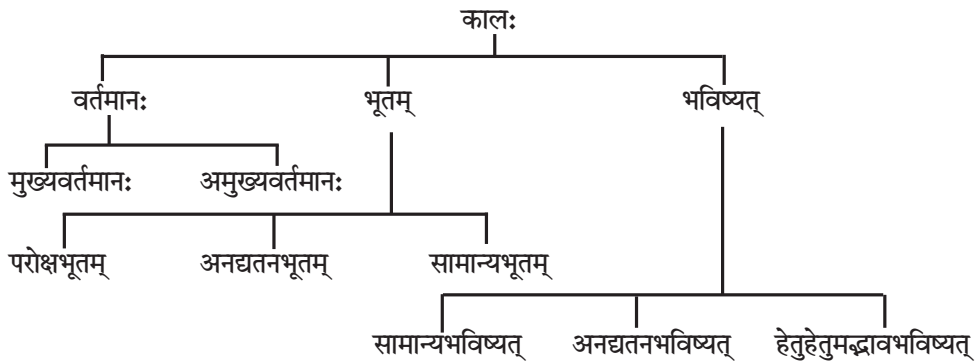
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते।<sup>4</sup>

महर्षिपाणिनेः प्रागपि अनेके व्याकरणग्रन्थाः रचिताः प्रचलिताश्चासन्। यथोक्तमस्मिन् श्लोके -

ऐन्द्र चान्द्रं काशकृत्स्नं कौमारं शाकटायनम्।

सारस्वतं चापिशलं शाकलं पाणिनीयकम्।<sup>5</sup>

एषु नवविधव्याकरणेषु महर्षिणा पाणिनिना विरचितं व्याकरणं सर्वप्रथितमस्ति। महर्षिपाणिनिः 'अष्टाध्यायी' इत्याख्यं सूत्रात्मकं ग्रन्थं रचितवान्। आचार्यकात्यायनः वार्तिकानि विरच्य, आचार्यपतञ्जलिः महाभाष्यञ्च विरच्य व्याकरणमिदं परिपूर्णं कृतवन्तौ। अतएव व्याकरणमिदं 'त्रिमुनि व्याकरणम्।' इत्यभिधानेनाभिधीयते। त्रिमुनिव्याकरणमिदं प्रक्रियात्मकं परिष्कारात्मकं दर्शनात्मकञ्चेतिभेदेन त्रिप्रकारम् आख्यायते। प्रक्रियात्मके भेदे काशिका वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी प्रक्रियाकौमुदी चेत्यादयो वृत्तिग्रन्थाः, परिष्कारात्मके भेदे प्रौढमनोरमान्यासशब्दरत्नादयो ग्रन्थाः, दर्शनात्मके भेदे मञ्जूषाभूषणसार-वाक्यपदीयञ्चेत्यादयः ग्रन्थाः परिगण्यन्ते। महाभाष्यञ्च एतेषां सर्वेषां ग्रन्थानामाकरग्रन्थरूपेण प्रथितः। आचार्यपाणिनिना विरचितः 'अष्टाध्यायी' इत्याख्यः ग्रन्थः अष्टसु अध्यायेषु विभक्तः। येषु व्याकरणसम्बद्धानां विविधविषयाणां निरूपणं कृतमस्ति। अस्य ग्रन्थस्य तृतीये अध्याये सकर्मकाणामकर्मकाणाञ्च उभयविधधातूनां तैश्च दशगणीयधातुभिः वर्तमानभूतभविष्यच्चेति त्रिषु कालेषु दशसु लकारेषु तत्स्थानेषु च विहितानां तिबादीनामष्टादशप्रत्ययानां तथा कृत्प्रत्ययानाञ्चापि विधानं विहितम्। महर्षिणा पाणिनिना भूतभविष्यद्वर्तमानभेदेन कालः त्रिधा विभक्तः। येषु भूतभविष्यत्कालस्य चावान्तरभेदा अपि परिगणिताः।



कालः	लकारः	लकारविधायकसूत्रम्
वर्तमानकालः	लट्	वर्तमाने लट्
परोक्षभूतकालः	लिट्	परोक्षे लिट्
अनद्यतनभूतकालः	लङ्	अनद्यतने लङ्
सामान्यभूतकालः	लुङ्	लुङ्
सामान्यभविष्यत् कालः	लृट्	लृट् शेषे च
अनद्यतनभविष्यत् कालः	लुट्	अनद्यतने लुट्
हेतुहेतुमद्भावभविष्यत्कालः	लृङ्	लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ

मन्ये पाणिनिव्याकरणात् पूर्वं विद्यमानेष्वन्येषु व्याकरणग्रन्थेषु वर्तमानपरोक्षभूतादीनाञ्च कालानां विविधाः परिभाषाः आचार्यैः वैयाकरणैः प्रदत्ताः। अतएव तेषु ग्रन्थेषु कालपरिज्ञानमत्यन्तं जटिलं दुरूहञ्च सञ्जातम्। किञ्च महर्षिणा पाणिनिना एतासां परिभाषाणां दुरूहतामवगम्य ताः स्वग्रन्थे न समावेशिताः न च परोक्षादिशब्दाः स्वयमेव विवेचिता अपितु सर्वमिदं वक्तृशधीनं कृतम्। अर्थात् वक्ता यां क्रियां परोक्षभूतकालिकां मन्यते, सः तद्वाचकधातोः लिट्लकारसम्बद्धप्रत्ययान् योक्तुं शक्यते। इत्थं पाणिनिना स्वाध्येतारः कालविभागस्य दुरूहतया विनिर्मुक्ताः अत एव 'अकालकं पाणिनीयव्याकरणम्' इत्यपि प्रसिद्धम्। यद्यपि पाणिनीयायामष्टाध्याय्यां परोक्षादिशब्दाः न परिभाषिताः तथापि उत्तरवर्तिभिराचार्यैः स्वकीयेषु व्याख्याग्रन्थेष्वदृशानां शब्दानां विस्फोरणं कृतम्। तेषां सर्वेषामाश्रयेणात्र कालानां भूतभविष्यद्वर्तमानादीनां निरूपणादनन्तरं परोक्षभूते विहितस्य लिट्लकारस्य विवेचना प्रस्तूयते।

#### वर्तमानकालः

वर्तमानकालस्य परिभाषा प्रायः सर्वेषु वृत्तिग्रन्थेषु समानैव। वर्तमानकालं परिभाषयन् काशिकाकारः लिखति- 'प्रारब्धोऽपरिसमाप्तश्च वर्तमानः',<sup>१०</sup> अर्थात् यः प्रारब्धः न च समाप्तः सः वर्तमानः। काशिकाकारस्य परिभाषां विवृण्वन् न्यासकारो लिखति- 'प्रारब्धो यः साध्यितुं प्रस्तुतः न च समाप्तिमुपगतः सः वर्तमान इत्युच्यते।'<sup>११</sup> भट्टोजिदीक्षितेन कौमुद्यां वर्तमानस्य काऽपि परिभाषा नैव प्रदत्ता। महाभाष्यकारः वर्तमानं परिभाषयन् कथयति- 'भूतभविष्यतोः प्रतिद्वन्द्वि वर्तमानम्।'<sup>१२</sup> अस्याः परिभाषायाः समर्थनं बालमनोरमाकारेणापि कृतम्। परमलघुमञ्जूषायां वर्तमानं परिभाषयन् नागेशभट्टो भणति- 'प्रारब्धापरिसमाप्तक्रियोपलक्षितत्वं वर्तमानत्वम्।'<sup>१३</sup> वर्तमानकाले विद्यमानक्रियायाः वाचकधातुना लट्लकारस्य विधानं 'वर्तमाने लट्'<sup>१४</sup> सूत्रमिदं करोति।

#### सामान्यभविष्यत्कालः

अनद्यतनादिभिः विशेषणैः रहितो भविष्यत्कालो सामान्यभविष्यत् भवति। कालेऽस्मिन् 'लृट् शेषे च'<sup>१५</sup> सूत्रेणानेन लृट्लकारो विधीयते। सूत्रेऽस्मिन् 'च' इत्यनेन क्रियार्थायाः क्रियाया उपपदे तथा 'शेषे' इति पदेन क्रियार्थायाः क्रियाया अनुपपदे उभयोः स्थित्योः लृट्लकारो विधीयते। यथा- करिष्यामीति व्रजति, हरिष्यामीति व्रजति।

#### अनद्यतनभविष्यत्कालः

अनद्यतने भविष्यदर्थे धातोः लुट्लकारो भवति। अद्यतनस्याभाव एवानद्यतनः। अनद्यतनशब्दसन्दर्भे



विग्रहपूर्वकस्य नञ्समासस्य प्रयोगस्यास्य अर्थावगतये पूर्वमद्यतनशब्दस्यार्थपरिज्ञानं नितान्तमावश्यकम्। तच्चैवं- व्यतीतायाः रात्रेरुत्तरार्धभागेन सहिता आगामिन्याः रात्रेः पूर्वार्धभागम् अद्यतनमभिधीयते। काशिकाकारानुसारेण अनद्यतनशब्दे बहुव्रीहिसमासोऽस्ति अर्थात् 'अविद्यमानमद्यतनं यस्य तदनद्यतनम्।' अतः काशिकाकारेण सूत्रार्थः क्रियते- 'अनद्यतने इति बहुव्रीहिनिर्देशः। अविद्यमानाद्यतनेभूतेऽर्थे वर्तमानाद्धातोः लङ्प्रत्ययो भवति।'<sup>१३५</sup> अत्र काशिकाकारस्य मतमिदं ध्यातव्यं यत् लोकप्रसिद्धा परोक्षा च या घटना तस्याः क्रियायाः दर्शनविषयेऽपि लङ्लकारस्यैव प्रयोगः स्यात्। 'परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुः दर्शनविषये लङ् वक्तव्यः।'<sup>१३६</sup> अस्य द्वे उदाहरणे काशिकाकारेण प्रस्तुते- अरुणद् यवनः साकेतम्। अरुणद् यवनो माध्यमिकामिति।

प्रकृतसूत्रस्य वृत्तौ दीक्षितवर्यः उपदिशति- अनद्यतनभूतेऽर्थे वर्तते यस्य वृत्तिः तस्माद्धातोः लङ्लकारो विधीयते। 'अनद्यतनभूतार्थवृत्तेर्धातोर्लङ् स्यात्',<sup>३७</sup> अस्याः वृत्तेः व्याख्यायां बालमनोरमाकारो लिखति यत् 'धातोः' 'भूते' च उभेऽपि पदेऽत्र अधिकृते वेदितव्ये। भूते इत्यस्य धात्वर्थे अन्वयो भवति। अनेनान्वयेन 'अनद्यतनभूतार्थवृत्तेर्धातोर्लङ् स्यात्' इत्यर्थः ज्ञायते।

सूत्राण्येतानि विहाय अन्यैरपि सूत्रैः लङ्लकारो विधीयते, यथा- 'स्मोत्तरे लङ् च।'<sup>१३८</sup> सूत्रमिदं स्मोत्तरपद-माङ् इत्यस्योपपदे सति लङ्लुङोः विधानं करोति। यथा- मा स्म करोत्, मा स्म कार्षीत् इति। अत्र 'न माङ्-योगे'<sup>१३९</sup> इति सूत्रेणाडागमनिषेधः। तथैव 'ह्रश्चतोर्लङ् च'<sup>१४०</sup> इति सूत्रेण 'ह' 'शश्चत्' इत्येतयोरुपपदे सति भूतानद्यतनपरोक्षे लङ्-लिटौ प्रयुज्येते। यथा- इति ह अकरोत्, इति ह चकार। शश्चदकरोत्, शश्चच्चकार इति।

अस्मिन्नेव प्रसङ्गे 'प्रश्ने चासन्नकाले'<sup>१४१</sup> इति सूत्रेणापि लङ्-लिटोः लकारयोः विधानं क्रियते, आसन्नकाले प्रश्ने पृष्ठे सति। यथा- अगच्छत्देवदत्तः? जगाम देवदत्तः? तथैव 'पुरि लुङ् चास्मे'<sup>१४२</sup> इत्यादीनि अनेकानि सूत्राणि लुङ्लकारस्य विधानविषये व्याख्यातानि येषां वर्णनमत्र गौरवभयान्न क्रियते।

#### परोक्षभूतकालः लिट्लकारश्च

भूतकालस्य त्रिषु भेदेषु परोक्षभूतविषये लिट्लकारः प्रयुज्यते। 'परोक्षे लिट्'<sup>१४३</sup> इति सूत्रे 'अनद्यतने लङ्'<sup>१४४</sup> इति सूत्रेण अनद्यतने इति पदस्य अनुवृत्तौ सत्यां अनद्यतने परोक्षेऽर्थे 'परोक्षे लिट्' सूत्रेणानेन लिट्लकारो विधीयते। 'भूतानद्यतनपरोक्षेऽर्थे वर्तमानाद्धातोः लिट् स्यात्'<sup>१४५</sup> इति। अत्रानद्यतनपरोक्षपदयोः स्पष्टता आवश्यकीति। काशिकाकार अनद्यतनपदे 'अविद्यमानमद्यतनं यस्य तद् अनद्यतनम्' इति बहुव्रीहिसमासं करोति। अद्यतनमिति किमित्यत्र तत्त्वबोधिनीकारस्य मतं यद्- 'व्यतीतायाः रात्रेरुत्तरार्द्धेन सहितम् आगामिन्याः रात्रेः पूर्वार्द्धमद्यतनम्', तद्व्यतिरिक्तं कालमनद्यतनमिति पदेनोच्यते। अद्यतनस्येयमेव परिभाषा 'लुङ्' इत्यस्य सूत्रस्य भाष्ये कैयटेनापि वर्णिता।

परोक्षशब्दस्य परिभाषाज्ञानात् पूर्वं व्युत्पत्तिविषये ज्ञानमावश्यकम्। 'अक्षणः परमिति परोक्षम्' इत्यत्र अव्ययीभावसमासो भवति। अत्र 'प्रतिपरसमनुभ्योऽक्षणः'<sup>१४६</sup> इत्यनेन गणसूत्रेण टच् प्रत्ययो विहितः। इत्येवं परोक्षपदस्यार्थं अप्रत्यक्षं ज्ञानमिति। ज्ञानं यन्न इन्द्रियजन्यं तद् परोक्षमिति कथ्यते। परोक्षपदस्य व्याख्याप्रसङ्गे बालमनोरमाकारो महाभाष्ये उपस्थापितान् पक्षान् दर्शयन् सिद्धान्तपक्षं विवृणोति। महाभाष्ये शतसहस्राब्दपूर्विकां घटनां पूर्वपक्षरूपेण स्वीकरोति परं सिद्धान्तपक्षे भाष्यकारो भणति यत् किमपि प्रयोक्तुरिन्द्रियैरगोचरं तद् परोक्षमिति। 'तत्र प्रयोक्तुरिन्द्रियागोचरत्वं परोक्षत्वमित्येव

सर्वसम्मतमित्यलम्',<sup>४९</sup> ईदृशमेव नागेश्वर्यः परमलघुमञ्जूषायां परोक्षं परिभाषयन् लिखति- 'परोक्षत्वं च साक्षात्कृतमित्येतादृशविषयताशालिज्ञानाविषयत्वम्।'<sup>५०</sup> अत्र ध्यातव्यमिदं यद्यथा अनद्यतनमिति पदं धात्वर्थ-क्रियायाः विशेषणं तथैव परोक्षमिति पदं न तु क्रियायाः विशेषणमपितु तद् कारकविशेषणं भवति। परोक्षमिति पदं कथन्न क्रियाविशेषणमिति शङ्कायां विशेषणपदस्य ज्ञानमावश्यकम्। विशेषणं तदेव सार्थकं यत् सम्भवव्यभिचरिताभ्यामुभाभ्यां संयुतम्- 'सम्भवव्यभिचाराभ्यां स्याद्विशेषणमर्थवत्' इति। क्रिया सदैव परोक्षैव भवति न तु प्रत्यक्षा। अतः परोक्षस्य अव्यभिचरितत्वात् सः न तु क्रियायाः विशेषणमपितु क्रियायामन्वितस्य कारकस्य विशेषणं भवति।

प्रकृतसूत्रे शङ्कां कुर्वन् काशिकाकारः लिखति- प्रयोक्त्रे स्वक्रिया प्रत्यक्षा एव कथं तर्हि लिट्लकारे उत्तमपुरुषप्रयोगः भविष्यति? शङ्कामिमां निवारयन् च सः लिखति यत् साध्यक्रिया यदा चित्तविक्षेपात् स्वयमेव नोपपद्यते तदा सा परोक्षा इति। यथा सुप्तोऽहं किल विललाप इत्यत्र विलाप-क्रियाकाले चित्तविक्षेपात् क्रिया परोक्षा सञ्जाता। उत्तमविषयेऽपि चित्तव्याक्षेपात्परोक्षता सम्भवत्येव, तद्यथा- 'सुप्तोऽहं किल विललाप'<sup>५१</sup> इति।

इत्येवमन्यैरपि सूत्रैः लिट्लकारो विधीयते। तेषु कानिचित् सूत्राणि 'परोक्षे लिट्' इत्यस्य अपवादस्वरूपाणि येषां निरूपणं लङ्लकारप्रसङ्गे कृतम्- 'ह्रशश्चतोलङ् च' 'प्रश्ने चासन्नकाले' इत्यादीनि।

#### उपसंहारः

इत्थं पाणिनीये व्याकरणे तदनुवर्तिव्याख्याग्रन्थेषु टीकाग्रन्थेषु च भूतकालविषयणी विस्तृता व्याख्या समुपलभ्यते। लिट्लकारविषयेऽप्यनेके विचाराः विविधाश्चावधारणाः वृत्तिग्रन्थेषु दर्शनग्रन्थेषु चोपलभ्यन्ते। येषां समासतः पर्यालोचनमत्र कर्तुं प्रयतितम्, सहैव लिट्लकारसम्बन्धिनां विभिन्नवैयाकरणानां मते शङ्कास्थलानामपि विवेचना संक्षेपेणात्र प्रस्तुता।

लकारविशेषविषयकेण ईदृशेनाध्ययनेन प्राचीनकालादद्यावधि सञ्जातानां भाषागतपरिवर्तनानां विकासक्रमस्य च विस्तृता व्याख्या समुपलभ्यते या च भाषाध्ययनाय तद्विकासपरम्परां परिज्ञातुञ्च आवश्यकीति।

#### सन्दर्भाः

१. काव्यादर्शः, १.४
२. लोकोक्तिः (कोस-कोस पर बदले पानी, चार कोस पर वाणी)।
३. वाल्मीकिरामायणम्, किष्किन्धाकाण्डम्, ३.२९
४. महाभारतम्, उद्योगपर्व, ४३.६१
५. निरुक्तम्, १.४, १.५
६. महाभाष्यम्, पस्पशाह्निकम्।
७. महाभाष्यम्, पस्पशाह्निकम्।
८. वाक्यपदीयम्, २.२३८
९. संस्कृतव्याकरणशास्त्रस्य इतिहासः, प्रथमो भागः, पं. युधिष्ठिरः मीमांसकः, पृष्ठ ७५
१०. काशिका, वर्तमाने लट्।
११. न्यासः, वर्तमाने लट्।
१२. महाभाष्यम्, वर्तमाने लट्।
१३. परमलघुमञ्जूषा, लकारार्थनिरूपणम्।

- |   |                                  |
|---|----------------------------------|
| १४. अष्टाध्यायी, ३.२.१२३                            | १५. अष्टाध्यायी, ३.३.१३          |
| १६. काशिका, अनद्यतने लुट्।                          | १७. न्यासः, अनद्यतने लुट्।       |
| १८. तत्त्वबोधिनी, अनद्यतने लुट्।                    | १९. अष्टाध्यायी, ३.३.१५          |
| २०. अष्टाध्यायी, ३.३.१३९                            | २१. काशिका, ३.३.१३९              |
| २२. काशिका, ३.३.१३९                                 | २३. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी- २२२९ |
| २४. बालमनोरमाटीका, लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ। |                                  |
| २५. अष्टाध्यायी, ३.२.११०                            | २६. काशिका, ३.२.११०              |
| २७. काशिका, ३.२.११० (वार्त्तिकम्)                   |                                  |
| २८. न्यासः, ३.२.११०                                 | २९. न्यासः, ३.२.११०              |
| ३०. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी- २२१८                    | ३१. अष्टाध्यायी, ३.३.१७५         |
| ३२. अष्टाध्यायी, ३.३.१७६                            | ३३. अष्टाध्यायी, ३.२.१२२         |
| ३४. अष्टाध्यायी, ३.२.१११                            | ३५. काशिका, ३.२.१११              |
| ३६. काशिका, ३.२.१११                                 | ३७. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी- २२०५ |
| ३८. अष्टाध्यायी, ३.३.१७६                            | ३९. अष्टाध्यायी, ६.४.७४          |
| ४०. अष्टाध्यायी, ३.२.११६                            | ४१. अष्टाध्यायी, ३.२.११७         |
| ४२. अष्टाध्यायी, ३.२.१२२                            | ४३. अष्टाध्यायी, ३.२.११५         |
| ४४. अष्टाध्यायी, ३.२.१११                            | ४५. काशिका, ३.२.११५              |
| ४६. गणसूत्रम्- १४८                                  | ४७. बालमनोरमा, परोक्षे लिट्।     |
| ४८. परमलघुमञ्जूषा, लकारार्थनिरूपणम्।                | ४९. काशिका, ३.२.११५              |

#### सन्दर्भग्रन्थसूची

- वेदवागीशः, सत्यानन्दः, पाणिनीयशब्दानुशासनम्, सत्यानन्दवेदवागीशः, सेक्टर-४०, नोएडा, संवत्-२०६०
- विद्यालंकारः, चन्द्रमणिः, निरुक्तभाष्यम् (उत्तरार्धम्), हरियाणासाहित्यसंस्थानम्, महाविद्यालयः गुरुकुल-झज्जरः, संवत्- २०६५
- शास्त्री, पं. रामनारायणदत्तः, (अनु.), श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणम् प्रथमोभागः, गीताप्रेस-गोरखपुरम्, संवत्- २०१७
- शर्मा, रामस्वरूपः, (अनुवादकः), महाभारतम् उद्योगपर्वः, सनातन-धर्म-प्रेस, मुरादाबादः, १९२८
- मिश्रः, आचार्यरामचन्द्रः, काव्यादर्शः, चौखम्बा-विद्याभवनम्, वाराणसी, १९९६
- त्रिपाठी, जयशंकरः लालः, मालवीयः, सुधाकरश्च काशिका 'न्यास-पदमञ्जरी भावबोधिनी' च सहिता, तारा-बुँक-एजेन्सी, वाराणसी, १९८३
- वेदालंकारः, डॉ. रघुवीरः, काशिका 'ज्योतिष्मती व्याख्या' सहिता, चौखम्बा ओरियन्टलिया, देहली, २००६
- त्रिपाठी, जयशंकरलालः, परमलघुमञ्जूषा, कृष्णदास-अकादमी, वाराणसी, १९८५

- मिश्रः, मधुसूदनप्रसादः, व्याकरणमहाभाष्यम्, चौखम्बा विद्याभवनम्, वाराणसी, २०१३
  - त्रिपाठी, भागीरथप्रसादः, वाक्यपदीयम्, निदेशकः, अनुसंधान-संस्थानम्, सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः, वाराणसी, १९८०
  - शर्मा, डॉ. शिवप्रसादः, वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी 'बालमनोरमा-तत्त्वबोधिनी' सहिता, चौखम्बा विद्याभवनम्, वाराणसी, २००८
  - ईश्वरचन्द्रः, सोमलेखाच वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, 'पुष्पाञ्जलिव्याख्या' सहिता, चौखम्बा-संस्कृत-प्रतिष्ठानम्, देहली, २०१०
  - मीमांसकः, पण्डित-युधिष्ठिरः, संस्कृतव्याकरणशास्त्रस्य इतिहासः, रामलाल-कपूर-ट्रस्ट, रेवली, सोनीपतम्, नवीनसंस्करणम्- २०१६
  - कुमारः, वीरेन्द्रः, संस्कृतव्याकरणे लकारार्थ-विवेचनम्, ईस्टर्न-बुक-लिंगर्स, देहली, १९९८
  - आप्टे, वामनः शिवरामः, संस्कृत-हिन्दी-कोशः, चौखम्बा विद्याभवनम्, वाराणसी, २०१२
-

## पाणिनीये संज्ञाशब्दप्रयोगवैचित्र्यम्

डॉ. गिरिधारी पण्डा\*

शोधसारः (Abstract) :

शब्दानुशासनं नाम व्याकरणम्, यत्र साधुशब्दानाम् असाधुशब्दानां च वैधानिकी विचारधारा प्रवर्तते। शब्दानुशासने व्याकरणे वा प्रतिपादितायामेतस्यां विचारधारायां यत् अलौकिकम् अनन्यम् अनुपमम् उपायं साधयति, स्वल्पीयसा आयासेन अल्पीयसा कालेन च याथार्थ्यं प्रतिपादयति। व्याकरणपरिभाषायां तत् 'सूत्रम्' इति पदेनाभिधीयते, येन माध्यमेन शब्दानुशासनं व्याकरणं वा पूर्णाङ्गं लभते। तत्र शब्दानुशासने अवलम्बितं सर्वं वैज्ञानिकं तत्त्वं सूत्रमाध्यमेनैव परिष्कृतं जायते। 'सूत्रम्' इति पदस्योपादनं सर्वथा लघ्वर्थं हि उद्देश्यम्। सूत्रे अल्पाक्षरेण समन्वितेन पदेन बहुविधस्य तात्पर्यस्य उपस्थापनं कर्तव्यं जायते इति सूत्रलक्षणात् तस्मात् प्रतिपाद्यते। एतस्मिन् विधौ सूत्रेषु कार्यानुसारं कार्यविधेः प्रतिपादानानुसारं च षड्विधप्रकारभेदव्यवस्था कल्पनीया विद्यते। संज्ञा-परिभाषा-विधि-नियम-अतिदेश-अधिकारश्चेति भावेन षड्विधेषु सूत्रप्रकारेषु संज्ञाशब्द अन्यतमः। व्याकरणशास्त्रे एषः संज्ञाशब्दः पारिभाषिकपदभावेन प्रथितः। पाणिनीयशास्त्रे त्रिविधानि संज्ञासूत्राणि भवन्ति। यथा अन्वर्थसंज्ञा, कृत्रिमसंज्ञा, परम्परागतसंज्ञा चेति। उक्ताः संज्ञाः लघुसंज्ञा, महासंज्ञा भेदेन पुनः द्विविधा। पुनश्च याः पारिभाषिक्यः संज्ञाः वर्तन्ते ताः त्रिधा विभज्यन्ते। शब्दसंज्ञा-अर्थसंज्ञा-धर्मसंज्ञा इति। अपि तु विभिन्नेषु अर्थेषु संज्ञाशब्दानां प्रयोगः पाणिनीयतन्त्रे दृश्यते, तत्र 'संज्ञायाम्' इति द्वादश सूत्राणि वर्तन्ते। एवमन्यत्रापि नानार्थेषु संज्ञाशब्दोपपन्नं पाणिनीयतन्त्रे दृश्यते। 'शामि धातोः संज्ञायाम्'<sup>१</sup> इत्यत्र संज्ञाशब्दः नाम परकः, 'दिक् संख्ये संज्ञायाम्'<sup>२</sup> इति सूत्रेण 'सप्तर्षि' इति वशिष्ठादि-ऋषीणामाख्यानम्। एवं भावेन पाणिनीयव्याकरणे संज्ञापदमधिकृत्य बहुविधं तथ्यमाकलितं विद्यते। अत एव तथ्यस्यास्य वैविध्यमादाय तत्र संज्ञाशब्दानां प्रयोगे यत्त्वैचित्र्यमुपपादितं, तत्शास्त्रानुमोदितमार्गेणात्र संक्षेपेन प्रतिपादितम्।

संज्ञाशब्दसंविज्ञानम्

सूत्रकारभावेन पाणिनिना सूत्रोपदार्थितेन मार्गेण व्याकरणं उपनिबद्धम्। अष्टाध्याय्याः अनुशीलनात् प्रत्येतव्यं जायते यत् २२७ संख्यकाः पारिभाषिकशब्दाः प्रथिताः सन्तः सूत्राशयं नियमयन्ति। कतिपयानि पारिभाषिकपदानि सन्ति येषां अक्षरानुकरणं विधाय आचार्यैः स्वकृतौ संस्थापितम्। परवर्तिनि काले तद्विज्ञानविदः अपाणिनीय-संज्ञा-भावेन तेषां व्यवहारविज्ञानं अधिगम्य मतम् अवयवीकृतवन्तः। एवं च पाणिनीयसंज्ञाभावेन केषाञ्चित् सम्बन्धविधानं आविष्कृतवन्तः। पारिभाषिकशब्दानामर्थबोधनाय संज्ञासूत्राणि पाणिनिना विरचितानि। संज्ञासज्ञीपुरःसरं तद्विवेकः साधितः, यस्याधारेण संज्ञासंज्ञीभावपुरःसरं

\* सहाचार्यः, स्नातकोत्तरसंस्कृतविभागः, संयोजकः, मेदिनीपुरमहाविद्यालयशोधकेन्द्रम् (कलासंकायः)  
मेदिनीपुरमहाविद्यालयः (स्वशासितः), पश्चिम-मेदिनीपुरम्, पश्चिमबङ्गः

संज्ञासूत्रमिति तल्लक्षणं प्रथितं जायते। यथा वृद्धिरादैजित्यत्र वृद्धिरिति संज्ञापदम्, आदैच् इति संज्ञीपदम्। संज्ञीपदान्येव संज्ञायाः अर्थबोधकानीति रहस्यम्।

### संज्ञाशब्दप्रयोगविचारः

पाणिनीये संज्ञाशब्दस्य प्रयोगः पारिभाषिकपदत्वेन साधितः। महाभाष्यानुसारेण संज्ञा द्विविधा। कृत्रिमा अकृत्रिमा च। महाभाष्यकृता साधितम्- 'किं जायेताः कृत्रिमा टि घू भ्वादिः।' पुनश्चोक्तमपि आचार्येण पतञ्जलिना यत् 'इह हि व्याकरणे ये एते लोके प्रतीतपदार्थकाः शब्दाः तैः निर्देशः क्रियते।' 'कत्तुरीप्सिततमं कर्म'<sup>३</sup> कृत्रिमसंज्ञा भवति। सूत्राणां परिगणनावसरे अष्टाध्याय्यां संज्ञासूत्राणि सन्ति।

अनुशीलनेन प्रतिभातं जायते यत् पाणिनीयशास्त्रे त्रिविधानि संज्ञासूत्राणि भवन्ति। यथा अन्वर्थसंज्ञा, कृत्रिमसंज्ञा, परम्परागतसंज्ञा चेति।

क. अन्वर्थसंज्ञा- यथा आचार्यपाणिनिः अन्वर्थमादाय केषांचित् संज्ञानां नामकरणं कृतवान्- सर्वनाम, अव्यय, सम्प्रदान इत्यादि।

ख. कृत्रिम संज्ञा- अष्टाध्याय्यां कृत्रिमसंज्ञाः अधिकतया प्रयुज्यन्ते यथा- टि, घ, घि, घु, भ इत्यादयः।

ग. परम्परागतसंज्ञा- अष्टाध्याय्यां परम्परागतसंज्ञायाः प्रयोगः विशेषरूपेण दृश्यते यथा- प्रातिपदिक-सर्वधातुक-आर्धधातुक-अङ्ग-इत्यादयः। एवं पूर्वाचार्याणामपि संज्ञाः स्वग्रन्थे ग्रहीताः दृश्यन्ते। यथा- आडोनाऽस्त्रियाम्<sup>४</sup> इत्यत्र आङ् इति टा संज्ञा प्राचाम्। एवं प्रथमा, द्वितीया, इत्यादयः।

उक्ताः संज्ञाः लघुसंज्ञा, महासंज्ञा भेदेन पुनः द्विविधा। घ, घि, घु, भ, टि इत् लोप ह्रस्व दीर्घ प्लुतमादायः लघुसंज्ञकाः भवन्ति। अनुनासिक, सवर्णग्राहक, सवर्ण, प्रातिपदिक, सर्वनाम, कर्मप्रवचनीयाः, महासंज्ञाः भवन्ति। एताः पुनः पूर्वस्य संज्ञा, परस्य संज्ञा केवलस्य उभयोश्चेति चतुर्धा भवन्ति अङ्गः, भ, पद, सर्वनामस्थान अभ्यास प्रभृतयः पूर्वस्य संज्ञार्थकाः भवन्ति।

सार्वधातुकार्धधातुकाप्रेडितादयः परस्य संज्ञा भवन्ति। गुण-वृद्धि- ह्रस्वदीर्घाप्लुतादयः केवलानां संज्ञाः भवन्ति तथा- गति-उपसर्ग-समाहारस्वरितः सुप्तिङन्तं पदं -सवर्ण- प्रभृतयः उभयोः संज्ञा भवति।

याः पारिभाषिक्यः संज्ञाः वर्तन्ते ताः त्रिधा विभज्यन्ते। शब्दसंज्ञा-अर्थसंज्ञा-धर्मसंज्ञा इति। वृद्धि-गुण-संयोग-सवर्ण-अनुनासिक-टि-घु इत्यादयः शब्दसंज्ञायां आविर्भवन्ति। विभाषा-लोप-लुक्-प्रभृतयः अर्थसंज्ञायां प्रवर्तन्ते। उदात्त-अनुदात्त-स्वरित- इति धर्मसंज्ञाकोटौ परिगणनीयं जायते।

निष्कर्षतया प्रतिभातव्यं विद्यते यत् संज्ञासूत्रे संज्ञासंज्ञीनिर्देशार्थं नास्ति कोऽपि विशेष नियमः। आचार्यस्य आचारात् संज्ञासिद्धि<sup>५</sup> इति निष्कर्षः।

### संज्ञाशब्दवैविध्यम्

विभिन्नेषु अर्थेषु संज्ञाशब्दानामुपपन्नं पाणिनीयतन्त्रे दृश्यते तत्र 'संज्ञायाम्' इति द्वादश सूत्राणि वर्तन्ते यथा -

१. संज्ञायाम्<sup>६</sup>- अत्र वाक्ये संज्ञानवगमात् नित्यसमासोऽयम्। सप्तम्यन्तात् संज्ञायाम् सुपासमासः, अरण्ये तिलकाः। वने किंशुकाः, वने विल्वकाः इति।

२. संज्ञायाम्<sup>७</sup>- कद्रुक्मण्डल्वोः संज्ञायां स्त्रियाम् ड कद्रूः नागानां समूहः विनतायाः पुत्री वा इति

संज्ञा विशेषः। कमण्डलूः कस्यचित् मृगस्य संज्ञाविशेषः।

३. संज्ञायाम्<sup>८</sup>- उपज्ञातः कृतेग्रन्थे इति सूत्रयोः अर्थविषयकः। पाणिनिनोपज्ञातः पाणिनीयं वररुचिना कृतः ग्रन्थः वाररुचः। तत्र तेन इत्येव अग्रन्यार्थमिदं संज्ञायां मक्षिकाभिः कृतं माक्षिकं मधुः।

४. संज्ञायाम्<sup>९</sup>- मतोर्मस्यवः संज्ञायाम् अहीवती मुनीवती।

५. संज्ञायाम्<sup>१०</sup>- अधिकरणे बन्धः<sup>११</sup> इति अधिकरणे उपपदे वन्ध् धातोः यण्णमुल् विधीयते तत् अनधिकरणार्थम् संज्ञायां वर्त्तते। क्रोञ्चबन्धम् मयूरिकाबन्धम्, बन्ध विशेषाणां संज्ञा।

६. संज्ञायाम्<sup>१२</sup>- धातोर्ण्वल् स्यात् संज्ञायाम्। वरणपुष्प प्रवाहिका। वरणः वृक्षविशेषस्य संज्ञा अभ्यूषस्वादिका अभ्यूषपूरिका। अभ्यूष अपूपविशेषस्य संज्ञा। रोगाख्यायां ण्वुल् बहुलम्। इति बहुल भावस्य संज्ञायाम् नित्यं ण्वुल्।

७. संज्ञायाम्<sup>१३</sup>- संज्ञायाम् आक्रोशे गम्यमाने नजः परमोदात्तत्वम्। अदेवदत्तः आक्रोसे इदं प्रयुज्यते।

८. संज्ञायाम्<sup>१४</sup>- इवार्थेकन् स्यात्, समुदायश्चेत् संज्ञा गम्यते। अश्वसदृशः अश्वकः, अत्र सादृशार्थकः।

९. संज्ञायाम्<sup>१५</sup>- 'शिल्पिनि चाऽकृजः'<sup>१६</sup> इति शिल्पिवाचिनी समासे अण्णन्तेपरे पूर्वमाद्युदात्तम्। अचेदण् कृजः परो न भवति। संज्ञायान्तु अण्णन्ते परे अपि आद्युदात्तं न भवति। रथकारोनाम ब्रह्मनः, तन्तुवायो नाम कृमिः।

१०. संज्ञायाम्<sup>१७</sup>- ह्रस्व हेतुका या संज्ञा तथा गम्यमानायां कन् स्यात्- वशकः, वेणुकः इत्यादयः।

११. संज्ञायां कन्<sup>१८</sup>- 'पिष्टाच्च'<sup>१९</sup> (पा.सू.-४.३.१४६) सूत्र विहित विकारार्थक मयटः स्थाने कन् प्रत्ययः संज्ञायाम्। पिष्टस्य विकारविशेषः पिष्टकः। पूपोऽपूपो पिष्टकः स्यात् इति कोशात्।

१२. संज्ञायां कन्<sup>२०</sup>- कुत्सिते कन् स्यात् संज्ञायां गम्यमानायाम्। शूद्रकः राधकः।

एवमन्यत्रापि नानार्थेषु संज्ञाशब्दोपपन्नं पाणिनीयतन्त्रे दृश्यते। 'शामि धातोः संज्ञायाम्'<sup>२१</sup> इत्यत्र संज्ञा शब्दः नाम परकः, 'दिक् संख्ये संज्ञायाम्'<sup>२२</sup> इति सूत्रेण 'सप्तर्षि' इति वशिष्टादि ऋषीणामाख्यानम्।

'संज्ञायां ललाट कुक्कुटौ पश्यति'<sup>२३</sup> इति सूत्रे संज्ञायामिति अभिधेयायामित्यर्थस्य वाचकः। तेन लालाटिकः कौक्कुटिकः इति प्रयोगः।

विषयनियमानार्थकः संज्ञाशब्दः यथा 'उपाधिभ्यां त्कन्नासन्नारूढयोः'<sup>२४</sup> इति सूत्रे पर्वतस्य आसन्नमिति विषयनियमान एव त्यक्त्वा प्रत्ययो भवति। तदुक्तम् काशिकायाम्- संज्ञाधिकारात् अनियतविषयम् आसन्नारूढमुच्यते, पर्वतस्यासन्नपुपत्यका इति। अतएव संज्ञायामिति केवलं संज्ञार्थद्वौतने आचार्यैः सूत्रे उपपादितमिति विवेचनीयम्।

लौकिकार्थप्रतिपादकाः यथा 'गिरौछन्दसि' इति सूत्रेण निष्पन्नः गिरीश शब्दः लोके व्यवह्रियते। उक्तश्च दृश्यते- गिरीश- गिरौ छन्दसि इति टि लोपः। छन्दसि विषये प्रयोगस्य संज्ञावशात् भाषायामयं प्रयुज्यते। एवञ्च सज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः इत्यत्र संज्ञा शब्देन लौकिकार्थं प्रतिपादिकसंज्ञाया एव बोधः। एताः अशब्दसंज्ञकाः भवन्ति। शब्दशास्त्रकृत संज्ञाः लोके न प्रयुज्यन्ते। यथा लोके न तथा व्याकरणे। इति भाष्य वचनात्। अथ एव स्वरूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा इति सूत्रे शब्दस्य स्वं रूपमेव संज्ञित्वेन गृह्यते। तेन गोपयसीर्यत्, अग्नेर्दक्<sup>२५</sup> (पा. सू. ३.२.९१) इत्यादिषु तदर्थं बोधक संज्ञासु

प्रत्ययविधिर्नोपजायते। 'शब्दशास्त्रे या संज्ञा तां विना' इत्युच्यमाने घेर्दिति<sup>२६</sup> (पा. सू. ७.३.११९) इति सुत्रविहितगुणस्य घि - शब्दवत् घिसंज्ञकशब्दानामपि गुणः। एवम् आप्नघाः<sup>२७</sup> (पा. सू. ७.३.११२) इति सूत्रोक्त नदीशब्दवत् नदीसंज्ञकशब्दानामपि आडागमः भवति।

विधिवाक्यैः सह एकवाक्यतापन्नं भूत्वा संज्ञासूत्राणि प्रयुज्यन्ते। यथा 'वृद्धिरेचि'<sup>२८</sup> इति विधिसूत्रे वृद्धिसंज्ञायाः प्रयोजनम्। एवमाद्गुणः इति विधिसूत्रे गुणसंज्ञायाः प्रयोजनम्। नागेशोऽपि परिभाषेन्दुशेखरे 'कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्'<sup>२९</sup> यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम्<sup>३०</sup> इति परिभाषाद्वयमुपस्थापयति। तेन यत्र यत्र कार्यं तत्र संज्ञासूत्राणामुपस्थितिर्जायते। आदौ स्वदेशे वाक्यार्थवोधस्ततो विधिशास्त्रेण सहैकवाक्यतामापाद्य कार्यं साधयन्ति। एवमेव शास्त्रप्रक्रियानिर्वाहार्थं संज्ञाशब्दस्य वैविध्यमाश्रित्य संज्ञासूत्राणामुपयोगः शास्त्रेषु दृश्यते।

#### पादटीका:

- |                             |                             |
|-----------------------------|-----------------------------|
| १. पाणिनीयसूत्रम्, ३.२.१४   | २. पाणिनीयसूत्रम्, २.१.५०   |
| ३. पाणिनीयसूत्रम्, १.४.४९   | ४. पाणिनीयसूत्रम्, ७.३.१२०  |
| ५. महाभाष्यम्, १.१.१        | ६. पाणिनीयसूत्रम्, २.१.४४   |
| ७. पाणिनीयसूत्रम्, ४.१.७२   | ८. पाणिनीयसूत्रम्, ४.३.११७  |
| ९. पाणिनीयसूत्रम्, ८.२.११   | १०. पाणिनीयसूत्रम्, ३.४.४२  |
| ११. पाणिनीयसूत्रम्, ३.४.४१  | १२. पाणिनीयसूत्रम्, ३.३.१०९ |
| १३. पाणिनीयसूत्रम्, ६.२.१५९ | १४. पाणिनीयसूत्रम्, ५.३.९५  |
| १५. पाणिनीयसूत्रम्, ६.२.७७  | १६. पाणिनीयसूत्रम्, ३.२.७६  |
| १७. पाणिनीयसूत्रम्, ५.३.८७  | १८. पाणिनीयसूत्रम्, ४.३.१४७ |
| १९. पाणिनीयसूत्रम्, ४.३.१४६ | २०. पाणिनीयसूत्रम्, ५.३.७५  |
| २१. पाणिनीयसूत्रम्, ३.२.१४  | २२. पाणिनीयसूत्रम्, २.१.५०  |
| २३. पाणिनीयसूत्रम्, ४.४.४६  | २४. पाणिनीयसूत्रम्, ५.२.३४  |
| २५. पाणिनीयसूत्रम्, ३.२.९१  | २६. पाणिनीयसूत्रम्, ७.३.११९ |
| २७. पाणिनीयसूत्रम्, ७.३.११२ | २८. पाणिनीयसूत्रम्, ६.१.८८  |
| २९. परिभाषेन्दुशेखरः, २     | ३०. परिभाषेन्दुशेखरः, ३     |

#### सहायकग्रन्थाः

- शास्त्री, खण्डूडी, आचार्य- पं.सत्यनारायण (सम्पा.), अष्टाध्यायीसूत्रपाठः, १९८५, कृष्णदास संस्कृत अकादमी, वाराणसी-२२१००१
- मिश्रः, श्रीप्रभाकरः, वैयाकरणभूषणसारः, २००४, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी-२२१००१
- प्रह्लादटिप्पणीसहितः, अष्टाध्यायीसूत्रपाठः, कृष्णदास संस्कृत सीरीज ६५, कृष्णदास संस्कृत अकादमी, वाराणसी-२२१००१
- शास्त्री, चारुदेवः, सम्पादकः, १९६८, व्याकरणमहाभाष्यम्, (नवाह्निकम्), मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी

- Studies of Sanskrit Grammar, S.K. Belvelkar, Bharatiya Vidya Prakashan, 1976
  - शास्त्री, भार्गवः (संपा.), व्याकरणमहाभाष्यम्, भाष्यप्रदीपः, भाष्यप्रदीपोद्यतः, चौखम्बाप्रतिष्ठानम्, दिल्ली
  - शास्त्री श्रीगुरुप्रसादः (सम्पादकः), महाभाष्यम्, २००६ राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, नवदेहली-११००५८
  - आचार्यः, श्रीवामदेवः, वाक्यपदीयम् (ब्रह्मकाण्डम्), १९८७, चौखम्बा कृष्णदास संस्कृत अकादमी, वाराणसी- २२१००१
  - झा पं. रामचन्द्र, व्याख्याकारः, वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, २००९ चौखम्बा कृष्णदास संस्कृत अकादमी, वाराणसी, २२१००१
  - दहालः, लोकमणिः (सम्पादकः), व्याकरणशास्त्रेतिहासः, भारतीयविद्याप्रकाशन, जवाहरनगर, दिल्ली- २००७
-

## उपपदविभक्त्यर्थविमर्शः

अभिजित् घोषः (Avijit Ghosh)\*

सारांशः- शोधनिबन्धेऽस्मिन् उपपदविभक्तिः प्रतिपादिता। क्रियान्वयित्वं कारकत्वमिति समेषामभिमतं कारकलक्षणं उक्त्वा तस्य भेदान् प्रदर्शितवान्। ततः परम् उपपदविभक्तेः लक्षणसमन्वयं प्रदर्श्य 'उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी' इति परिभाषायाः सोदाहरणं विश्लेष्य कारकविभक्तेः बलवत्त्वं प्रतिपादितम्। उपपदविभक्ततयः सप्त भवन्ति, तासामुपपदविभक्तीनां सूत्रवार्तिकानि एकत्रीकृत्य सोदाहरणैः सह तेषां सविस्तरं व्याख्यानमलोचितम्। विस्तरस्तु शोधनिबन्धे।

कूटशब्दाः - उपपदम्, विभक्तिः, कारकम्, सूत्रम्, वार्तिकम्, उदाहरणम्, क्रिया, कर्ता, कर्म चेति।

प्रस्तावना - "अपपदं न प्रयुञ्जीत। न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, नापि केवलं प्रत्ययः" इति भाष्यवचसा पदसिद्धये विभक्तीनां प्रयोजनत्वं निरूप्यते। अतः सूत्रकारः भगवान् पाणिनिः सुपां तिङां च विभक्तिसंज्ञायै 'विभक्तिश्च'<sup>१९</sup> सूत्रमिदं रचयामास। संख्यात्वावन्तरजात्यवाच्छन्नशक्तित्वान् य प्रत्ययः सा विभक्तिः इत्युच्यते। विभक्तयस्तावत् कारकेभ्यः उत्पद्यन्ते। तत्र किं नाम कारकत्वमिति जिज्ञासायां क्रियाजनकत्वं कारकत्वम्। भाष्यवचनं तु "करोति क्रियां निवर्तयतीति", एवं क्रियानिष्ठजन्यतानिरूपितजनकतावत्त्वं कारकत्वमिति।

तानि च कारकाणि षट् भवन्ति -

"कर्ताकर्म च करणं च सम्प्रदानं तथैव च।

अपादानाधिकरणामत्याहुः कारकाणि षट्।।"

इत्थं च कर्ता, कर्म, करणम्, सम्प्रदानम्, अपादानम्, अधिकरणं चेति षट् कारकाणि। उदाहरणानि यथा - 'चैत्रः अग्निना स्थाल्यां तण्डुलान् पचति' इत्यस्मिन् वाक्ये पाककर्मणि चैत्रः कर्ता, तण्डुलाः कर्मकारकम्, अग्निः करणकारकम्, स्थाली च अधिकरणकारकं वर्तते। 'चैत्रः दरिद्राय वस्त्रं ददाति' इत्यत्र दानक्रियायां दरिद्रः सम्प्रदानकारकमिति। 'वृक्षात् फलं पतति' इत्यत्र पतनक्रियायां वृक्षः अपादानकारकं वर्तते। पूर्वं प्रोक्तं सुपां तिङां च विभक्तिसंज्ञा विधीयते। सुप् तिङ् इति उभयविधौ प्रत्ययौ विभक्तिशब्देन अभिधीयते सुप् प्रत्याहारे एकविंशतयः प्रत्ययाः सन्ति।

उपपदविभक्तिः - विभक्तिः द्विविधा भवति, कारकविभक्तिः उपपदविभक्तिश्च। उपोच्चारितं पदमुपपदम्। उपोच्चारितं नाम समीपस्थमिति। उपपदेन विधीयमाना विभक्तिः उपपदविभक्तिः। उपपदविभक्तिः नाम उपपदं निमित्तीकृत्य यस्याः विभक्तेः विधानं क्रियते इत्यर्थः।। एवं नमस्करोति देवान् इत्यादिस्थले 'उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी' इयं परिभाषा सर्वैरपि स्मर्तव्या। नमः इति पदयोगे

\* Research Scholar (Ph.D), Department of Sanskrit, Pondicherry University, Puducherry, India

उपपदचतुर्थीविभक्तिः प्राप्ता,<sup>२</sup> परन्तु उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी अनया परिभाषया कारकविभक्तेः बलवत्वात् द्वितीया विभक्तिः विधीयते। अतः नमस्करोति देवान् इत्यत्र देवान् इति पदे द्वितीया विभक्तिः।

उपपदविभक्तेः सूत्रवार्तिकानां संग्रहः -

उपपदविभक्तयः	सूत्राणि	वार्तिकानि
उपपदद्वितीया	१. अन्तराऽन्तरेणयुक्ते। २. कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे।	१. उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु। द्वितीयाऽग्नेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते।। २. अभितः परितः समया-निकषा-हा- प्रतियोगेऽपि।
उपपदतृतीया	१. सहयुक्तेऽप्रधाने। २. येनाङ्गविकारः। ३. इत्थंभूतलक्षणे।	
उपपदचतुर्थी	१. नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालं वषड्योगाच्च।	
उपपदपञ्चमी	१. अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते।	
उपपदषष्ठी	१. षष्ठी शेषे। २. षष्ठी हेतुप्रयोगे। ३. सर्वनाम्नस्तृतीया च। ४. षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन। ५. एनपा द्वितीया। ६. तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम्। ७. चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः।	१. निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम्।
उपपदसप्तमी	१. प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च। २. साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः। ३. स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च।	

**प्रथमाविभक्तिः-**कर्तरि प्रथमा विभक्तिः भवति। तत् सूत्रं भवति - 'प्रातिपदिकार्थलिङ्ग-परिमाणवचनमात्रे प्रथमा'<sup>३</sup> इति। सूत्रार्थस्तावत् - प्रातिपदिकार्थमात्रे, लिङ्गमात्राधिक्ये, परिमाणमात्रे संख्यामात्रे च प्रथमाविभक्तिः भवति। प्रातिपदिकार्थे उदाहरणं भवति - कृष्णः, श्रीः, ज्ञानमित्यादि। लिङ्गमात्राधिक्ये उदाहरणं भवति - तटः, तटी, तटमित्यादि। परिमाणाधिक्ये द्रोणो व्रीहिः। वचनं नाम संख्या, अतः संख्याधिक्ये एकः, द्वौ, बहवः इत्यादयः।

'सम्बोधने च' इति सूत्रेण सम्बोधने प्रथमा विभक्तिः विधीयते। यथा - हे देवदत्त, हे देवदत्तौ, हे देवदत्ताः। अत्र सम्बोधनं नाम अभिमुखीकरणमित्यर्थः।

**उपपदद्वितीयाविभक्तिः** - कारकविभक्तौ 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म'<sup>१६</sup> इति सूत्रेण कर्तुः क्रियया यदाप्तुम् इष्टतमं तत् कारकं कर्मसंज्ञा भवति। तेन 'कर्मणि द्वितीया'<sup>१७</sup> इति सूत्रेण अनुक्ते कर्मणि द्वितीया विभक्तिः विधीयते। तत्र किं नाम कर्मत्वमिति चेत्क्रियाजन्यफलाश्रयत्वमिति। तत् च कर्म द्विविधम् - ईप्सितमनीप्सिततमं चेति। पुनः ईप्सितं कर्म त्रिविधम् - निवर्त्यम्, विकार्यम्, प्राप्यं चेति। अनीप्सितं कर्म च द्विविधम् - द्वेष्यम्, उपेक्ष्यमिति। इदानीमुपपदविभक्तीनां सूत्रवार्तिकानि च आलोच्यन्ते -

**सूत्रम् - अन्तराऽन्तरेणयुक्ते ।।२।३।४।।**

**सूत्रार्थः** - अनेन सूत्रेण अन्तरायोगे अन्तरेणयोगे च विद्यमानात् प्रातिपदिकात् द्वितीया विभक्तिः विधीयते।

**सूत्रावतरणम्** - अन्तरा त्वां मां हरिः, अन्तरेण हरिं न सुखम् इत्यादौ युष्मद् अस्मद् शब्दाभ्यां हरिशब्दात् च केन द्वितीया विभक्तिः विधीयते। न हि अत्र 'कर्मणि द्वितीया' इति सूत्रेण द्वितीया विभक्तिः। अतः एवम्भूतेषु वाक्येषु द्वितीयाविभक्तये सूत्रकारः भगवान् पाणिनिः सूत्रमिदं रचयामास।

**सूत्रव्याख्या** - षड्विधेषु सूत्रेषु इदं विधिसूत्रम्। अन्तराश्च अन्तरेणश्च तयोरितरेतरयोगद्वन्द्वे अन्तरान्तरेणौ, ताभ्यां युक्तम् अन्तराऽन्तरेणयुक्तम्, तस्मिन् अन्तराऽन्तरेणयुक्ते इति तृतीयातत्पुरुषसमासः। अन्तराऽन्तरेणयुक्ते इति सप्तम्येकवचनान्तं पदम्। 'कर्मणि द्वितीया' इति सूत्रात् द्वितीया इति पदम् अनुवर्तते। सूत्रेऽस्मिन् अन्तरा इति पदं टाबन्तम्, अन्तरेण इति तृतीयान्तं पदं प्रतीयते। परन्तु अत्र अव्ययसंज्ञके अन्तरा-अन्तरेण इति पदे। अन्तरेण इति अटावन्तं पदम्, तत्साहचर्येण अन्तरा अपि अटावन्तं पदं मन्यते। अत्र साहचर्यं नाम सादृश्यम्। अटाबन्तम् अन्तरा इति पदमव्ययम्, अतः तत्साहचर्येण अन्तरेण पदमपि अव्ययम्। एवञ्च सूत्रार्थः भवति - अन्तरान्तरेण इति सूत्रेण अन्तरान्तरेण अव्यययोगे द्वितीयाविभक्तिः भवति।

**उदाहरणम्** - अन्तरा त्वां मां हरिः। अन्तरेण हरिं न सुखम्।

**सूत्रार्थसमन्वयः** - अन्तरा त्वां मां हरिः उदाहरणेऽस्मिन् अन्तरा इरि पदस्य प्रयोगः अस्ति। अत्र अन्तरा पदस्यार्थः मध्यरूपार्थेन युक्तः अस्ति त्वदवधिकः मदवधिकश्चेति। अतः अनेन सूत्रेण युष्मद् अस्मद् शब्दाभ्यां द्वितीया विभक्तिः विधीयते। तेन अन्तरा त्वां मां हरिः इति शिष्टः प्रयोगः सिध्यति।

अन्तरेण हरिं न सुखम् इत्यत्र अन्तरेण इति पदस्य प्रयोगः अस्ति। अत्र अन्तरेणपदं विना इत्यर्थः। तेन हरिं विना सुखं नास्ति इति प्रकृतवाक्यार्थः। एवञ्च अन्तरेण इति पदस्य विनारूपार्थेन युक्तः अर्थः अस्ति हरिः। अतः प्रकृतसूत्रेण हरि इति शब्दात् द्वितीया विभक्तिः विधीयते। तेन अन्तरेण हरिं न सुखम् इति प्रयोगः सिध्यति।

**सूत्रम् - कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे ।।२।३।५।।**

**सूत्रार्थः** - कालशब्देभ्यो अध्वशब्देभ्यश्च द्वितीया विभक्तिः भवति अत्यन्तसंयोगे गम्यमाने। **सूत्रावतरणम्**- मासं कल्याणी, मासमधीते, मासं गुडधानाः, क्रोशं कुटिला नदी, क्रोशमधीते, क्रोशं गिरिः इत्यादौ मासादिशब्दात् केन सूत्रेण द्वितीया विभक्तिः विधीयते। अत्र तु कर्मणि द्वितीया इति सूत्रेण द्वितीया विभक्तिः न प्राप्नोति। अतः एवम्भूतेषु वाक्येषु द्वितीयाविभक्तिविधानाय सूत्रमिदं प्रारभते।

**सूत्रव्याख्या** - इदं सूत्रं विधिसूत्रम्। कालश्च अध्वा च तयोरितरेतरयोगद्वन्द्वः कालाध्वनौ, तयोः

कालाध्वनोः। अन्तः विच्छेदः, तमविक्रान्तः अत्यन्तः, अत्यन्तश्चासौ संयोगः अत्यन्तसंयोगस्तस्मिन् अत्यन्तसंयोगे, तत्पुरुषगर्भकर्मधारयः। कालाध्वनोः षष्ठीद्विवचनान्तम्, अत्यन्तसंयोगे सप्तम्यन्तम्। अस्मिन् सूत्रे 'कर्मणि द्वितीया' इति सूत्रात् द्वितीया इति पदमनुवर्तते। अत्र कालाध्वनोः अत्यन्तसंयोगे कैः सह इति जिज्ञासायां गुणक्रियाद्रव्यैः सह इति लभ्यते। एवं कस्मात् द्वितीया विभक्तिः इति चेत् कालवाचकशब्दात्, अध्ववाचकशब्दात् च लभ्यते। अत्यन्तसंयोगः नाम निरन्तरसम्बन्धः, अविच्छन्नसम्बन्धः, व्यवधानरहितसंयोगः वेति। एवञ्च सूत्रार्थः - गुणक्रियाद्रव्यैः सह कालाध्वनोः अत्यन्तसंयोगे गम्यमाने अर्थे द्वितीया विभक्तिः भवति।

**उदाहरणम्** - क्रियात्यन्तसंयोगे उदाहरन्ति - मासं कल्याणी, मासमधीते, मासं गुडधानाः। अध्ववात्यन्तसंयोगे उदाहरन्ति - क्रोशं कुटिला नदी, क्रोशमधीते, क्रोशं गिरिः चेति।

**सूत्रार्थसमन्वयः** - मासं कल्याणी इत्यत्र मासशब्दः कालवाचकः, कल्याणी इति शब्दः गुणवाचकः। अतः कालस्य गुणेन सह अत्यन्तसंयोगे प्रकृतसूत्रेण द्वितीया विभक्तिः विधीयते। मासमधीते, मासं गुडधानाः इत्यत्र अधीते इति क्रियावाचकेन सह, गुडधानाः इति द्रव्यवाचकेन सह मासः इति कालवाचकस्य अत्यन्तसंयोगे प्रकृतसूत्रेण द्वितीया विभक्तिः विधीयते।

क्रोशं कुटिला नदी, क्रोशमधीते, क्रोशं गिरिः इत्यत्र क्रोशः इति अध्ववाचकशब्दः, तेन साकं कुटिला इति गुणवाचकस्य, अधीते इति क्रियायाः, गिरिः इति द्रव्यस्य प्रकृतसूत्रेण अत्यन्तसंयोगे द्वितीया विभक्तिः भवति।

**सूत्रस्य दलकृत्यम्** - अत्यन्तसंयोगे इति किम् ? - मासस्य द्विरधीते, क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः। सूत्रेऽस्मिन् अत्यन्तसंयोगे इति पदस्य किं प्रयोजनमिति चेत् प्रकृतसूत्रेण कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे कालवाचकात् अध्ववाचकात् द्वितीया विभक्तिः भवति। परन्तु मासस्य द्विरधीते, क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः, इत्यत्र कालगुणवाचकयोः, कालद्रव्यवाचकयोः अत्यन्तसंयोगाभावात् प्रकृतसूत्रेण द्वितीया न, अतः षष्ठ्यां मासस्य, क्रोशस्य इति रूपे। एवम्? एकादश्यां रात्रौ जागृयात्' इत्यादौ रात्रिशब्दस्य कालवाचकत्वे अत्यन्तसंयोगत्वेऽपि 'विवक्षातः कारकाणि भवन्ति' इति नियमानुसारेण रात्रिशब्दस्य अधिकरणविवक्षणात् प्रकृतसूत्रेण द्वितीया न। अतः सप्तमीविभक्तौ रात्रौ इति रूपम्।

- उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु।

द्वितीयाऽप्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते।। वार्तिकम् (१४४४)।।

**वार्तिकार्थः** - महाभाष्ये पठितमिदं श्लोकवार्तिकम्। अस्य वार्तिकस्य भागशः व्याख्या क्रियते। आदिमभागस्तावत् - 'उभसर्वतसोः द्वितीया कार्या' अर्थात् तद्धिततसिल्प्रत्ययान्तमुभयतः सर्वतः इत्यनयोः शब्दयोः योगे द्वितीया विभक्तिः भवति। द्वितीयभागः - 'धिक् इति योगे द्वितीया कार्या' इति। तृतीयभागस्तावत् - 'उपर्यादिषु त्रिषु आप्रेडितान्तेषु द्वितीया कार्या' अर्थात् आप्रेडितान्तम् उपर्युपरि, अध्यधि, अधोऽधः इत्येषां शब्दानां योगे द्वितीया विभक्तिः भवति। आप्रेडितान्तं नाम कृतद्विवचनम्। अन्तिमभागस्तावत् - ततोऽन्यत्रापि द्वितीया दृश्यते अर्थात् क्वचिद् एतेषां शब्दानामप्रयोगे अपि शिष्टप्रयोगसिद्धये द्वितीया विभक्तिः भवति।

**उदाहरणम्** - उभयतः कृष्णं गोपाः, सर्वतः कृष्णं गावः, धिक् कृष्णाभक्तम्, उपर्युपरि लोकं हरिः,

अध्यधि लोकम्, अधोऽधो लोकम्।

- उभयतः कृष्णं गोपाः, सर्वतः कृष्णं गावः। इदमुभयतः सर्वतः इत्यनयोः योगे द्वितीयाविभक्तेः उदाहरणम्। 'षष्ठी शेषे' इति सूत्रेण षष्ठीविभक्तिं प्रबाध्य अनेन वार्तिकेन द्वितीयाविभक्तिः भवति। तेन उभयतः कृष्णं गोपाः, सर्वतः कृष्णं गावः चेति वाक्ये सिद्धे भवतः।
- धिक् कृष्णाभक्तम्। 'षष्ठी शेषे' इति सूत्रेण षष्ठीविभक्तिं प्रबाध्य धिक् इति शब्दस्य प्रयोगे प्रकृतवार्तिकेन द्वितीया विभक्तिः विधीयते। तेन धिक् कृष्णभक्तमिति वाक्यं सिद्धम्। धिक् इति शब्दस्य निन्दा इत्यर्थः। एवञ्च कृष्णाऽभक्तसम्बन्धिनी निन्दा इत्यर्थः।
- उपर्यपरि लोकं हरिः, अध्यधि लोकम्, अधोऽधो लोकम्। इमानि उपर्यपरि, अध्यधि, अधोऽधो इत्येषां शब्दानामुदाहरणानि। एतेषु 'षष्ठी शेषे' इति सूत्रेण षष्ठीविभक्तिं प्रबाध्य अनेन वार्तिकेन द्वितीया विभक्तिः विधीयते। तेन इमानि वाक्यानि सिध्यन्ते। उपर्यपरि नाम ऊर्ध्वदिशि, अध्यधि नाम समीपदेशे, अधोऽधः नाम अधोदिशि इत्यर्थः।
- अभितः परितः समया- निकषा-हा-प्रतियोगेऽपि। वार्तिकम् ( १४४२-१४४३ )।।  
वार्तिकार्थः - अभितः परितः समया निकषा हा प्रति इति एतेषां शब्दानां योगे द्वितीया विभक्तिः भवति।

उदाहरणम् - अभितः कृष्णम्, परितः कृष्णम्, ग्रामं समया, निकषा लङ्काम्, हा कृष्णाभक्तम्, बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्, इत्यत्र 'षष्ठी शेषे' इति सूत्रेण षष्ठीविभक्तिं प्रबाध्य अभितः, परितः, समया, निकषा, हा इति शब्दानां प्रयोगे अनेन वार्तिकेन द्वितीया विभक्तिः विधीयते। तेन अयं प्रयोगः सिध्यति।

- उपपदतृतीयाविभक्तिः।

सूत्रम् - सहयुक्तेऽप्रधाने ।२।३।१९।।

सूत्रार्थः - सहार्थेन युक्तेऽप्रधाने तृतीयाविभक्तिः भवति।

सूत्रव्याख्या - इदं विधिसूत्रम्। अनेन सूत्रेण तृतीयाविभक्तिः विधीयते। सूत्रेऽस्मिन् द्वे पदे स्तः। सहेन युक्तसः सहयुक्तस्तस्मिन् सहयुक्ते, तृतीयातत्पुरुषः। न प्रधानमप्रधानं तस्मिन् अप्रधाने। सहयुक्ते सप्तम्यन्तम्, अप्रधाने सप्तम्यन्तमिति। कर्तृकरणयोस्तृतीया इत्यस्मात् सूत्रात् तृतीया इति पदमनुवर्तते। अत्र सहयुक्ते इत्यस्य सहार्थकशब्दप्रयोगे इत्यर्थः। सहार्थकशब्दास्तावत् साकम्, सार्धम्, समञ्चेति। अप्रधाने इत्यस्य अमुख्ये इत्यर्थः। एवञ्च सूत्रार्थः भवति - सहार्थकशब्दप्रयोगे अमुख्यवाचकात् शब्दात् तृतीया विभक्तिः भवति।

उदाहरणम् - पुत्रेण सहागतः पिता। अत्र सहार्थकस्य सहशब्दस्य प्रयोगः वर्तते। प्रयोगेऽस्मिन् गमनकर्मणि पितुः साक्षात् सम्बन्धः प्रतीयते। पुत्रस्यान्वयस्तु जातः सहशब्दवलात्। अतः पिता मुख्यः, पुत्रः अमुख्यः। एवञ्च सहशब्दप्रयोगात् अमुख्यवाचकात् पुत्रशब्दात् तृतीयाविभक्तिः, तेन पुत्रेण सह पिता गच्छति वाक्यमिदं सिध्यति।

अत्रायं विशेषः - सहार्थकशब्दं विनापि तृतीयाविभक्तिः भवति। तत्र भगवतः पाणिनेः सूत्रं ज्ञापयति- 'वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः'<sup>६</sup> इति। इह सहार्थकशब्दं विनापि युवन् इति शब्दस्य तृतीयाविभक्तौ

यूना इति प्रयोगः सिध्यति।

**सूत्रम् - येनाङ्गविकारः ।२।३।१९।।**

**सूत्रार्थः -** येन विकृतेन अङ्गेन शरीरस्य विकारः जायते तादृशविकृताङ्गवाचकात् शब्दात् तृतीयाविभक्तिः भवति।

**सूत्रव्याख्या -** विधिसूत्रमिदम्। अनेन सूत्रेण तृतीयाविभक्तिः विधीयते। सूत्रेऽस्मिन् द्वे पदे स्तः। येन इति तृतीयैकवचनान्तम्। अङ्गस्य विकारः इति अङ्गविकारः षष्ठीतत्पुरुषसमासः। अङ्गविकारः इति प्रथमान्तम्। 'कर्तृकरणोस्तृतीया' इत्यस्मात् सूत्रात् तृतीया इति पदमनुवर्तते। येन अङ्गविकारः ततः तृतीयाविभक्तिः भवति। येन इत्यस्य अङ्गविकारः इत्यर्थः। अङ्गशब्दोऽत्र अङ्गसमुदाये शरीरे विद्यते, अर्थात् अङ्गविकारः इत्यस्य शरीरविकारः इत्यर्थः। एवञ्च सूत्रार्थो - येन विकृतेन अङ्गेन शरीरस्य विकारः जायते तादृशविकृताङ्गवाचकात् शब्दात् तृतीयाविभक्तिः भवति।

**उदाहरणम् -** अक्षणा काणः। अत्र विकृतमङ्गमस्ति अक्षिः। तेन च विकृतेन अङ्गेन अक्षणा शरीरे विकारः सूच्यते। अतः तादृशविकृताङ्गवाचकात् अक्षिशब्दात् प्रकृतसूत्रेण तृतीयाविभक्तिः विधीयते। तेन अक्षणा काणः इति वाक्यं सिध्यति। अक्षणा काणः नाम अक्षिसम्बन्धिकाणत्वविशिष्ट इत्यर्थः।

**सूत्रम् - इत्थंभूतलक्षणे ।२।३।११।।**

**सूत्रार्थः -** विशेषणयुक्तस्य ज्ञापके विद्यमानात् शब्दात् तृतीयाविभक्तिः भवति।

**सूत्रव्याख्या -** इदं विधिसूत्रम्। सूत्रेऽस्मिन् एकमेव पदमस्ति। इत्थंभूतस्य लक्षणमिति इत्थंभूतलक्षणम्, षष्ठीतत्पुरुषसमासः। तस्मिन् इत्थंभूतलक्षणे इति सप्तम्यैकवचनान्तं पदम्। अस्मिन् सूत्रे 'कर्तृकरणोस्तृतीया' इत्यतः तृतीया इति पदमनुवर्तते। इत्थंभूतलक्षणे इत्यस्य विशेषणयुक्तस्य ज्ञापके इत्यर्थः। जटाभिः तापसः इत्यादिवाक्येषु जटादिशब्दात् केन सूत्रेण तृतीयाविभक्तिः प्राप्यते इति चेत् न हि कर्तृकरणोस्तृतीया इति सूत्रेण तृतीया कर्तृकरणसंज्ञत्वाभावात्। तथैव 'सहयुक्तेऽप्रधाने' इति सूत्रेण तृतीया न, सहार्थस्य अप्रतीतेः। अतः जटाभिः तापसः इत्यादौ तृतीयाविभक्तिविधानाय भगवान् पाणिनिः सूत्रमिदं रचयामास। एवञ्च सूत्रार्थो- विशेषणयुक्तस्य ज्ञापके विद्यमानात् शब्दात् तृतीयाविभक्तिः भवति।

**उदाहरणम् -** जटाभिः तापसः। अत्र विशेषणयुक्तः अस्ति तापसः। विशेषणयुक्तज्ञापिका अस्ति जटा। अतः प्रकृतसूत्रेण विशेषणयुक्तज्ञापकजटाशब्दात् तृतीयाविभक्तिः विधीयते। तेन जटाभिः तापसः इति प्रयोगः सिध्यति। जटाभिः तापसः इत्यस्य जटाज्ञाप्यतापसत्वविशिष्ट इत्यर्थः।

• **उपपदचतुर्थीविभक्तिः।**

**सूत्रम् - नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालं वषड्योगाच्च ।२।३।१६।।**

**सूत्रार्थः -** नमोयुक्तात् स्वस्तियुक्तात् स्वाहायुक्तात् स्वधायुक्तात् अलंयुक्तात् वषड्युक्तात् शब्दात् चतुर्थीविभक्तिः भवति।

**सूत्रव्याख्या -** इदं विधिसूत्रम्। अनेन सूत्रेण चतुर्थीविभक्तिः विधीयते। सूत्रेऽस्मिन् द्वे पदे स्तः। नमश्च स्वस्तिश्च स्वाहा च स्वधा च अलं च वषट् च तेषामितरेतरयोगद्वन्द्वे नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालं वषडः, तेषां योगो नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालं वषड्योगस्त-स्मान्नमःस्वस्तिस्वाहा स्वधालं वषड्योगात् इति पञ्चम्यन्तम्। च इति अव्ययम्। 'चतुर्थी सम्प्रदाने' इति सूत्रात् चतुर्थी इति

पदमनुवर्तते । सूत्रे योगशब्दस्य नमः इत्यादिशब्दैः सह सम्बन्धः भवति। एवञ्च सूत्रार्थो - नमोयुक्तात् स्वस्तियुक्तात् स्वाहायुक्तात् स्वधायुक्तात् अलंयुक्तात् वषड्युक्तात् शब्दात् चतुर्थीविभक्तिः भवति।

**उदाहरणम् -** हरये नमः, इन्द्राय स्वाहा, पितृभ्यः स्वधा, दैत्यभ्यो अलं हरिः। इन्द्राय वषड्। हरये नमः इत्यत्र नमशब्दस्य प्रयोगः अस्ति। नमः इत्यस्य नमनमित्यर्थः। अत्र नमोयुक्तात् शब्दात् प्रकृतसूत्रेण चतुर्थीविभक्तिः विधीयते। हरये नमः इति वाक्यं सिद्धम्। तथैव अन्यानि उदाहरणानि सूत्रस्थः तत् तत् शब्दयोगे इष्टरूपाणि साधयन्ति।

● **उपपदपञ्चमीविभक्तिः।**

**सूत्रम् -** अन्यारादितरर्तेदिकशब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते ।२।३।२९॥

**सूत्रार्थः -** अन्ययोगे आराद्योगे इतरयोगे ऋतेयोगे दिक्शब्दयोगे अञ्चूत्तरपदयोगे आचप्रत्ययान्तयोगे आहिप्रत्ययान्तयोगे च प्रातिपदिकात् पञ्चमीविभक्तिः भवति।

**सूत्रव्याख्या -** इदं विधिसूत्रम्। अनेन सूत्रेण पञ्चमीविभक्तिः विधीयते। सूत्रेऽस्मिन् एकमेव पदमस्ति। अन्यश्च आरात् च इतरश्च ऋते च दिक्शब्दश्च अञ्चूत्तरपदश्च, आच् च आहि च तेषामितरेतरयोगद्वन्द्वः अन्यारादितरर्तेदिकशब्दाञ्चूत्तरपदाजाहयस्तेर्युक्तम् अन्यारादितरर्तेदिकशब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्तम्। तस्मिन् अन्यारादितरर्तेदिकशब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते इति सप्तम्यन्तमेकपदम्। 'अपादाने पञ्चमी' इत्यतः पञ्चमी इति पदमनुवर्तते। 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमानं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इति नियमेन युक्ते इत्यस्य अन्यादिपदैः सह सम्बन्धः भवति। तत्र युक्ते इत्यस्य योगे इत्यर्थः। एवञ्च सूत्रार्थो भवति - अन्ययोगे आराद्योगे इतरयोगे ऋतेयोगे दिक्शब्दयोगे अञ्चूत्तरपदयोगे आचप्रत्ययान्तयोगे आहिप्रत्ययान्तयोगे च प्रातिपदिकात् पञ्चमीविभक्तिः भवति।

**उदाहरणम् -** कृष्णात् अन्यः रामः, वनाद् आरात् ग्रामः, कृष्णात् इतरः बलरामः, रामात् ऋते सुखं नास्ति, वनात् पूर्वः ग्रामः, ग्रामात् प्राक्, ग्रामाद् दक्षिणा, ग्रामात् दक्षिणाहि।

कृष्णात् अन्यः रामः इत्यस्मिन् प्रयोगे अन्यशब्दस्य प्रयोगः अस्ति। अन्यः इत्यस्य भिन्नः इत्यर्थः। एवञ्च यस्य भेदः प्रतिपाद्यते तादृशार्थवाचकात् प्रातिपदिकात् एव पञ्चमीविभक्तिः भवति। प्रकृते कृष्णस्य भेदः रामे अस्ति। अतः प्रकृतसूत्रेण कृष्णप्रातिपदिकात् पञ्चमीविभक्तिः विधीयते। तेन कृष्णात् अन्यः रामः इति प्रयोगः सिध्यति।

● **उपपदषष्ठीविभक्तिः।**

**सूत्रम् -** षष्ठी शेषे ।२।३।५०॥

**सूत्रार्थः -** कारकप्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्तः स्वस्वामिभावादिसम्बन्धः शेषः, तत्र षष्ठीविभक्तिः भवति।

**सूत्रव्याख्या -** सूत्रमिदं विधिसूत्रम्। सूत्रेऽस्मिन् द्वे पदे स्तः। षष्ठी इति प्रथमान्तम्, शेषे इति सप्तम्यन्तम्। एवञ्च सूत्रार्थः - शेषे अर्थे षष्ठीविभक्तिः भवति। तत्र कः नाम शेषः इति चेदुच्यते उक्तादन्यः शेषः। उक्तं च पदवाक्यरत्नाकारेण -

विभक्त्यन्तरबोधेभ्यो भिन्नः शेषोऽभिधीयते।

संबन्धत्वनिमित्तेन षष्ठी तत्र प्रवर्तते।।<sup>९</sup>

प्रथमादीनां यानि प्रवृत्तिनिमित्तानि संबुद्धित्वादीनि तदितरधर्मविशेषः शेषः। तं च षष्ठी संबन्धत्वेन प्रवृत्तिनिमित्तेन अभिधत्ते। तत्र 'षष्ठी शेषे' इति सूत्रात् पूर्वम् अनभिहिते कर्मणि द्वितीया विभक्तिः प्रोक्ता, अनभिहिते करणे कर्तरि च तृतीया विभक्तिः प्रोक्ता, अनभिहिते सम्प्रदाने अपादाने अधिकरणे च चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठीविभक्तयः प्रोक्ताः। एवं च कर्मादीरूपाः अर्थाः प्रातिपदिकार्थश्च प्रोक्ताः, तेभ्यो अन्यः कश्चन संबन्धः वर्तते। तस्मात्संबन्धः एव शेषपदास्यार्थः। तदा सूत्रार्थः भवति - सम्बन्धे अर्थे षष्ठी विभक्तिः। परन्तु सम्बन्धस्तु द्विष्टो भवति, तस्य द्वौ सम्बन्धिनौ भवतः। एकः प्रतियोगी, अपरश्च अनुयोगी। एवं सम्बन्धस्य प्रतियोगिवाचकात् प्रातिपदिकात् प्रकृतसूत्रेण षष्ठी विभक्तिः इत्ययं सिद्धान्तः।

**उदाहरणम्** - राज्ञः पुरुषः इत्यत्र राजपुरुषयोः स्वस्वामिभावसम्बन्धः वर्तते। तस्य राजा प्रतियोगी, पुरुषः च अनुयोगी। अतः प्रतियोगिवाचकात् प्रातिपदिकात् अनेन सूत्रेण षष्ठी विभक्तिः विधीयते। अस्य च राजसम्बन्धिपुरुषः इति बोधो भवति।

अत्रेदं बोध्यम् - शेषस्य अन्याऽपि काचिद् परिभाषा वर्तते। का सा इति चेत् कर्मादीनामविवक्षा शेषः इति। कारकानि विवक्षातः भवन्ति इत्यस्ति नियमः। कर्मणः कर्मत्वेन विवक्षायां तु यथायोग्यं द्वितीयाविभक्तिः प्राप्नोति, परन्तु कर्मणः अविवक्षायां कर्मत्वेन नैव प्राप्नोति अपि तु शेषत्वेन प्राप्नोति। यथा मातुः स्मरति इत्यादौ कर्मणः शेषत्वेन षष्ठी विभक्तिः। सतां गतमित्यत्र कर्तुः कर्तृत्वेन अविवक्षायां शेषत्वात् षष्ठीविभक्तौ सिद्धिः गतम् इति।

**सूत्रम् - षष्ठी हेतुप्रयोगे ।२।३।२६।।**

**सूत्रार्थः** - हेतुशब्दप्रयोगे हेतौ द्योत्ये षष्ठी विभक्तिः भवति।

**सूत्रव्याख्या** - सूत्रमिदं विधिसूत्रम्। सूत्रेऽस्मिन् द्वे पदे स्तः। हेतोः प्रयोगः हेतुप्रयोगः तस्मिन् हेतुप्रयोगे इति। षष्ठी इति प्रथमान्तम्, हेतुप्रयोगे इति सप्तम्यन्तं पदम्। हेतौ इति सूत्रमनुवर्तते। एवञ्च सूत्रार्थः- हेतुशब्दप्रयोगे हेतुभूतार्थवाचकात् हेतुशब्दात् षष्ठी विभक्तिः भवति।

**उदाहरणम्** - अन्नस्य हेतोर्वसति इत्यत्र वासस्य हेतुः अन्नमस्ति, किञ्च वाक्येऽपि हेतुशब्दस्य प्रयोगः वर्तते। अतः अनेन सूत्रेण हेतुशब्दप्रयोगे हेतुभूतार्थवाचकात् अन्नशब्दात् षष्ठी विभक्तिः विधीयते।

**सूत्रम् - सर्वनाम्नस्तृतीया च ।२।३।२७।।**

**सूत्रार्थः** - सर्वनाम्नो हेतुशब्दस्य च प्रयोगे हेतौ द्योत्ये तृतीया स्यात्, षष्ठी च।

**सूत्रव्याख्या** - सूत्रमिदं विधिसूत्रम्। सूत्रेऽस्मिन् त्रीणि पदानि सन्ति। सर्वनाम्नः इति षष्ठ्यन्तम्, तृतीया इति प्रथमान्तम्, च इति अव्ययं पदम्। षष्ठी हेतुप्रयोगे, हेतौ चेति सूत्रे अनुवर्तते। सूत्रार्थो भवति - सर्वनाम्नः हेतुशब्दस्य च प्रयोगे सर्वनामशब्दात् हेतुशब्दाच्च तृतीया विभक्तिः भवति, षष्ठी विभक्तिश्च।

**उदाहरणम्** - केन हेतुना वसति, कस्य हेतोः वसति। प्रकृतवाक्ययोः हेतुशब्दस्य सर्वनामशब्दस्य प्रयोगो वर्तते। तस्मिन् प्रयोगे हेतौ इति सूत्रेण केवलं तृतीया विभक्तिः प्राप्यते, षष्ठी हेतुप्रयोगे इति सूत्रेण च केवलं षष्ठी विभक्तिः प्राप्यते। परन्तु प्रकृतसूत्रेण उभयोः विधानं क्रियते। तेन च केन हेतुना वसति, कस्य हेतोः वसति इति वाक्यद्वयं सिद्धम्।

● **निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम्। ( वार्तिकम् )।**

**वार्तिकार्थः** - निमित्तपर्यायानां प्रयोगे तेभ्यो तत्समानाधिकरणस्य च सर्वासां विभक्तीनां प्रायेण प्रयोगो

भवति। निमित्तस्य पर्यायशब्दाः - हेतु, कारणं बीजम्। यदि सर्वनाम्नः प्रयोगः न स्यात् तर्हि प्रथमा द्वितीया च भवतः।

**उदाहरणम् -** सर्वासु विभक्तिषु सर्वनाम्नः प्रयोगः निमित्तपर्यायाणां शब्दानां प्रयोगश्च प्रदर्शितः।

विभक्तिः	निमित्तशब्दप्रयोगः	कारणशब्दप्रयोगः	हेतुशब्दप्रयोगः
प्रथमा	किं निमित्तं वसति।	किं कारणं वसति।	को हेतुः वसति।
द्वितीया	किं निमित्तं वसति।	किं कारणं वसति।	कं हेतुं वसति।
तृतीया	केन निमित्तेन वसति।	केन कारणेन वसति।	केन हेतुना वसति।
चतुर्थी	कस्मै निमित्ताय वसति।	कस्मै कारणाय वसति।	कस्मै हेतवे वसति।
पञ्चमी	कस्मात् निमित्तात् वसति।	कस्मात् कारणात् वसति।	कस्मात् हेतोः वसति।
षष्ठी	कस्य निमित्तस्य वसति।	कस्य कारणस्य वसति।	कस्य हेतोः वसति।
सप्तमी	कस्मिन् निमित्ते वसति।	कस्मिन् कारणे वसति।	कस्मिन् हेतौ वसति।

**सूत्रम् - षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन ।२।३।३०।।**

**सूत्रार्थः -** अतसुजर्थकप्रत्ययान्तेन योगे षष्ठी विभक्तिः भवति।

**सूत्रव्याख्या -** विधिसूत्रमिदम्। सूत्रेऽस्मिन् द्वे पदे वर्तेते। अतसः अर्थः अतसर्थः, षष्ठीतत्पुरुषः। अतसर्थश्चासौ प्रत्ययः अतसर्थप्रत्ययः, कर्मधारयसमासः। तेन अतसर्थप्रत्ययेन। षष्ठी इति प्रथमान्तम्, अतसर्थप्रत्ययेन इति तृतीयान्तम्। अतस् इत्यनेन अतसुचप्रत्ययस्य ग्रहणम्। तस्मात् अतसर्थप्रत्ययेन इत्यस्य अतसुजर्थकप्रत्ययेन इत्यर्थः। प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तदन्तविधौ अतसुजर्थकप्रत्ययान्तेन इत्यर्थः। तदा सूत्रार्थो- अतसुजर्थकप्रत्ययान्तेन योगे षष्ठी विभक्तिः भवति। दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः (५.२.२७) इति सूत्रादारभ्य आहि च दूरे (५.३.३७) इति सूत्रपर्यन्तं दिग्देशकालवृत्तिभ्यः शब्देभ्यः स्वार्थे प्रत्ययाः विहिताः। दक्षिणोत्तरोभ्यामतसुच् इति सूत्रेण अतसुच् प्रत्ययः विधीयते। दक्षिण इति शब्दः दिग्वाची। तत्र अतसुच् प्रत्ययेन दक्षिणतः इति सिद्धः।

**उदाहरणम् -** ग्रामस्य दक्षिणतः, पुरः, पुरस्तात्, उपरि, उपरिष्ठात्।

ग्रामस्य दक्षिणतः इत्यत्र दक्षिणतः इत्ययं शब्दः अतसुचप्रत्ययान्तः, दिग्वाची च। अतः पञ्चमीविभक्तौ प्राप्तायां प्रकृतसूत्रेण षष्ठीविभक्तिः विधीयते।

**सूत्रम् - एनपा द्वितीया ।२।३।३१।।**

**सूत्रार्थः -** एनबन्तेन योगे द्वितीया षष्ठी च भवति।

**सूत्रव्याख्या -** सूत्रमिदं विधिसूत्रम्। सूत्रेऽस्मिन् द्वे पदे स्तः। एनपा इति तृतीयैकवचनान्तम्, द्वितीया इति प्रथमान्तम्। एनप् इति च प्रत्ययः अस्ति। अतः प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तदन्तविधौ एनबन्तेन इत्यर्थः भवति। ततश्च सूत्रार्थो - एनबन्तेन योगे द्वितीया विभक्तिः भवति। अस्य सूत्रस्य योगविभागः क्रियते। एनपा इति प्रथमः योगः। द्वितीया इति द्वितीयः योगः। पूर्वसूत्रात् षष्ठी इति पदमनुवर्तते। ततश्च एनपा इत्यस्य सूत्रार्थः - एनबन्तेन योगे षष्ठी भवति। द्वितीययोगस्य सूत्रार्थः - एनबन्तेन योगे द्वितीया विभक्तिः भवति।

**उदाहरणम्** - दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा। दक्षिणेन इत्ययं शब्दः एनप्रत्ययान्तः, तेन ग्रामशब्दात् एनपा इति प्रथमयोगेन सूत्रेण षष्ठीविभक्तिः विधीयते। द्वितीया इति द्वितीयायोगेन सूत्रेण द्वितीयाविभक्तिः विधीयते। तेन दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा इति वाक्यं सिद्धम्।

**सूत्रम्**- तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम् ।२।३।७२।।

**सूत्रार्थः** - तुलाभिन्नैः उपमाभिन्नैः सादृश्यार्थकशब्दैः योगे षष्ठी विभक्तिः स्यात् तृतीयाविभक्तिश्च।

**सूत्रव्याख्या** - विधिसूत्रमिदम्। सूत्रेऽस्मिन् चत्वारि पदानि सन्ति। तुल्य इति अर्थो येषां ते तुल्यार्थास्तैस्तुल्यार्थैः इति तृतीयान्तम्, तुला च उपमा च तुलोपमे, न तुलोपमे इति अतुलोपमे, ताभ्याम् अतुलोपमाभ्यामिति तृतीयान्तद्विवचनान्तं पदम्, तृतीया इति प्रथमान्तम्। अन्यतरस्यामिति विभक्तिप्रतिरूपकमव्ययम्। षष्ठी शेषे इत्यस्मात् सूत्रात् षष्ठी इति पदमनुवर्तते। तुल्यार्थैः इत्यस्यार्थः सादृश्यार्थकशब्दैः। एवञ्च सूत्रार्थो - तुलाभिन्नैः उपमाभिन्नैः सादृश्यार्थकशब्दैः योगे षष्ठी विभक्तिः स्यात् तृतीयाविभक्तिश्च।

**उदाहरणम्** - तुल्यः सदृशः समो वा कृष्णस्य कृष्णेन वा। उदाहरणेऽस्मिन् तुल्यशब्दस्य तुल्यार्थकस्य प्रयोगः वर्तते। अस्मिन् प्रयोगे कृष्ण इति शब्दात् 'षष्ठी शेषे' इति सूत्रात् षष्ठीविभक्तिं प्रबाध्य प्रकृतसूत्रेण तृतीयाषष्ठी च विधीयेते। तेन तुल्यः सदृशः समो वा कृष्णस्य कृष्णेन वेति वाक्यस्य सिद्धिः जाता।

**सूत्रम्**- चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः ।२।३।७३।।

**सूत्रार्थः** - आयुष्य, मद्र, भद्र, कुशल, सुख, हित एतदर्थकैः शब्दैः योगे चतुर्थी वा स्यात् पक्षे षष्ठी, आशिषि विवक्षिते।

**सूत्रव्याख्या** - विधिसूत्रमिदम्। सूत्रेऽस्मिन् त्रीणि पदानि सन्ति। चतुर्थी इति प्रथमान्तम्। चेति अव्ययम्। आयुष्यं च मद्रं च भद्रं च कुशलं च सुखं च अर्थं च हितं च तेषामितरेतरयोगद्वन्द्वः आयुष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितानि, तैः आयुष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः इति तृतीयान्तम्। 'षष्ठी शेषे' इति सूत्रमनुवर्तते। 'तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम्' इत्यस्मात् सूत्रात् अन्यतरस्यामिति पदमनुवर्तते। एवञ्च सूत्रार्थो भवति - आशिषि गम्यमानायाम् आशुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः शब्दैः उपस्थापिते अर्थे विशेषणीभूतार्थवाचकात् शब्दात् चतुर्थी षष्ठी च स्यात्।

**उदाहरणम्** - आयुष्यं कृष्णाय कृष्णस्य वा भूयात्। अत्र आशिषि गम्यमानायाम् आयुष्यपदोपस्थाप्ये आयुष्यरूपे अर्थे विशेषणमस्ति कृष्णशब्दः। अतः प्रकृतसूत्रेण विशेषणीभूतार्थवाचकात् कृष्णशब्दात् चतुर्थी षष्ठी च विधीयेते। तेन आयुष्यं कृष्णाय कृष्णस्य वा भूयात् इति प्रयोगः सिध्यति।

• **उपपदसप्तमीविभक्तिः।**

**सूत्रम्** - प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च ।२।३।४४।।

**सूत्रार्थः** - प्रसितयोगे उत्सुकयोगे च प्रातिप्रतिकात् तृतीया भवति सप्तमी च भवति।

**सूत्रव्याख्या** - सूत्रेऽस्मिन् त्रीणि पदानि सन्ति। प्रसितश्च उत्सुकश्च तयोरितरेतरयोगद्वन्द्वः प्रसितोत्सुकौ, ताभ्यां प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीयान्तम्, तृतीया इति प्रथमान्तम्। चेति अव्ययम्। सूत्रमिदं तृतीयाविभक्तिं सप्तमीविभक्तिं च विदधाति। प्रसितोत्सुकाभ्यामिति तृतीयाबलात् योगे इति आक्षिप्यते।

प्रातिपदिकात् इति च आक्षिप्यते। एवञ्च सूत्रार्थो भवति – प्रसितयोगे उत्सुकयोगे च प्रातिपदिकात् तृतीया सप्तमी च भवति।

**उदाहरणम्** – हरिणा प्रसितः, हरौ प्रसितः। हरिणा उत्सुकः, हरौ उत्सुकः। उदाहरणेषु प्रसितोत्सुकयोः शब्दयोः प्रयोगः अस्ति। एवञ्च प्रसितोत्सुकाभ्यां योगे इति प्रातिपदिकात् प्रकृतसूत्रेण तृतीया सप्तमी च विधीयेते। तेन इत्यनयोः वाक्ययोः सिद्धिः भवति।

**सूत्रम्** – साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः ।२।३।४३।।

**सूत्रार्थः** – अर्चायां गम्यमानायां साधुयोगे निपुणयोगे च प्रातिपदिकात् सप्तमीविभक्तिः भवति न तु प्रतेः प्रयोगे।

**सूत्रव्याख्या** – विधिसूत्रमिदम्। अनेन सूत्रेण सप्तमीविभक्तिः विधीयते। सूत्रेऽस्मिन् त्रीणि पदानि सन्ति। साधुश्च निपुणश्च तयोरितरेतरयोगद्वन्द्वः साधुनिपुणौ, ताभ्यां साधुनिपुणाभ्याम्। न प्रतिः अप्रतिः, तस्य अप्रतेः। साधुनिपुणाभ्यामिति तृतीयान्तम्। सप्तमी इति प्रथमान्तम्। अप्रतेः इति षष्ठ्यन्तम्। साधुनिपुणाभ्यामिति तृतीयान्तबलात् योगे इति आक्षिप्यते। अपि च प्रातिपदिकात् गम्यमानायां चाक्षिप्येते। एवञ्च सूत्रार्थो – अर्चायां गम्यमानायां साधुयोगे निपुणयोगे च प्रातिपदिकात् सप्तमीविभक्तिः भवति परन्तु प्रते अप्रयोगे सति न भवति।

**उदाहरणम्** – मातरि साधुर्निपुणो वा। अत्र साधुनिपुणयोः शब्दयोः प्रयोगः अस्ति। पुनः प्रयोगेऽस्मिन् अर्चा गम्यमाना चास्ति। एवञ्च अर्चायां गम्यमानायां साधुनिपुणयोगे सति मातृ इति प्रातिपदिकात् प्रकृतसूत्रेण सप्तमीविभक्तिः विधीयते। तेन मातरि साधुर्निपुणो इति प्रयोगः सिद्धः।

**सूत्रम्** – स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च ।२।३।३९।।

**सूत्रार्थः** – स्वामीयोगे ईश्वरयोगे अधिपतियोगे दायादयोगे साक्षियोगे प्रतिभूयोगे प्रसूतयोगे च प्रातिपदिकात् षष्ठीसप्तम्यौ भवतः।

**सूत्रव्याख्या** – सूत्रमिदं विधिसूत्रम्। स्वामीश्वरादिशब्दानां प्रयोगे केवलं षष्ठीविभक्तिः प्राप्तासीत् परन्तु एतैः प्रयोगे सप्तमीविभक्तिः इष्यते। अतः सप्तमीविभक्तिविधानाय सूत्रमिदं समागतम्। सूत्रेऽस्मिन् द्वे पदे स्तः। स्वामी च ईश्वरश्च अधिपतिश्च दायादश्च साक्षी च प्रतिभूश्च प्रसूतश्च तेषामितरेतरयोगद्वन्द्वः स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतास्तैः स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैः इति तृतीयान्तम्, चाव्ययम्। ‘षष्ठी चानादरे’ इत्यस्मात् सूत्रात् षष्ठी इति पदम्, सप्तम्यधिकरणे च इत्यस्मात् सप्तमी इति पदमनुवर्तेते। स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैः इति तृतीयाबलात् योगे इति आक्षिप्यते, प्रातिपदिकात् अपि चाक्षिप्येते।

**उदाहरणम्** – गवां गोषु वा स्वामी। अत्र वाक्ये स्वामी शब्दस्य प्रयोगः अस्ति। तेन प्रकृतसूत्रेण षष्ठीसप्तम्यौ प्राप्नुतः। परन्तु कस्मात् षष्ठीसप्तम्यौ भवतः इति चेत् यस्य स्वामी अस्ति तद्वाचकात् प्रातिपदिकात् षष्ठीसप्तम्यौ भवतः। प्रकृते वाक्ये गवां स्वामी इति प्रतिपाद्यते। अतः गोशब्दवाचकात् प्रातिपदिकात् षष्ठीसप्तम्यौ भवतः। तेन गवां गोषु वा स्वामी इति प्रयोगः सिद्धः।

**सूत्रम्** – यतश्च निर्धारणम् ।२।३।४१।।

**सूत्रार्थः** – यस्मात् समुदायात् पृथक् क्रियते तादृशसमुदायवाचकात् शब्दात् षष्ठीसप्तम्यौ भवतः।

**सूत्रार्थः** - सूत्रेऽस्मिन् त्रीणि पदानि सन्ति। यतः इति तसिल्प्रत्ययान्तामव्ययम्। च इति अव्ययम्। निर्धारणमिति प्रथमैकवचनान्तम्। 'षष्ठी चानादरे' इत्यस्मात् सूत्रात् षष्ठी इति पदम्, 'सप्तम्यधिकरणे च' इत्यस्मात् सप्तमी इति पदमनुवर्तेते। यतः निर्धारणं ततः षष्ठी सप्तमी च इति वाक्ययोजना। अत्र यतः नामयस्मात् समुदायात् इत्यर्थः। निर्धारणमित्यस्य जातिगुणक्रियासञ्ज्ञाभिः समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणमित्यर्थः। पृथक्करणं नाम स्वभिन्नसमुदायावृत्तिधर्मवत्त्वबोधनमित्यर्थः। एवञ्च सूत्रार्थो भवति - जातिगुणक्रियासञ्ज्ञाभिः समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणं यतस्ततः षष्ठीसप्तम्यौ भवतः।

**उदाहरणम्** - नृपां नृषु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः। गवां गोषु वा कृष्णा बहुक्षीरा। गच्छतां गच्छत्सु वा धावञ्छीघ्नः। छात्राणां छात्रेषु वा मैत्रः पटुः।

नृपां नृषु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः, अत्र इदं बोध्यं यत् मनुष्यसमुदाये ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः शूद्राः च भवन्ति। तेषु केवलं ब्राह्मणस्य श्रेष्ठत्वं न तु क्षत्रियवैश्यशूद्राणाम्। अतः तादृशमनुष्यसमुदायवाचकात् नृशब्दात् षष्ठीसप्तम्यौ भवतः। तेन नृपा नृषु वा ब्राह्मणाः श्रेष्ठः इति सिद्धम्।

**निष्कर्षः** - पदशास्त्रेकारकप्रकरणं हृदयभूतम्। विभक्तीनां प्रवृत्तौ कारकस्यैव प्राधान्यमावहन्ति। तस्मात् एव उच्यते विभक्तयः कारकेभ्यः उत्पद्यन्ते। एवञ्च अस्याः विभक्तेः ज्ञानं विना कोऽपि वाक्यरचनैव कर्तुं न पारयति। तत्र विभक्त्यर्थनिरूपणे उपपदविभक्तेः अपि अत्यन्तं महत्त्वं विद्यते। इत्थं च 'उपपदविभक्त्यर्थविमर्शः' इति विषयोऽयं यतामतिः प्रतिपाद्य इहैव विरम्यते इति शिवम्॥

### संकेताक्षरम्

- पा. पाणिनीय-सूत्रम्।  
अ. अष्टाध्यायी

### पादटीका

१. अष्टाध्यायी १.४.१०४
२. नमः स्वस्तिस्वहास्वधालं वषड्योगाच्च। (पाणिनीयसूत्रम्) इति सूत्रेण उपपदचतुर्थीविभक्तिः विधीयते।
३. अष्टाध्यायी २.३.४६
४. अष्टाध्यायी १.४.४९
५. अष्टाध्यायी २.३.२
६. अष्टाध्यायी १.२.६५, सूत्रार्थ - यूना सहोक्तौ गोत्रं शिष्यते, गोत्रयुवप्रत्यमात्रकृतं चेतयोः कृत्स्नं वैरूप्यं स्यात्। सिद्धान्तकौमुदी॥
७. पदवाक्यरत्नाकरः, पृ . ९२
८. अष्टाध्यायी ५.३.२८

### सन्दर्भग्रन्थसूची

- भट्टोजीदीक्षितः, वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, द्वितीयः भागः, (श्रीधरमुखोल्लासिनी हिन्दी व्याख्या-समन्विता), श्रीगोविन्दाचार्यः (व्याख्याकारः), चौखाम्बासुरभारतीप्रकाम्, वाराणसी, २०१४।
- भट्टोजीदीक्षितः, वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी (मूलमात्रम्), श्रीगोविन्दाचार्यः, चौखाम्बासुरभारतीप्रकाशनम्, वाराणसी, २०१५।

- Tatacharya N.S. Ramanuja, Sabdabodhamimamsa, (Part II - Case Terminations and Their Significance), Institute Francais De Pondicherry & Rashtriya Sanskrit Sansthan, 2008
- नागेशभट्टः, लघुशब्देन्दुशेखरः (भैरवी-व्याख्यासहितः), डॉ. तेजः पालशर्मा (सम्पा.), संपूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी, २००२।
- कौण्डभट्टः, वैयाकरणभूषणसारः (श्रीहरिवल्लभकृत दर्पण-व्याखा संवलितः तथैव सुबोधिनी हिन्दीव्याख्योपेतश्च), डॉ. चन्द्रिकाप्रसाद द्विवेदी (हिन्दीव्याख्याकारः), चौखाम्बासंस्कृतप्रतिष्ठानम्, दिल्ली, २०१८।
- कौण्डभट्टः, वैयाकरणभूषणसारः, डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र (सम्पा.), संपूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी, १९८८।
- पतञ्जलिः, व्याकरण-महाभाष्यम्, प्रो. जयशङ्करलाल त्रिपाठी (व्याख्याकारः) चौखाम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, २०१७।
- तर्कालङ्कारः जगदीशः, शब्दशक्तिप्रकाशिका, शास्त्री, पण्डितदुण्डिराज (सम्पा.), चौखाम्बासंस्कृतसंस्थानम्, वाराणसी, २००२।
- नागेशभट्टः, वैयाकरणसिद्धान्त-परमलघुमञ्जूषा (किरणावली- संस्कृतव्याख्योपेत-हिन्द्यनुवादसहिता), आचार्य लोकमणिदाहाल (व्याख्याकारः), चौखाम्बासुरभारतीप्रकाशनम्, वाराणसी, २०१८।
- भर्तृहरिः, वाक्यपदीयम् (ब्रह्मकाण्डम्), सूर्यनारायण शुक्ल, रामगोविन्द शुक्ल (सम्पादकौ), चौखाम्बासंस्कृतसंस्थानम्, वाराणसी, २०१६।
- पाणिनिः, अष्टाध्यायी, खेमराज श्रीकृष्णदास, स्वकीये श्रीवेङ्कटेश्वर मुद्रणालये, मुम्बई, १८१९।

-----

## वेदे तक्मा यक्ष्मा च

### मधुमिता गराइ\*

#### शोधसारः

वेदः एव आयुर्वेदस्य मूलमिति। ऋग्वेदः अथर्ववेदश्च रोगारोग्यसम्पर्कितैः बहुभिः तथ्यैः सुसमृद्धः। ऋग्वेदे ज्वरविषये कतिपयाः मन्त्राः विद्यन्ते। तत्र अस्मिन् विषये बहूनि तथ्यानि उपलभ्यन्ते। अथर्ववेदे एवम् उक्तं यदा मानवदेहे ज्वरस्योत्पत्तिः भवति तदा शरीरे प्रदाहः जायते। अनेन कारणेन तापवृद्ध्या सह आक्रान्तो जनः प्रलापं करोति। अतः प्रबन्धेऽस्मिन् इमं विषयद्वयमधिकृत्य आलोचनं कृतम्।

**कुञ्चीशब्दाः** - कृमिः, राक्षसः, यातुधानः, अमीवा, राजयक्ष्मा, तक्मा, ज्वरः, छिक्का, काशः, कफः, यक्ष्मा, जङ्गिडमणिः, आज्जनमणिः, चिपुद्रुः।

#### प्रस्तावना

वेदे आयुर्वेदस्य बीजं निहितमस्ति। आयुषः अर्थात् जीवनसम्पर्कितानां विभिन्नानां विषयाणां वर्णनं वैदिकसाहित्ये विक्षिप्तरूपेण उपलभ्यते। आयुर्वेदः अथर्ववेदस्योपाङ्गमिति उच्यते। महर्षिः चरकः आयुषः लक्षणप्रसङ्गे अवदत् -

आयुर्हिताहितं व्यध्येर्निदानं शमनं तथा।

विद्यते यत्र विद्वद्भिः सः आयुर्वेदः उच्यते।। इति।<sup>१</sup>

सुस्थव्यक्तेः स्वास्थ्यरक्षणं, रुग्णव्यक्तेः प्रशमनं च आयुर्वेदस्य उद्देश्यम्। वेदे आयुर्वेदस्य विविधानि तथ्यानि उपलभ्यन्ते। चिकित्साविषये अनेकेषां तथ्यानां सन्धानम् अत्र प्राप्यते। प्राचीनकाले रोगचिकित्सार्थम् मूले प्रकृतिजातानि द्रव्याणि व्यवह्रयन्ते स्म। इदं वा वक्तुं शक्यते वैदिकयुगे चिकित्सापद्धतिः प्रकृतेः उपरि निर्भरासीत्। यथा- विभिन्नैः ओषधिमूलैः चिकित्सा, जलचिकित्सा, वायुचिकित्सा, सूर्यकिरणैः चिकित्सा च। ऋग्वेदः अथर्ववेदश्च आयुर्वेदसम्पर्कितैः बहुभिः तथ्यैः सुसमृद्धः। अतः वेदः एव आयुर्वेदस्य मूलमिति मन्ये। तेषां मध्ये आयुर्वेदस्य अनेकाः मौलिकसिद्धान्ताः लभ्यन्ते। भिन्नानां रोगाणां वर्णनं प्राप्यते। रोगनिरामयाय अनेकेषां ओषधिद्रव्याणां अधिकपरिमाणेन व्यवहारः दृश्यते। संहिताग्रन्थे ब्राह्मणग्रन्थे च रोगस्य द्विविधं कारणं शारीरिकम् आगन्तुकं च स्वीकृतम्। शारीरिकः कायिकः वा रोगः शरीरस्य मध्ये जातः रोगः। आगन्तुकरोगः जीवाणुसंक्रमणेन कोऽपि उत्पन्नरोगः। अयं बहिः आगत्य शरीरस्य मध्ये प्रवेशं कृत्वा रोगसृष्टिं करोति। शारीरिकरोगस्य बोधनार्थं 'अमिवा' इति शब्दस्य प्रयोगः वेदे दृश्यते। आगन्तुकरोगस्य क्षेत्रे कृमिः राक्षसः यातुधानः प्रभृतयः शब्दाः व्यवहृताः। 'तक्मा' इति शब्दस्य साधारणार्थः 'जरः' तथा 'यक्ष्मा' इति शब्दस्य व्यवहारः यस्य कस्यापि रोगस्य साधारणार्थे प्रयोगाय भवति। कठोरव्याधेः वा

\* शोधछात्रा, संस्कृतविभागः, रवीन्द्रभारती विश्वविद्यालयः, कोलकाता, पश्चिमवङ्गः।

महाव्याधे क्षेत्रे 'राजयक्ष्मा' इति शब्दस्य प्रयोगः दृश्यते।

● ज्वरः ऋग्वेदे अथर्ववेदे च

ऋग्वेदचिकित्सायाः एकं मूलं साधनमासीत् देवतां निकषा प्रार्थना स्तुतिः वा। वरुणः इन्द्रः रुद्रः अश्विनौ इत्यादीन् देवताः प्रति प्रार्थना निवेदिता। ऋग्वेदे द्वयोः ओषधयोः वा ततोधिक ओषधिद्रव्याणां मिश्रितरूपेण चिकित्साकर्मणि प्रयोगस्य उल्लेखः न वर्तते। अनेन कारणेन इदं वक्तुं शक्यते आरोग्यविज्ञानं प्रारम्भिकावस्थायामासीत्। परवर्तिनिकाले आयुर्वेदग्रन्थेषु ओषधिद्रव्याणां व्यवहारसमये द्वयोः द्रव्ययोः ततोधिकानां द्रव्याणां वा मिश्रितरूपेण प्रयोगः लभ्यते। वेदे उल्लेखः अस्ति यत् विभिन्नानां जीवाणुसंक्रमणानां कारणेन बहोः रोगव्याधेः सृष्टिर्भवति। ज्वरः भवति। तेषां रोगाणां मध्ये ज्वरः अन्यतमः। अथर्ववेदे उक्तं यदा मानवदेहे ज्वरस्योत्पत्तिः भवति तदा शरीरे सर्वेषु अङ्गेषु प्रदाहः भवति। अनेन कारणेन तापवृद्ध्या सह आक्रान्तो जनः प्रलापं करोति।

अग्नेरिवास्य दहत एति शुष्मिण उतेव मत्तो विलपन्नपायति।

अन्यमस्मदिच्छतु कं चिद्व्रतस्तपुर्वधाय नमो अस्तु तक्मने॥

(अथर्ववेदः, ६.२०.१)

अन्यस्मिन् मन्त्रे ज्वरस्य दूरीकरणाय रुद्रदेवतां, वरुणदेवतां, पृथिवीं, द्युलोकं, पृथिव्यां उत्पन्नान् ब्रौहीन् अन्यानि ओषधिद्रव्याणि च प्रति नमस्कारः निवेदितः। यथा -

नमो रुद्राय नमो अस्तु तक्मने नमो राज्ञे वरुणाय त्विषीमते।

नमो दिवे नमः पृथिव्यै नम ओषधीभ्यः॥

(अथर्ववेदः, ६.२०.२)

अपि च संहितायां पित्तज्वरस्य उल्लेखः वर्तते। अयं ज्वरः मानवशरीरस्य सर्वान् वर्णान् रूपान् शोणितान् च दुषितां करोति अपि च शरीरं पीतवर्णेन व्याप्तं करोति। अस्मै ज्वराय अपि नमस्कारः दृश्यते-

अयं यो अभिशोचयिष्णुर्विश्वा रूपाणि हरिता कृणोषि।

तस्मै तेऽरुणाय बभ्रवे नमः कृणोमि वन्याय तक्मने॥

(अथर्ववेदः, ६.२०.३)

ऋग्वेदज्वरविषये कतिपयाः मन्त्राः विद्यन्ते। यत्र अस्मिन् विषये बहूनि तथ्यानि लभ्यन्ते। अपरस्मिन् मन्त्रे ज्वरस्य शत्रुरूपेण वर्णनं कृत्वा अग्निं, सोमं, वरुणदेवं च निकषा प्रार्थना क्रियते। यथा वर्हिषा, समिधा च प्रदीप्तः भूत्वा ज्वरं बाधितं कुरु, यज्ञेन हवनेन वा ज्वररूपस्य शत्रोः दूरं कुरु। ज्वरनाशस्य उपायानां मध्ये अयं मुख्यः उपायः आसीत् इति वक्तुं शक्यते। तथा हि उक्तम् -

अग्निस्तकनामप वाधतामितः सोमा ग्रावा वरुणः पुतदक्षा।

वेदिर्वर्हिः समिधः शोशूचाना अप देवषांसामुया भवन्तु॥

(अथर्ववेदः, ५.२२.१)

अपि च ज्वरः मानवं शुष्कं, क्षीणं, अग्नितुल्यं सन्तप्तं च करोति इति उल्लेखः अपि प्राप्यते। यथा-

अयं यो विश्वान् हरितान् कृणोष्युच्छोचयन्नग्निरिवाभिदुन्वन्।

अथा हि तक्मन्नरसो हि भूया अथा न्यङ्ङधराङ् वा परेहि॥

(अथर्ववेदः, ५.२२.२)

कस्मिंश्चित् मन्त्रे इमं क्लेशदायकं ज्वरं गान्धारे, मुजवाति अङ्गेषु मगधेषु च देशेषु प्रेरयित्वा मानवेभ्यः सुखप्रदानस्य वार्तां प्रददाति -

गन्धारिभ्यो मुजवद्भ्योऽङ्गेषु मगधेभ्यः।  
प्रैष्यन् जनमिव शेवधिं तक्मानं परि ददमसि॥

(अथर्ववेदः, ५.२२.१४)

इति मन्त्रे शीतज्वरस्य नाम प्राप्यते। अस्य ज्वरस्य लक्षणप्रसङ्गे एवम् उक्तं अस्मिन् ज्वरे काशः, कम्पनं च भवतः। अस्य ज्वरस्य दूरीकरणस्य उपायः इति मन्त्रे विहितः। यथा -

यत् त्वं शीतोऽशु रूरःसह कासावेपयः।  
भीमास्ते तक्मन् हेतयस्ताभिः स्म परि वृङ्गिध नः॥

(अथर्ववेदः, ५.२२.१०)

ग्रीष्मे, वर्षासु, शरदि च ऋतुषु ऋतुपरिवर्तनस्य कारणेन यः ज्वरः भवति तस्य दूरीकरणस्य उल्लेखः इति मन्त्रे प्राप्यते। यथा -

तृतीयकं वितृतीयं सदन्दिमुत शारदम्।  
तक्मानं शीतं रूरं ग्रीष्मं नाशय वार्षिकम्॥

(अथर्ववेदः, ५.२२.१३)

ज्वरचिकित्साविषये द्वयोः ओषधेः नाम प्राप्यते। यथा - जङ्गिडमणिः आज्जनमणिः च। जङ्गिडमणेः साहाय्येन क्लेशकरस्य तक्मरोगस्य दूरीकरणस्य उपायः इति अस्मिन् मन्त्रे वर्णितः। यथा -

आशरीकं विशरीकं बलासं पृष्टयामयम्।  
तक्मानं विश्वशारदमरसां जङ्गिडस्करत्॥

(अथर्ववेदः, १९.३४.१०)

आज्जननामकस्य ओषधेः उल्लेखः प्राप्यते। अनया ओषध्या ज्वररोगस्य नाशः भवति इति मन्त्रे उक्तः-

त्रयो दासा आज्जनस्य तक्मा वलास आदहिः।  
वर्षिष्ठः पर्वतानां त्रिककुन्नाम ते पिता॥

(अथर्ववेदः, ४.९.८)

अपि च अन्यत्र उक्तं प्राणनाशकाः रोगाः आज्जनस्य प्रभावेन विनष्टाः भवन्ति। अथर्ववेदस्य एकस्मिन् मन्त्रे वलासः इति पदस्य अर्थः श्लेष्मरोगः कृतः। अपि च उक्तं ज्वरेण सह काशः श्लेष्मणः च निविडः सम्पर्कः विद्यते -

अस्थिस्त्रंसं परुस्त्रं समास्थितं हृदयामयम्।  
बलासं सर्वं नाशयाङ्गेषु यश्च पर्वसु॥

(अथर्ववेदः, ६.१४.१)

● ऋग्वेदे अथर्ववेदे च यक्ष्मप्रसङ्गः

ऋग्वेदस्य दशममण्डलस्य एकषष्ट्यधिके शततमसंख्यके सूक्ते राजयक्ष्मा अज्ञातयक्ष्मा च इति रोगद्वयस्य वर्णनं प्राप्यते। केन उपायेन द्वयोः रोगयोः दूरीकरणं भवति तस्मिन् विषये वर्णनं प्राप्यते। अनेन रोगेन आक्रान्तं रुग्णजनं केन प्रकारेण मृत्युमुखात् प्रत्यानयति इति विषयेऽपि स्पष्टरूपेण उल्लेखः वर्तते। अस्य सूक्तस्य अस्मिन् मन्त्रे रुग्णव्यक्तिं उद्देश्यं कृत्वा उक्तम् -

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कम् अज्ञातयक्ष्मात् उत राजयक्ष्मात्।

ग्राहिः जग्राह यदि वा एतत् एनम् तस्याः इन्द्राग्री प्रमुमुक्तमेनम्॥

(ऋग्वेदः, १०.१६१.१)

मन्त्रेऽस्मिन् भाष्यकारसायणाचार्येण 'हविषा' इति पदस्य 'हविषा अनेन चरुणा साधनेन होमेन' इति अर्थः कृतः। तस्माद् हविषा यज्ञसामग्या इति। सः यज्ञसामग्री अनयोः द्वयोः रोगयोः निरामयस्य कारणम् इति वदति। अस्य वेदस्य दशममण्डलस्य त्रिषष्ट्यधिके शततमसंख्यके सूक्ते विभिन्नेभ्यः अङ्गेभ्यः यथा - अक्षिभ्यां, नासिकाभ्यां, कर्णाभ्यां, चिवुकात्, मस्तिकात् जिह्वायाः च यक्ष्मरोगस्य दूरीकरणार्थं निर्देशः प्राप्यते-

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि।

यक्ष्मं शीर्ष्यण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते॥

(ऋग्वेदः, १०.१६३.१)

अपि च ग्रीवायाः, धमन्याः, स्नायोः, अस्थः, स्कन्धात्, बाहुभ्यां यक्ष्मरोगस्य निर्मूलार्थम् उपायः उल्लिखितः -

ग्रीवाभ्यः ते उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनुकयात्॥

यक्ष्मं दोषण्य मंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते॥

(ऋग्वेदः, १०.१६३.२)

शरीरस्य सर्वेभ्यः अङ्गेभ्यः सन्धिस्थानात् यक्ष्मरोगनिर्मूलस्योपाय उपलभ्यते। ऋग्वेदस्य दशममण्डलस्य त्रिषष्ट्यधिके शततमे मन्त्रेऽस्मिन् विद्यते। अस्य वेदस्य दशममण्डलस्य द्विषष्ट्यधिकस्य सूक्तस्य देवता विषयः वा 'रक्षोहा' इति विशेषणेन विभूषितः। अस्मिन् सूक्ते जीवाणुभ्यः रक्षणस्य उपायः वर्णितः। अथर्ववेदस्य द्वितीये काण्डे त्रयस्त्रिंशे सूक्ते सप्तसु मन्त्रेषु यक्ष्मरोगविनाशस्य वर्णनं प्राप्यते। अस्य वेदस्य तृतीये काण्डे एकादशसूक्तस्य प्रथमे मन्त्रे हवनेन क्षयरोगं दूरं कृत्वा दीर्घजीवनदानस्य वार्ता वर्तते -

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कम् अज्ञातयक्ष्मात् उत राजयक्ष्मात्।

ग्राहिः जग्राह यदि वा एतत् एनम् तस्याः इन्द्राग्नी प्रमुमुक्तमेनम्॥

(अथर्ववेदः, ३.११.१)

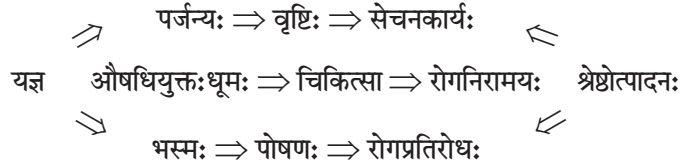
अस्मिन् मन्त्रे यक्ष्मा राजयक्ष्मा च शब्दद्वयं भिन्नयोः अर्थयो प्रयुज्यते। शरीरमध्ये यत् विषम् अस्ति तत् अपि यक्ष्मा इति शब्देन अभिधीयते -

विसल्पस्य विद्रधस्य वातीकारस्य वालजेः।

यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहम् त्वत्॥

(अथर्ववेदः, ९.८.२०)

गुग्गुलस्य धूमेण यक्ष्मनाशः भवति। अयं उल्लेखः अथर्ववेदस्य ऊनविंशकाण्डे पञ्चत्रिंशसूक्ते प्रथमेषु त्रिषु मन्त्रेषु वर्तते। सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थानस्य पञ्चमे अध्याये चतुर्दशश्लोके धूपनद्रव्येषु गुग्गुलस्य नाम प्राप्यते। चरकसंहिताग्रन्थे<sup>२</sup> अत्रिपुत्रः आत्रेयः राजयक्ष्मणः रोगस्य चिकित्सायां यज्ञस्य निर्देशम् अकरोत्। यज्ञेन वायोः शुद्धिकरणं भवति। यत्र किमपि वस्तु न सहसा गन्तुं शक्यते तत्र धूमः सरलतया एव गन्तुं शक्नोति। धूमः एवं किञ्चिद् वस्तु यत् सूक्ष्मात् अपि सूक्ष्मतरस्रोतसि गन्तुं शक्यते।<sup>३</sup> यज्ञेन वायोः शुद्धिकरणं तथा च अनेन कारणेन रोगस्य निरामयं कथं सम्भवति तस्य वर्णनं मैत्रायणीसंहितायां उल्लिखितः अस्ति।<sup>४</sup> अत्र रेखाचित्रेण यज्ञेन सह रोगनिर्मूलस्य सम्बन्धः बोधनार्थं प्रवेष्टा क्रियते -



तैत्तिरीयसंहितायाम् उक्तं चन्द्रमा अनेन रोगेन सर्वप्रथमः आक्रान्तः अभवत्। अतः अनेन कारणेन अयं रोगः 'राजयक्ष्मा' इति उच्यते।<sup>५</sup> सायणाचार्येण उक्तं राजयक्ष्मा एव वर्तमानकालस्य क्षयरोगः इति। राजयक्ष्मरोगस्य तुलनप्रसङ्गे सुश्रुतसंहितायाम् उक्तम् - 'राज्ञश्चन्द्रमसो यक्ष्माभूदेष'। यजुर्वेदेऽपि यक्ष्मरोगस्य उत्पत्तेः वर्णनाप्रसङ्गे भेदत्रयं स्वीक्रियते। यथा- राजयक्ष्मा, पापयक्ष्मा जायान्यं च। अत्र जायान्यशब्दस्य अर्थः स्पष्टरूपेण न लभ्यते। विभिन्नाः विद्वांसः अस्मिन् विषये भिन्नानि मतानि पुष्पन्ति। अपि च काठकसंहितायां, मैत्रायणीसंहितायां शतपथब्राह्मणे च कतिपयेषु मन्त्रेषु यक्ष्मरोगस्य उल्लेखः उपलभ्यते।<sup>६</sup> राजयक्ष्मणा सह अज्ञातयक्ष्मा इति शब्दस्य अपि उल्लेखः प्राप्यते। अज्ञातयक्ष्मा शब्दस्यार्थः 'अज्ञातरोगः' इति। चरकसंहितायां महर्षिः चरकः आलङ्कारिक इव राजयक्ष्मरोगस्य उत्पत्तेः विषये वर्णनम् अकरोत्।<sup>७</sup>

ज्वरेण भोजने अनिच्छा क्षुधामान्द्यं च दृश्यते। मलिनस्य हेतोः अयं रोगः अधिकः भवति। अधिकमेधस्य कारणेन अपि अयं रोगः भवति। ज्वरेण शरीरे अजीर्णरोगः भवति। अयं रोगः कस्मिन् स्थाने अधिकः भवति तस्मिन् विषये वेदे उक्तं यस्मिन् स्थाने पर्याप्तपरिमाणः घासः अस्ति, जङ्गले, वर्षायुक्तस्थाने भवति। सूर्यकिरणं शुद्धवायुः च यत्र न गन्तुं शक्नोति तत्र अस्य रोगस्य प्रकोपः अतीव दृश्यते। अस्य रोगस्य कारणेन किं परिवर्तनं भवति तस्मिन् विषये वेदे अवदत् येन कारणेन शरीरस्य शक्तेः क्षीणं भवति, मुखं रक्तवर्णं भवति, जिह्वायाः स्वादानुभवशक्तिः नष्टा च भवति। अथर्ववेदे उक्तं ज्वरेण सह कास-कफ रोगयोः वृद्धी भवतः। अतः कासः कफः च ज्वरस्य मित्रे इति उच्यते। ज्वररोग न केवलं कतिपयेषु अङ्गेषु भवति परन्तु समग्रशरीरे एव भवति।

वेदे ज्वरशब्दस्य स्थाने तक्मन् इति शब्दस्य प्रयोगः भवति। ज्वर इति शब्दः न प्राप्यते। ज्वरः

वरुणस्य पुत्रः इत्युच्यते। वरुणः जलस्य देवता। अतः इदं वक्तुं शक्यते यत् जलात् ज्वररोगस्य सृष्टिः भवति। महर्षिः चरकः अवदत् ज्वररोगः सर्वेषां रोगाणां मुख्यम्। अपि चरकेन ज्वररोगस्य लक्षणप्रसङ्गे एवम् उक्तं ज्वरः सर्वेषां प्राणिनां प्राणानां हरणं करोति, देहं इन्द्रियं मनः च क्लिष्टं करोति शरीरं सन्तप्तं करोति च। शरीरे वात-पित्त-कफस्य दूषणाय विभिन्नानां ज्वराणां उत्पत्तिर्भवति। ऋतुपरिवर्तनस्य कारणाद् अपि ज्वरः भवति। अतः एषां ऋतुणां नामानुसारेण ज्वराणां नामकरणं भवति यथा- शरद् ज्वरः, ग्रीष्मः ज्वरः, वर्षा ज्वरः शीतः ज्वरः च इति कथ्यते।

कुष्ठौषधिसेवनेन तक्मरोगस्य विनाशः भवति। अथर्ववेदे उक्तं इयमोषधिः सर्वेषां रोगाणां नाशका इति। विषमज्वरे अस्याः ओषधेः धूमेन उपकारः भवति। अपि च शतवारमणिना अस्य रोगस्य नाशः भवति। विषमज्वरः सन्निपातज्वरः इत्युच्यते। अष्टाङ्गहृदयग्रन्थे वाग्भटाचार्य वदति- वातपित्तकफानां मिश्रणैः अयं सन्निपातरोगः भवति इति। मानवाः अजीर्णभोजनेन, दूषितेन अन्नसेवनेन दूषितेन जलसेवनेन अनेन रोगेण आक्रान्ताः भवन्ति। अस्य ज्वरस्य लक्षणप्रसङ्गे वाग्भटाचार्येण उक्तं आक्रान्ताः शरीरे पुनः पुनः प्रदाहः भवति, शरीरस्य विभिन्नेषु अङ्गेषु वेदना जायते, चक्षुषः जलं निपतति दिवानिद्रा च भवति। अथर्ववेदे उक्तं वैश्वानरः अग्निः यक्ष्मरोगस्य विनाशकः इति। अथर्ववेदेन कथितम् अज्ञातयक्ष्मरोगस्य चिकित्सायां चिपुद्रुना ओषध्या मानवानां उपकारः प्राप्यते।

#### उपसंहारः

उपर्युक्तात् आलोचनात् साधारणतया अयं बोध्यते यत् यक्ष्मा राजयक्ष्मा च इमौ द्वौ शब्दौ समानार्था इति मन्यते परन्तु उभययोः मध्ये यथेष्टं पार्थक्यं परिलक्षते। जनेषु तक्मा, यक्ष्मा राजयक्ष्मा च एषां रोगाणां प्रादुर्भावः भवति। अनेन कारणेन वेदे एषां रोगाणां उल्लेखाः आलोचनानि च विभिन्नेषु मन्त्रेषु उपलभ्यन्ते। यद्यपि एभ्यः रोगेभ्यः आरोग्यलाभस्य उपायाः अत्र स्पष्टतया न वर्तन्ते तथापि वेदात् संगृह्य परवर्तिनि काले आयुर्वेदस्य युगे चरकसंहितायां सुश्रुतसंहितायां च विशेषं विधानं दृश्यते। अतः इदं वक्तुं शक्यते चिकित्साविज्ञानस्य अकस्मात् प्रादुर्भावः न भवति। मानवस्य शरीर-स्वास्थ्यविषये अनुशीलनस्य एकः दीर्घः इतिहासः वर्तते। ऋग्वेदस्य अथर्ववेदस्य च अनुशीलनेन इदं परिस्फुटं भवति। अस्याम् दृष्टौ वेदः केवलं न 'अखिलधर्ममूलम्' 'बहुविज्ञानमूलम्' अपि इति वक्तुं शक्यते।

#### तथ्यसूत्रानि

१. चरकसंहिता, सूत्रस्थानम्, प्रथमाध्यायः।
२. चरकसंहिता, चिकित्सास्थानम्, ४.१८९
३. लीनश्चेद् दोषशेषः स्या धूमैस्तं निहरेद्। चरकसंहिता, चिकित्सास्थानम्- १७.७७
४. मैत्रायणीसंहिता, २.५.७, ४.१४.१२, 'अग्निमारुत-काम्ययोग'।
५. तैत्तिरीयसंहिता, २.५.६
६. काठकसंहिता, १३.३, मैत्रायणीसंहिता, २.२७, शतपथब्राह्मणम्, ४.१.३९
७. चरकसंहिता, चिकित्सास्थानम्, ८.३-१०

#### सन्दर्भग्रन्थसूची

- अथर्ववेदः। (सायण-भाष्य-संहिता)। सम्पादकः रामस्वरूपः शर्मा गौड़ः। वाराणसी : चौखम्बा

विद्याभवन, २००३।

- अथर्ववेदः। (सुबोध-भाष्य-सहिता)। सम्पादकः श्रीपाद-दामोदर-सातवलेकरः। किल्ला- पारडी, जिला-बलसाड, गुजरात : स्वाध्याय-मण्डल, १९९०।
- अष्टाङ्गसंग्रहम्। सम्पादकः रविदत्तः त्रिपाठी। दिल्ली चौखम्बा : संस्कृत प्रतिष्ठान, पुनर्मुद्रण, २०१५।
- ऋग्वेदः। (सायण-भाष्य-सहिता)। अनुवादः सम्पादकः च रामगोविन्दः त्रिवेदी। वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन, २००७।
- ऋग्वेदः। (सुबोध-भाष्य-सहिता)। सम्पादकः श्रीपाद-दामोदर-सातवलेकरः। किल्ला- पारडी, जिला-बलसाड, गुजरात : स्वाध्याय-मण्डल, १९८३।
- काठकसंहिता। सम्पादकः श्रीपाद-दामोदर-सातवलेकरः। किल्ला- पारडी, जिला-बलसाड, गुजरात : स्वाध्याय-मण्डलः, १९८३।
- चरकसंहिता। सम्पादकः ब्रह्मानन्दः त्रिपाठी। वाराणसी : चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, पुनर्मुद्रण, २०१६।
- तैत्तिरीयसंहिता। सम्पादकः श्रीपाद-दामोदर-सातवलेकरः। किल्ला- पारडी, जिला-बलसाड, गुजरात : स्वाध्याय-मण्डल, १९८३।
- वाजसनेयीसंहिता। (माध्यन्दिन शाखा), हिन्दी अनुवादः सम्पादकः च रामकृष्णः शास्त्री। वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन, २००७।
- मैत्रायणीसंहिता। सम्पादकः श्रीपाद-दामोदर-सातवलेकरः। किल्ला- पारडी, जिला-बलसाड, गुजरात : स्वाध्याय-मण्डल, १९८३।
- यजुर्वेदः। (सुबोध-भाष्य-सहिता) श्रीपाद-दामोदर-सातवलेकरः। किल्ला-पारडी, जिला- बलसाड, गुजरात : स्वाध्याय-मण्डलः, २०१०।
- शतपथब्राह्मणम्। (हिन्दी-अनुवादः सहिता) सम्पादकौ गंगाप्रसादः उपाध्यायः गोविन्दरामः हासानन्दः च। दिल्ली, २०१०।
- सुश्रुतसंहिता। सम्पादकः अनन्तरामः शर्मा। वाराणसी : चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, पुनर्मुद्रण, २०१३।
- सुश्रुतसंहिता। सम्पादकौ कालीकिङ्करः सेनशर्मा सत्यशेखरः भट्टाचार्यः च। कलकाता : दीपायण, तृतीयसंस्करणः, २०१३।

-----

## भारतीयदर्शनेषु अहिंसा

विनय कुमार\*

### शोधसारांशः

जनैः शान्तिः अपेक्षते। शान्त्या सुखञ्च भवतीति सुविदितम्। शान्तिः अहिंसया भवति। हिंसया परस्परद्वेषः अहिंसया परस्परप्रीतिः भवतः। हिंसया मनसि विकारः, अहिंसया आनन्दश्च जायेते। युद्धादिना किमपि साध्यितुं न शक्यते। प्रीत्या एव सर्वं सध्यम् इति महात्मना गान्धीमहोदयेन भणितं वर्तते। अहिंसा परमोधर्मः इति सर्वैश्चपि भारतीयदर्शनेषु एककण्ठेन प्रतिपादितमस्ति। मताचार्याः तन्मतानुयायिनश्च जगत् सत्यं मिथ्या वा? इत्यादिनानाविषयेषु विवदमानैः विचारेषु विभिन्नदृष्टिपन्थानमनुसरद्विरपि अयं विषयः एकीभूय उद्घोषितः। एवं रीत्या शान्तिसन्देशः भारतदेशेन दत्तं वर्तते। अत एव भारतदेशः विश्वगुरुः इति कथ्यते। दार्शनिकैः अहिंसास्वरूपः भिन्नभिन्नरीत्या न्यरूपि। तदस्मिन् लेखने निगदितम्॥

जगत्यां नैके मताः विद्यन्ते। तत्तत् मतप्रवर्तकमताचार्याः तन्मतानुयायिनश्च जगत् सत्यं मिथ्या वा? इत्यादिनानाविषयेषु विवदमानाः वर्तन्ते इति सुविदिम्। विचारेषु विभिन्नदृष्टिपन्थानम् अनुसरद्विरपि विषयमेकं एकीभूय उद्घोषितम् - 'अहिंसा परमो धर्मः'<sup>१</sup> सर्वैरपि अहिंसा अनुष्ठ्या, प्राणिहिंसा न कार्या इति। अहिंसया लोककल्याणं भवति। हिंसा पापसाधनं भवति। अहिंसा तु पुण्यसाधनम्। अहिंसया लोके शान्तिः जनानां सुखञ्च भवतः। श्रूयते च अहिंसामाहात्म्यम् अग्निपुराणे -

भूतापिडा ह्याहिंसा स्यात् अहिंसा धर्म उत्तमः।

यथा गजपदेऽन्यानि पदानि पथगामिनाम्।

एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमभिधीयते॥<sup>२</sup> इति।

महाभारतयुद्धकाले समुद्भूतमहाभारतपुष्पमधुभूतगीतायां अहिंसाप्राधान्यं प्रतिपादितम् 'अहिंसा प्रथमं पुष्पम्'<sup>३</sup> इति अहिंसायाः प्राधान्यं निरूपितम्। 'अहिंसा सत्यमस्तेयशौचमिन्द्रियनिग्रहाः यमाः'<sup>४</sup> इति यमनियमादिष्वपि प्रथमस्थानं अहिंसायाः एव। उक्तं च अहिंसासामान्यलक्षणम् -

कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा।

अक्लेशजननं प्रोक्तमहिंसा परमर्षिभिः॥<sup>५</sup>

इति कूर्मपुराणे मनोवाक्कर्मभ्यः सर्वभूतेषु क्लेशजननम् अहिंसा इत्युक्तम्। सा अहिंसा भारते विविधस्तरे आचरिता वर्तते। अस्य कारणं तु तत्सिद्धान्तगत-अहिंसास्वरूपभेदः।

### जैनमते अहिंसा

सर्वभूतेषु दया करणीया इति सर्वैः अङ्गीकृता। परन्तु तद्विषये अतीवनिष्ठा जिनानुयायिभिः प्रदर्शिता।

\* शोधार्थी, पूर्णप्रज्ञसंशोधनमन्दिरम्, बेङ्गलूरुः, कर्नाटकः

तत्सूचनार्थमिव सर्वत्र महावीरस्य प्रतिमायाः अधः 'अहिंसा परमो धर्मः' इति वाक्यं दृश्यते। उमास्वामिविरचिते तत्त्वार्थसूत्रनामके जैनमूलग्रन्थे हिंसा लक्षणमेवं भणितम् - 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यारोपणं हिंसा'<sup>६</sup> इति। अस्यार्थः इन्द्रियदोषः प्रमादः। तेन युक्तः प्रमत्तः। तादृशेन प्रमत्तेन यथाकथमपि इन्द्रियाणां विनियोगकरणं हिंसा इत्युच्यते। अतः जैनैः आसने, आहारे, व्यवहारे च नियमविशेषाः आचरिताः वर्तन्ते। मोक्षसाधनतया पञ्चविधसमितयः न्यरूपयत् जैनयोगशास्त्रकारः हेमचन्द्रसूरिः - १. ईर्यास्मितिः २. भाषासमितिः ३. एषणासमितिः ४. अदानसमितिः ५. उत्सर्गसमितिः<sup>७</sup> इति। हेमचन्द्राचार्यः तदर्थान् व्याचष्टे। यत्र जनानां गमनागमनं बहु दृश्यते, तेन मार्गेणैव सञ्चारः कर्तव्यः। जनसमूहे सति तत्र प्राणिसञ्चरः न भवति। अतः हिंसा निवर्तते। सूर्योदयादारभ्य सूर्यास्ताभ्यन्तरसमये एव सञ्चारः विहितः। तदतिरिक्ते रात्रि समये सञ्चारे क्रियमाणे आलोकाभावनिमित्तेन प्राणिनामुपरि पादनिक्षेपादिना प्राणिहिंसा भवति। प्रातः अपि यत्र जन्तवः न स्युः तत्रैव पादनिक्षेपादिकं कृत्वा गमनं कर्तव्यम्। इषा ईर्यासमितिः इत्युच्यते। तदेवोक्तम् -

लोकातिविहिते मार्गे चुंबिते भास्वदंशुभिः।

जन्तुरक्षार्थमालोक्य गतिरीर्या मता सताम्।<sup>८</sup> इति।

भाषासमितेः लक्षणं तु उत्तमवाचा व्यवहारः, अपशब्दादीनां अप्रयोगः, सर्वजनहितकारि विषयप्रयोगः।

अवद्यत्यागतःसर्वजनोनं मितभाषणम्।

प्रिया वाचयमानां सा भाषासमितिरुच्यते।<sup>९</sup>

द्विचत्वारिंशदोषैः विमुक्तं भिक्षान्नभोजनम् एषणासमितिरिति कथ्यते -

द्विचत्वारिंशता दोषैर्नित्यमदूषितम्।

मुनिर्यदन्नमादत्ते सैषणासमितिर्मता।<sup>१०</sup>

प्राणिपीडा यथा न स्यात् तथा आसने उपविष्य ध्यानकरणम्, तानि आसनादीनि ग्रहणसमये स्थापनसमये च रजोहरणादिना शुद्धीकरणं, तदनन्तरमेव तेषां उपयोगः आदानसमितिरिति उच्यते -

आसनादीनि संवीक्ष्य प्रतिलिख्य च यन्ततः।

गृह्णीयात् निक्षिपेद्वा यत्सादानसमितिस्मृता।<sup>११</sup>

कफमूत्रमलविसर्जनसमयेपि जन्तवः यत्र न स्युः, तादृशप्रदेशे जागरूकतया विसर्जनं उत्सर्गसमितिरिति कथ्यते।

कफमूत्रमलप्रायैः निर्जन्तुजगतीतले।

यत्नाद्यदुत्सृजेत्साधुः सोत्सर्गसमितिर्भवेत्।<sup>१२</sup>

परन्तु जन्तवः सर्वत्र सन्ति, उक्तञ्च -

जले जन्तुः स्थले जन्तुः आकाशे जन्तुरेव च।

जन्तुमालाकुले लोके कथं भिक्षुरहिंसकः।<sup>१३</sup>

इति स्वयमेव प्रश्नं कृत्वा तत्त्वार्थसूत्रटीकाकारः भास्करानन्दः समाधानमपि प्रदत्ते। जन्तवः द्विविधाः स्थूलाः सूक्ष्माश्च। जैनभिक्षवः सदा ध्यानज्ञानपरायणाः अतः इन्द्रियदोषनिमित्तेन तैः हिंसा न विधीयते।

सूक्ष्माः जन्तवः अशरीरिणः इति तेषां हिंसा एव कर्तुं न शक्यते। एतादृशदोषविमुक्ताः एव मोक्षार्हाः। 'अप्रमत्तः स मोक्षार्हो नेतरो जैनशासने।' अन्ये निरयार्हाः इति जैनसिद्धान्तः। जिनदत्तसूरिणा जैनभिक्षुलक्षणमुक्तम् - 'सरजोहरणाः भैक्ष्यभुजः लुञ्छितमूर्धजाः' इति। ते हस्ते पिच्छीकां गृहीत्वा सञ्चारसमये सूक्ष्मप्राणिनां गमनागमनं यथा न स्यात्, तथा करप्रसणादिपूर्वकं गच्छन्ति। स्वशरीरस्थकेशानपि केशोल्लुण्ठनं परमसुखमिति सुखैर्नैव निष्कासन्ति। यदि कर्तर्या वपनं क्रियते, तदा केशमध्यपतितप्राणीनां हिंसा स्यात् इति तेषाम् आचरणाभिप्रायः। सायाहानन्तरं ते भिक्षां न स्वीकुर्वन्ति। कौशेयं न धरन्ति, मधु न पिबन्ति। जैनानां एतादृशानि आचारणानि जगति बहु आयाससाध्यानि।

### महाभारते अहिंसा

'अहिंसा परमो धर्मः' इति रणाङ्गणे शरतल्पे शयानेन भीष्मेन अहिंसाचातुर्विध्यं निरूपितम् -

१. कायिकी २. वाचिकी ३. मानसिकी ४. जैहिकी चेति।

### कायिक्यहिंसा

क्रोधाद्वा क्रीडार्थं वा प्राणिहिंसा अकारणं कायिक्यहिंसा। तदाह बृहस्पतिः -

अहिंसकानि भूतानि दण्डेन विनिहन्ति यः।

आत्मनः सुखमन्विच्छन् न स प्रेत्य सुखी भवेत्॥<sup>१४</sup>

आत्मसंरक्षणार्थं, हिंस्रकपशूनां आक्रमणेन अन्येषां संरक्षणार्थं तेषां हननं युज्यते, न पुनः विनोदार्थम्। अत एव दिलीपादिज्ञानिराजानः मृगयां प्रति गच्छन्ति स्म। अन्यथा वने हिंस्रकपशूनामेव सङ्ख्या अधिकं भवति। यदा हिंस्रकपशूनां सङ्ख्या वने अधिकं भवति। तदा ते वने आहारं अप्राप्य समीपपल्लीस्थ-बहूपयोगिगोमहिषादीनां भक्षणं कुर्युः। अतः प्रकृतौ समत्वरक्षणार्थं मृगया इति प्रक्रियां आचरन्ति स्म। 'लिप्यते न हि दोषेण नचैतत्पातकं विदुः' इति विषयमेतत् समर्थितमपि।

### वाचिक्यहिंसा

यत्सतां अत्यन्तहितप्रदं तादृशवाग्व्यापारः वाचिकी- अहिंसा इति गीयते। कठोर-कटु-तीक्ष्ण-अवाच्य-पदानां वाक्यानां प्रयोगः अत्र निषिध्यते। प्रियवाक्यप्रयोगः अत्र विधीयते। एवं रूपेण अत्र वाचिक्यहिंसायाः स्वरूपः कथितः।

### मानसिक्यहिंसा

मनसापि अन्येषां पापाचिन्तनं रागद्वेषाणां अनिग्रहणं मानसिकी-अहिंसा इति कथ्यते। रागद्वेषत्यागः कठिनतमविचारः। मनसा अपि पापाचिन्तनं न कर्तव्यम् इति विचारः कष्टकरः। अतः मानसिक्यहिंसा आचरणं कठिनतमम् इति विद्वांसैः अङ्गीक्रियते।

### जैहिकी अहिंसा

मांसभक्षणं जैहिकी हिंसा भवति। तच्चोक्तम् -

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति।

नारदः प्राह धर्मात्मा नियतम् सोऽचसीदति॥<sup>१५</sup>

अतः यः अध्यात्मज्ञानं शास्त्रज्ञानं वा अर्जितुमिच्छति, तेन अवश्यं मांसभक्षणं त्याज्यम्। ननु ऋषयः

महाभारतादिकालेषु मांसभक्षणं चक्रुः, अथापि ते आध्यात्मिकौत्रत्यं प्रपतुः, अतः आध्यात्मसिद्धये मांसभक्षणत्यागः नानिवार्यकर्म इति केचन आक्षिपन्ति। सत्यम्, ऋषयः मांसभक्षणं चक्रुः, परन्तु तदा मांसभक्षणं क्रत्वापि आध्यात्मौत्रत्यसाधनसामर्थं तेषां आसीत्। अथ च स युगान्तरविषयः सनातनपद्धतौ प्रतियुगं कालानुरोधेन विभिन्ननियमाः धर्मशास्त्रे विहिताः। तदनुरोधेन विप्राणां आध्यात्मौत्रत्यमिच्छतां मांसभक्षणं कलियुगे सर्वथा निषिद्धमेव। अन्यैरपि हिंसाकारणतः त्याज्यं मांसभक्षणम्। ननु अहं मया हिंसा न विधीयते, यः कोपि घातयति, मया तु मांसः केवलं भक्ष्यते, मम पापं नास्ति इति वादः मनसि जायते। तस्यापि उत्तरं महाभारते समुल्लिखितम्। वधः त्रिविधः भवतुमर्हति -

१. यः धनेन मांसं क्रीणाति सः हन्ता।
२. यः खादति सोऽपि घातकः।
३. यः घातयति बन्धयति सोऽपि हन्तकः। अन्यच्च -

यदि चेत्खादको न स्यात् न तदा घातको भवेत्।

घातकः खादकार्थाय तं घातयति वै नरः।<sup>१६</sup>

अतः यदि वयं न मांसं न भक्षयामः तर्हि हिंसा निवर्तते। अतः मांसभक्षणं न कर्तव्यं इति भावः। अन्यच्च कारणं निरूपितं तत्रैव -

मां स भक्षयते यस्मात् भक्षयिष्ये तमप्यहम्।

इति मांसस्य मांसत्वम् .....।<sup>१७</sup>

अतः भयनिमित्तेन वा पापनिमित्तेन वा अहिंसावृत्तरूपकारणेन वा मांसभक्षणाकरणं श्रेयः इति महाभारताभिप्रायः

### योगशास्त्रे अहिंसा

योगसूत्रस्य साधनपादे यमनियमाः अवश्यम् अनुष्ठेयाः इति न्यरूपि 'अहिंसासत्यमस्तेयब्रह्मचर्या-परिग्रहाः यमाः'<sup>१८</sup> इति यमेषु अहिंसायाः प्रथमस्थानं प्रदत्तम्। तत्रैव अहिंसासाधनेन परिपक्वस्य पुरुषस्य माहात्म्यमपि उक्तम् - 'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः'<sup>१९</sup> इति। अस्यार्थः अहिंसावृत्तेन परिपक्वस्य पुरुषस्य परिसरे वैरभावः, द्वेषभावः अपगच्छति। भाष्यकारः सर्वप्राणिनां भावति इति भाष्यं जगाद। अस्यार्थः न केवलं मनुष्याणाम्, हिंसकपशूनां मिथोऽपि वैरत्यागः भवति। सिंहः हरिणश्च, नकुलः सर्पश्च एकत्र निवसन्ति। अतः पूर्वं ऋष्याश्रमे हिंसाः साधवश्च प्राणिनः एकत्र वैरभावं त्यक्त्वा निवसन्ति स्म इति श्रूयते।

### द्वैतमते अहिंसा

द्वैतमतस्थापकमध्वाचार्याः स्वरचिते तन्त्रसारे 'अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ यमाः'<sup>२०</sup> इति अहिंसायाः स्वरूपं अपूर्वतया आविश्चक्रुः। ब्राह्मणवैश्यशूद्राणां च दण्डाधिकारः नास्त्येव। क्षत्रियाणां विशेषतः दण्डाधिकारः अस्ति इति आचार्येण निरटङ्कितम्। उक्तञ्च महाभारततात्पर्यनिर्णये -

शरीरदण्डसन्त्यागः पुत्रभार्यादिकान् ऋते।

तत्रापि नाङ्गहानिस्त्यात् वेदना वा चिरं न तु।<sup>२१</sup>

विप्रस्य सामस्त्येन दण्डत्यागः। किन्तु पुत्रस्य शिष्यस्य च शिक्षणादिविषये दण्डनार्हताऽस्ति। परन्तु दण्डेन तेषामङ्गवैकल्यं, अङ्गहानिः वा चिरवेदना च न भवेत्। अतः उपवासादिलघुदण्डः दातुं शक्यते। सा हिंसा इति न कथ्यते इति भावः। अन्यच्च - 'शरीरदण्डविषये वैश्यादीनां च विप्रवत्'<sup>२२</sup> यदि क्षत्रियाणाम् अहिंसा विधीयते तर्हि लोकव्यवस्थायां नीतिव्यवस्थायां च अव्यवस्था स्यात्। मांसभक्षणमपि सर्वेषां निषिद्धम् इति कस्मिन्नपि स्मृतिग्रन्थे उक्तं गृह्यसूत्रे धर्मशास्त्रग्रन्थे वा नोक्तः। सर्वत्र विप्राणां मांसभक्षणाधिकारः नास्ति। अपि च इतराणां मांसभक्षणं न श्रेयस्करम् इत्येव विहितम्। आचार्योऽपि भागवत्तात्पर्ये -

घ्राणभक्षोऽथवा यज्ञे दैवे सर्वस्य चेष्ट्यते।  
क्षत्रियादेः न विप्राणां विप्रो दोषेण लिप्यते।<sup>२३</sup>

इति अश्वमेधयज्ञादिषु मांसभक्षणं विहितमपि घ्राणभक्षणं एव कुर्यात्। क्षत्रियाणां तु मांसभक्षणं न दोषाय इति तात्पर्यम्।

**उपसंहारः**

यदि लोके सर्वेऽपि सस्याहारिणः एव भवेयुः चेत्, आहाराभावः उत्पद्येत् वा इति जिज्ञासाऽपि भवति। अम्बेड्कर-महोदयोऽपि निरटङ्कितं यत् हिन्दूनां धर्मशास्त्रे वा मनुस्मृतौ सर्वैरपि कर्तव्यमेव इति न निरूपितम्, किन्तु अकरणं श्रेयः इति विहितम्। अति अहिंसावादिनः बौद्धजैनाः राज्ञां सहकारेण मधुमांसवर्जनं सार्वत्रिकं चक्रुः। अहिंसा, वैदिकं कर्म, ध्यानम्, इन्द्रियनिग्रहः, तपः, गुरुशुश्रूषा, एतेषां मध्ये पुरुषं प्रति किं श्रेयस्करमिति इति युधिष्ठिरः पप्रच्छ। तदा बृहस्पतिराह -

'सर्वाण्येतानि धरमस्य पृथग्द्वाराणि सर्वशः।। इति।

अतः 'अहिंसा परमो धर्मः' इत्यस्य अहिंसापि परमो धर्मः इत्यर्थः। अतः अहिंसाचरणं व्यक्तिस्तरे विहितधर्मः। समूहस्तरे राष्ट्रस्तरे वा तस्य विधानम् अश्रेयस्करम्। अति-अहिंसावादिनः जैनबौद्धाः नैकान् क्षत्रियराजान् स्वमतियान् कृत्वा, अहिंसाबोधनं चक्रुः। नपुंसकक्षत्रियान् असृजन्। तत्परिणामेन अशोकराजान्तरकाले भारतमाता अरबाणां म्लेच्छानां च आक्रमणं सोढुं असमर्थः सञ्जातः इति केचन इतिहासज्ञाः स्वाभिप्रायं प्रकटयन्ति। अत एव उक्तिः प्रसिद्धा खलु -

'धर्मस्याचरणं श्रेयः धर्मज्ञानन्तु दुष्करम्।' इति।

**सन्दर्भग्रन्थाः**

१. मध्वविजयव्याख्या ५.८, संवत्सरः - २०१०, रचयिता - विश्वपतितीर्थाः, सम्पादकः - एस्. आर्. पाण्डुरङ्गः। प्रकाशनसंस्था - द्वैतवेदान्ताध्ययनसंशोधनप्रतिष्ठानम्, बेङ्गलूरु।
२. अग्निपुराणम् ३७२.२, संवत्सरः - २००९, रचयिता - महर्षिवेदव्यासः, प्रकाशनसंस्था - गीताप्रेस गोरखपुर।
३. तन्त्रसारसंग्रहः ४.१३७, संवत्सरः - २००९, रचयिता - मध्वाचार्यः, सम्पादकः - डॉ. तिरुमल कुलकर्णीः, प्रकाशनसंस्था - पूर्णप्रज्ञसंशोधनमन्दिरम्, बेङ्गलूरु।
४. महाभारतम्, संवत्सरः - १.१.१३, रचयिता - महर्षिवेदव्यासः, सम्पादकः - पि. एस्. शेषगिरि आचार्यः, प्रकाशनसंस्था - तत्त्वसंशोधनसंस्थ, उडुपि।

५. कूर्मपुराणम् ११.१४, संवत्सरः - २०१६, रचयिता - महर्षिवेदव्यासः। प्रकाशनसंस्था - गीताप्रेस गोरखपुर।
६. तत्त्वार्थसूत्रम्, संवत्सरः - २०११, रचयिता - उमास्वामी, सम्पादकः - विजय् के जैन्, प्रकाशनसंस्था - वीरशसनसङ्घ, कलकत्ता ।
७. योगसूत्रम् - ३४, संवत्सरः - २००६, सम्पादकः - प्रो. के. एस्. अर्जुन वडकर, प्रकाशनसंस्था - भण्डारकर ओरियण्टल् रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पुणे।
८. योगसूत्रम् - ३५, संवत्सरः - २००६, सम्पादकः - प्रो. के. एस्. अर्जुन वडकर, प्रकाशनसंस्था - भण्डारकर ओरियण्टल् रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पुणे।
९. योगसूत्रम् - ३७, संवत्सरः - २००६, सम्पादकः - प्रो. के. एस्. अर्जुन वडकर, प्रकाशनसंस्था - भण्डारकर ओरियण्टल् रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पुणे।
१०. योगसूत्रम् - ३८, संवत्सरः - २००६, सम्पादकः - प्रो. के. एस्. अर्जुन वडकर, प्रकाशनसंस्था - भण्डारकर ओरियण्टल् रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पुणे।
११. योगसूत्रम् - ३९, संवत्सरः - २००६, सम्पादकः - प्रो. के. एस्. अर्जुन वडकर, प्रकाशनसंस्था - भण्डारकर ओरियण्टल् रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पुणे।
१२. तत्त्वार्थसूत्रव्याख्या ७.१३, संवत्सरः - २००९, रचयिता - भास्करानन्दः, सम्पादकः - पं. सुखलालजी सङ्घ्वी, पार्श्वनाथविद्यापीठम्, वारणासी।
१३. महाभारतम्, संवत्सरः - २०१२, रचयिता - महर्षिवेदव्यासः, सम्पादकः - पि. एस्. शेशगिरि आचार्यः, प्रकाशनसंस्था - तत्त्वसंशोधनसंसत्, उडुपि।
१४. महाभारतम्, संवत्सरः - २०१२, रचयिता - महर्षिवेदव्यासः, सम्पादकः - पि. एस्. शेशगिरि आचार्यः, प्रकाशनसंस्था - तत्त्वसंशोधनसंसत्, उडुपि।
१५. महाभारतम्, संवत्सरः - २०१२, रचयिता - महर्षिवेदव्यासः, सम्पादकः - पि. एस्. शेशगिरि आचार्यः, प्रकाशनसंस्था - तत्त्वसंशोधनसंसत्, उडुपि।
१६. मनुस्मृतिः, संवत्सरः - २०१३, रचयिता - मनुः, सम्पादकः - शिवरज आचार्यः, प्रकाशनसंस्था - चौखम्भा विद्याभवनम्, वारणासी।
१७. योगसूत्रम् - २.३०, संवत्सरः - २००६, सम्पादकः - प्रो. के. एस्. अर्जुन वडकर, प्रकाशनसंस्था - भण्डारकर ओरियण्टल् रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पुणे।
१८. योगसूत्रम् - २.३५, संवत्सरः - २००६, सम्पादकः - प्रो. के. एस्. अर्जुन वडकर, प्रकाशनसंस्था - भण्डारकर ओरियण्टल् रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पुणे।
१९. तन्त्रसारङ्ग्रहः ४.१३७, संवत्सरः - २००९, रचयिता - मध्वाचार्यः, सम्पादकः - डॉ. तिरुमल कुलकर्णी, प्रकाशनसंस्था - पूर्णप्रज्ञसंशोधनमन्दिरम्, बेङ्गलूरु।
२०. महाभारततात्पर्यनिर्णयः, संवत्सरः - २०११, रचयिता - मध्वाचार्यः, सम्पादकः - पं. हयवदनपुराणिक आचार्यः, प्रकाशनसंस्था - पूर्णप्रज्ञसंशोधनमन्दिरम्, बेङ्गलूरु।
२१. महाभारततात्पर्यनिर्णयः, संवत्सरः - २०११, रचयिता - मध्वाचार्यः, सम्पादकः - पं. हयवदनपुराणिक आचार्यः, प्रकाशनसंस्था - पूर्णप्रज्ञसंशोधनमन्दिरम्, बेङ्गलूरु।
२२. भागवततात्पर्यम्, संवत्सरः - २०१८, रचयिता - मध्वाचार्यः, सम्पादकः - डॉ. विश्वेशतीर्थश्रीपादाः,

पूर्णप्रज्ञप्रतिष्ठानम्, बेङ्गलूरु।

२२. महाभारततात्पर्यनिर्णयः, संवत्सरः - २०११, रचयिता - मध्वाचार्यः, सम्पादकः - पं. हयवदनपुराणिक  
आचार्यः, प्रकाशनसंस्था - पूर्णप्रज्ञसंशोधनमन्दिरम्, बेङ्गलूरु।
२३. महाभारतम्, संवत्सरः - २०१२, रचयिता - महर्षिवेदव्यासः, सम्पादकः - पि. एस् शेशगिरि आचार्यः,  
प्रकाशनसंस्था - तत्त्वसंशोधनसंसत्, उडुपि।
-

## नीतिशतकम् - अध्ययनमेकम्

डॉ. गुंजन गर्ग\*

**शोधसारांशः** - संस्कृतसाहित्ये महाकविभर्तृहरिकृत् नीतिशतकं प्रमुखं मुक्तककाव्यमस्ति। काव्येऽस्मिन् मानवजीवने कल्याणपरकः नीतिगतशतश्लोकानां संग्रहो वर्तते। येषु अहङ्कारालस्यधनकर्मकौशलक्षीणतातुच्छताज्ञानीतेजस्वीदैवधीरतादुर्जनसत्संगतिविद्यादयः विविधविषयाः वर्णिताः। ग्रन्थेऽस्मिन् महाकविनां शतश्लोकमाध्यमेन समाजस्य कृते नीतिगतशिक्षा प्रदत्ता। शोधपत्रेऽस्मिन् एतेषां नीतिगतश्लोकानामध्ययनं कृत्वा बिन्दुरूपेण विविधविषयाः प्रदर्शिताः।

**संकेतशब्दाः** - ब्रह्मा, पण्डितः, वित्तं, धनं, एकत्वं, आलस्यं, क्रोधः, कविः, दुर्जनः, भाग्यानि, परोपकारी, मनस्विनः, चातकः इत्यादयः।

संस्कृतसाहित्यस्य मुक्तककाव्यपरम्परायां महाकविभर्तृहरिकृत्नीतिशतकं प्रमुखम्। मुक्तककाव्येषु प्रत्येकं पद्यं स्वतन्त्रं भवति तस्य स्वकीयो अर्थः भवति। नीतिशतके सरलभाषानिर्मितं गूढार्थविशिष्टशतश्लोकानां संग्रहो वर्तते। एतस्मात् कारणात् ग्रन्थोऽयं संस्कृतसाहित्ये लोकप्रियः। न केवलं विद्वांसः अपितु साधारणजनाः अपि नीतिशतकस्य श्लोकानां पाठनं स्वजीवने कुर्वन्ति। विविधजनाः स्वभाषणं रुचिकरं मधुरं च कर्तुं नीतिशतकस्य श्लोकपाठनं कुर्वन्ति। अतः नीतिशतकस्य श्लोकानां अध्ययनं कृत्वा विषयबद्धरूपेण तेषां प्रस्तुतिः अस्मिन् शोधपत्रे क्रियते।

महाकविभर्तृहरिणा लोकव्यवहारस्य अध्ययनं कृत्वा एते नीतिगतश्लोकाः निर्मिताः। अत्र शत लोकेषु महाकविभर्तृहरिणा अहङ्कारालस्यधनकर्मकौशलक्षीणतातुच्छताज्ञानीतेजस्वीदैवधीरता-दुर्जनसत्संगतिविद्यादयः विविधविषयाः वर्णिताः। यान् निम्नबिन्दुषु द्रष्टुं शक्नुमः -

**मंगलाचरणम्** - संस्कृतसाहित्ये ग्रन्थारम्भे सर्वप्रथमं निर्विघ्नसमाप्त्यर्थं मङ्गलाचरणं क्रियते। ग्रन्थेऽस्मिन् नीतिशतके महाकविभर्तृहरिः संस्कृतपरम्परानिर्वहणार्थं दिक्कालातीताय अनन्तचिन्मयस्वानुभूतिस्वरूपाय विकारोपद्रवरहिताय ज्योतिरूपाय ब्राह्मणे नमस्कारं करोति -

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये ।

स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे॥<sup>१</sup>

**अर्थः** - मानवजीवने अर्थस्य विशेषमहत्त्वं वर्तते। जीवनस्य प्रतिक्षेत्रे अवस्थायाञ्च धनस्य प्रभावो भवति। महाकविभर्तृहरिणा विविध लोकेषु धनमहिमा वर्णिता। मानवस्य सर्वे गुणाः अर्थं विना तृणवत् भवन्ति-

येनैकेन विना गुणास्तृणलवप्रायाः समस्ता इमे॥<sup>२</sup>

\* सहायक आचार्य-संस्कृत, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय गंगापुर सिटी, सवाई माधोपुर, राजस्थान

यो जनः धनिकः स एव प्रधानो भवति। यदि परिस्थिवशाद् सो नरः निर्धनः भवति, तर्हि क्षुद्रः भवति।<sup>३</sup> धनवान् एव समग्रगुणानामाधारः भवति -

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः, स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः।  
स एव वक्ता स च दर्शनीयः, सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति।।<sup>४</sup>

अर्थस्य संरक्षणमपि दुष्करम्। धनस्य तिस्रः गतयः भवन्ति - दानं भोगो नाशश्च। यो धनं न ददाति न भुङ्क्ते तदेव धनं विनश्यति।<sup>५</sup> अर्थस्य लाघवेन गौरवेणैव च जनस्य महत्त्वं तु न्यूनं भवत्येव सहैव तस्यावश्यकताः परिस्थितयश्च परिवर्तिताः।<sup>६</sup> तस्य स्वभावोऽपि परिवर्तितो भवति। महाकविभर्तृहरिः मन्यते यत् लक्ष्मीः परमार्थज्ञातृ न अवरोद्धुं न समर्थाः -

अधिगतपरमार्थान् पण्डितान् माऽवमंस्था-  
स्तृणमिव लघु लक्ष्मीर्नैव तान् संरुणद्धि।।<sup>७</sup>

आलस्यम् - महाकविभर्तृहरिणा मनुष्याणां परम् शत्रुः आलस्यं मित्रञ्च परिश्रमो उक्तः -

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः।  
नास्त्युद्यमसमो बन्धुः कुर्वाणो नावसीदति।।<sup>८</sup>

एकत्वम् - मानवजीवने एकत्वभावनायाः महत्त्वं सर्वविदितमेव। वेदेष्वपि एकेश्वरवाददर्शनं प्राप्यते। अत्रापि नीतिशतककाव्ये कविः कथ्यते यत् एको देवो आराध्यो भवेत् केशवो शिवो वा। एको मित्रं भवेत् भूपतिः यतिर्वा निवासश्चपि एको भवेत् पत्नी चैका भवेत् -

एको देवः केशवो वा शिवो वा ह्येकं मित्रं भूपतिर्वा यतिर्वा।  
एको वासः पत्तने वा वने वा ह्येका भार्या सुन्दरी वा दरी वा।।<sup>९</sup>

कविः - महाकविभर्तृहरिः मन्यते यत् जरामरणजं भयं विजेतारः सिद्धसारस्वतीकाः रसिकशिरोमणयः कालत्रयाभिज्ञाः कवीन्द्रवर्य्या आकल्पान्तं जयन्ति। ते स्वयशेन जगति अमरोऽभवत् -

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।  
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम्।।<sup>१०</sup>

जगति गुणाग्राहिणां जनानामभावे सुभाषितं वक्तुर्मुखाभ्यन्तरे एव विलीनं, न बहिर्विकासमगम् -

बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः।  
अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमङ्गे सुभाषितम्।।<sup>११</sup>

विदुषां कवीनां निर्धनता कुपरीक्षकानां नृपतीनामेव मूर्खतां सूचयति -

तज्जाड्यं वसुधाधिपस्य कवयस्त्वर्थं विनाऽपीश्वराः।  
कुत्स्याः स्युः कुपरीक्षका हि मणयो यैरर्घतः पातिताः।।<sup>१२</sup>

क्रोधः - यथाग्निः प्रज्वलितो भूत्वा दहत्येव तथैव क्रोधोऽपि सदैव अहितकरो भवति अतः उग्रक्रोधानां भूभुजां कोऽपि जनः आत्मीयो न भवति - न कश्चिच्चण्डकोपानामात्मीयो नाम भूभुजाम्।<sup>१३</sup>

कौशलः - महाकविमते कोऽपि प्राणिनां कौशलमपहर्तुं न समर्थः क्रुद्धो विधातापि हंसस्य कमलवनविहारमेवावरोद्धुं समर्थो, न त्वस्यदुग्धजलभेदनीतिमपहर्तुं -

अम्भोजिनीवनविहारविलासमेव, हंसस्य हन्ति नितरां कुपितो विधाता।

न त्वस्य दुग्धजलभेदविधौ प्रसिद्धां, वैदग्ध्यकीर्तिमपहर्तुमसौ समर्थः।।<sup>१४</sup>

क्षीणता - महाकविभर्तृहरिणा नीतिशतककाव्ये क्षीणतायाः अतिशोभनं वर्णनं कृतम्। शाणोल्लीढः मणिः, शस्त्राहतः विजयीवीरः, मदस्त्रावी गजः दातारः उदारजनाः च क्षीणतया शोभन्ते।<sup>१५</sup>

क्षणभंगुरता - ब्रह्मणा पृथिव्यां सर्वगुणसम्पन्नो नवरत्नं मानवः निर्मितः किन्तु स एव क्षणभंगुरः कृतः -

सृजति तावदशेषगुणाकरं पुरुषरत्नमङ्गकरणं भुवः।

तदपि तत्क्षणभङ्गं करोति चेदहह! कष्टमपण्डितता विधेः।<sup>१६</sup>

तेजस्विता - नीतिशतके महाकविभर्तृहरिणा तेजस्वीपुरुषाणां विशेषता वर्णिता। तेजस्विनः सूर्यकान्तमणिवत् अन्यैः कृतं तिरस्कारं न सहन्ते।<sup>१७</sup> प्रतापशालीजनः मदमलिनकपोलभित्तिगजमाक्रन्ता सिंहशिशुवत् भवति। यतोहि उक्तम् -

सिंहशिशुरपि निपतति मदमलिनकपोलभित्तिषु गजेषु।

प्रकृतिरियं सत्त्वतां न खलु वयस्तेजसो हेतुः।।<sup>१८</sup>

सत्यव्रतव्यसनिनः तेजस्विनः स्वप्रतिज्ञायाः हेतोः प्राणानपि त्यक्तुं उद्यन्ते।<sup>१९</sup>

तुच्छता - महाकविभर्तृहरिणा श्वानस्योदाहरणेन क्षुद्रता प्रकटिता -

कृमिकुलचितं लालाक्लिनन् विगन्धिजुगुप्सितं

निरुपमरसं प्रीत्या खादन्नरास्थि निरामिषम्।

सुरपतिमपि श्वा पार्श्वस्थं विलोक्य न शङ्कते

न हि गणयति क्षुद्रे जन्तुः परिग्रहफल्गुताम्।।<sup>२०</sup>

दुर्जनजनाः - नीतिशतककाव्ये विविधश्लोकेषु दुष्टपुरुषाणां प्रकृतिः चित्रिता। महाकविमते खलान् सुधास्यन्दिभिः सूक्तैः सन्मार्गं प्रवर्तितुं न शक्यते।<sup>२१</sup> दुरात्मनां प्रकृतयः कविना वर्णिताः -

अकरुणत्मकारणविग्रहः परधने परयोषिति च स्पृहा।

सुजनबन्धुजनेष्वसहिष्णुता प्रकृतिसिद्धमिदं हि दुरात्मनाम्।।<sup>२२</sup>

मणिभूषितसर्पवत् विद्यया अलंकृतोऽपि दुर्जनः परिहर्तव्यः।<sup>२३</sup> सः दुर्जनः सदैव गुणीनां गुणान् दोषपक्षे एव पश्यति।<sup>२४</sup> अतः कवि कथ्यते यत् दुष्टाः सदैव दूरतः त्यक्तव्याः। तेषां सङ्गेन कोऽपि सुखं न प्राप्यते।<sup>२५</sup> दुष्टाः अकारणवैरिणः भवन्ति -

मृगमीनसज्जनानां तृणजलसन्तोषविहितवृत्तीनाम्।

लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणो जगति।।<sup>२६</sup>

एवमेव राहुः पर्वविशेषे सूर्यचन्द्रौ एव ग्रसते।<sup>२७</sup>

**दैवः** - महाकविः भर्तृहरिः दैवस्य प्रबलतां स्वीकरोति। सर्वे प्राणिनः स्वभाग्यानुसारेण सर्वत्र सर्वदा सर्वास्वस्थास्वपि धनं समाप्नुवन्ति नाधिकं न वा न्यूनम्।<sup>२८</sup> महाकविना विविधोदाहरणैः दैवप्राधान्यं प्रदर्शितम्। यथा - सर्पग्राहिणः पेटिकायां कष्टमनुभवतः सर्पस्य मुखे भोजनाशया मूषकः विवरं कृत्वा प्रविष्टवान्। तत्र भोगी तमाखुं भक्षयित्वा मूषकविरचितेन छिद्रेण बहिर्यातः। अत्र दैवमेव कारणं यत् स्वतन्त्रः मूषकः तु मृतवान् बन्धितः सर्पः च भोजनमपि प्राप्तवान् मुक्तवान् च। अतः जनस्य उन्नत्यां हानौ च भाग्यमेव हेतुः -

**लोकाः! पश्यत दैवमेव नृणां वृद्धौ क्षये कारणम्।।<sup>२९</sup>**

इत्थमेव यदि सर्वसमर्थः इन्द्रोऽपि पराजयं प्राप्तवान्, तर्हि पौरुषं व्यर्थं भाग्यमेव प्रबलम्।<sup>३०</sup> भाग्यहीनजनस्य दुर्भाग्यं सदैव तेन सहैव भवति यथा सूर्यरश्मिभिः प्रताडितो भूत्वा खल्वाटः तालस्य मूले अगच्छत्। तत्रापि पतिता तालस्य महाफलेन तस्य शिरः भग्नवान्।<sup>३१</sup> मानवस्य पूर्वजन्मकृतपुण्यान्येव सौभाग्यरूपेणागच्छन्ति।

**भाग्यानि पूर्वतपसा खलु सञ्चितानि।**

**काले फलन्ति पुरुषस्य यथैव वृक्षाः।।<sup>३२</sup>**

यथा महाकविकालिदासेन कथितम् - भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र।<sup>३३</sup> तथैव महाकविभर्तृहरिणापि उक्तम् - नाभाव्यं भवतीह कर्मवशातो भाव्यस्य नाशः कुतः।<sup>३४</sup>

विधात्रा लिखितमवश्यमेव भवत्येव। भाग्येनैव मानवः सुखं दुःखं वा प्राप्नोति। सूर्यचन्द्रयोर्ग्रहपीडनं गजसर्पयोरपि बन्धनं बुद्धिमतां दरिद्रतां विलोक्य निश्चितमिदं भवति यत् भाग्यमेव प्रधानम्।<sup>३५</sup> एवमेव महाकविना मतं यत् जन्मकाले विधात्रा यस्य भाले यदङ्कितं वर्तते न कोऽपि तमन्यथाकर्तुं शक्यते -

**पत्रं नैव यदा करीरविटपे दोषो वसन्तस्य किम्  
नोलूकोऽप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम्।  
धारा नैव पतन्ति चातकमुखे मेघस्य किं दूषणम्  
यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः।।<sup>३६</sup>**

**धीरपुरुषाः** - महाकविभर्तृहरिणा नीतिशतके धीरपुरुषाणां देवैः समानता कृता। धीराः दृढनिश्चयाद् न विरमन्ति - सुधां विना न प्रययुर्विरामं न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः।<sup>३७</sup> धीरपुरुषाणां प्रशंसा कुर्वन् कविः कथयति -

**निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु  
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।  
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा  
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।।<sup>३८</sup>**

धीरजनः विपत्तिभिः प्रताडितो भूत्वापि स्वधैर्यं न त्यजति - कदर्थितस्यापि हि धैर्यवृत्तेर्न शक्ये धैर्यगुणः प्रमार्ष्टुम्।<sup>३९</sup> सः धीरः स्वधैर्यगुणेन लोकत्रयमपि जयति।<sup>४०</sup>

पुण्यवान् - महाकविभर्तृहरिणा कथितं यत् पितुराज्ञापालकः पुत्रः, पत्युर्हितमिच्छन्ति पत्नी, आपद्विपदोरेकरूपं सुहृत् चेति महता पुण्येन मानवः प्राप्नोति।<sup>४१</sup> इहलोके पूर्वकृतं सुकृतं विना विपरीतपस्थितिषु जीवनसंरक्षणं न भवति -

वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये महार्णवे पर्वतमस्तके वा।

सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि।।<sup>४२</sup>

यस्य नरस्य पूर्वपुण्यानि सञ्चितानि तस्य कृते सर्वं सुलभं भवति -

कृत्स्ना च भूर्भवति सन्निधिरत्नपूर्णा।

यस्यास्ति पूर्वसुकृतं विपुलं नरस्य।।<sup>४३</sup>

परोपकारः - परोपकारपरायणाः जनाः वृक्षमेघवत् समृद्धिभिः अतिविनीताः भवन्ति -

भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैर्नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः।

अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणाम्।।<sup>४४</sup>

परोपकारीजनस्य काया परोपकारैः शोभते। सज्जनाः स्वयमेव परहिते संलग्नाः भवन्ति सन्तः स्वयं परहिते विहिताभियोगः।<sup>४५</sup>

पराक्रमः - शूरवीरः रविवत् स्वपराक्रमेण सकलानि दमयितुं शक्नोतीति -

एकेनापि हि शूरेण पादाक्रान्तं महीतलम्।

क्रियते भास्करेणैव स्फारस्फुरिततेजसा।।<sup>४६</sup>

अर्थात् यथा प्रदीप्तो भास्करः स्वरश्मिभिः समस्तां वसुधां व्याप्नोति तथैव वीरपुरुषः सकलं लोकं स्वशौर्येण विजित्य नैजं स्वामित्वं स्थापयति। वीरता एव मानवस्याभूषणमस्ति, अतः कविः कथयति यत् हिमालयपुत्रमैनाकस्य इन्द्रस्य वज्रेण पक्षच्छेदः वरम्, किन्तु पितुः हिमालयस्य विदपिग्रस्ते समुद्रजले सम्पातः नोचितः।<sup>४७</sup>

प्रकृतिः - संसारेऽस्मिन् सर्वे प्राणिनः स्वप्रकृतेरनुसारं व्यवहरोति कार्यञ्च कुर्वन्ति। श्वानः निर्मासमप्यस्थिं प्राप्य प्रसीदति। किन्तु सिंहः समीपमागतं शृङ्गालं त्यक्त्वा गजं प्रहरति - सर्वः कृच्छ्रगतोऽपि वाञ्छति जनः सत्त्वानुरूपं फलम्।<sup>४८</sup>

शुनकः भोजनदातुः अग्रे पुच्छं चालयद् वदनमुदरं च प्रदर्शयन् स्वां प्रसन्नतामभिव्यनक्ति, किन्तु गजः धैर्येण पश्यति चाटुकारैः च भोजनं खादति -

श्वा पिण्डदस्य कुरुते गजपुङ्गवस्तु

धीरं विलोकयति चाटुशतैश्च भुङ्क्ते।।<sup>४९</sup>

इत्थं सर्वे स्वाभावानुसारेण व्यवहारं कुर्वन्ति।

भगवत्कृपा - सकललोकशोकनिवारकस्य विष्णोः कृपया सर्वमनुकूलं सम्पद्यते -

सूनुः सच्चरितः सती प्रियतमा स्वामी प्रसादोन्मुखः

स्निग्धं मित्रमवञ्चकः परिजनो निःक्लेशलेशं मनः।

आकारो रुचिरः स्थिरश्च विभवो विद्यावदातं मुखं  
तुष्टे विष्टपकष्टहारिणि हरौ सम्प्राप्यते देहिना।।<sup>५०</sup>

भूमिः - महाकविभर्तृहरिमते प्रजारक्षकः राजा वत्समिव प्रजां प्ररिपाल्य गामिव धरां दोग्धुं समर्थः  
भवेत् भूमिश्च कल्पलतेव फलीभूता -

तस्मिंश्च सम्यगनिशं परिपोष्यमाणे  
नानाफलैः कल्पलतेव भूमिः।।<sup>५१</sup>

स्वाभिमानीजनाः - स्वाभिमानीनामग्रेसरः सिंहः बुभुक्षया क्षीणोऽपि जरया कुशोऽपि क्षीणशक्तिः  
अपि स्वहतं हस्तिं वाञ्छति, न कदापि शुष्कं शष्पमत्ति।<sup>५२</sup> इत्थमेव मनस्वीजनः विपत्तौ स्वाभिमानं न  
मुञ्चति।<sup>५३</sup> महाकविभर्तृहरिणा मतं यत् मनस्विनः पुष्पाणीव भवन्ति -

कुसुमस्तबकस्येव द्वयी वृत्तिर्मनस्विनः।  
मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य शीर्यते वन एव वा।।<sup>५४</sup>

सुखदुःखमगणयतो मनस्विनः सर्वदा कार्ये तत्पराः भवन्ति -

क्वचित् पृथिवीशय्यः क्वचिदपि च पर्यङ्कशयनः  
क्वचिच्छाकाहारः क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः।  
क्वचित् कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो  
मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम्।।<sup>५५</sup>

महापुरुषाः - महाकविभर्तृहरिणा विविधश्लोकेषु महापुरुषाणां चारित्रिकविशेषताः वर्णिताः  
महापुरुषाः सदैव जनकल्याणे प्रवृत्ताः भवन्ति। शेषनागः निजफणासु भूमेः भारं धारयति। कूर्मराजः शेषनागं  
स्वपृष्ठे वहति, तान् सर्वान् जलधिः अनायासे स्वाङ्गे विधत्ते। महानुभावानां महात्म्यमपरिमितम् - दहह!  
महतां निःसीमानश्चरित्रविभूतयः।<sup>५६</sup> विपत्तिकाले धृतिः, अभ्युदये सहिष्णुत्वं, वाक्पाटवं, रणे  
शौर्यप्रदर्शनं, कीर्तौ रुचिः वेदशास्त्रश्रवणे आसक्तिः महानुभावानां स्वभावसिद्धिमिदम् -

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।  
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ प्रकृतिसिद्धिमिदं हि महात्मनाम्।।<sup>५७</sup>

महाकविभर्तृहरिः महापुरुषाणां लौकिकाभूषणात् पृथक् स्वाभाविकमाभूषणं कथयति यत् -

करे श्लाघ्यस्त्यागः शिरसि गुरुपादप्रणयिता  
मुखे सत्या वाणी विजयी भुजयोर्वीर्यमतुलम्।  
हृदि स्वच्छा वृत्तिः श्रुतिमधिगतं च श्रवणयो-  
र्विनाऽप्यैश्वर्येण प्रकृतिमहतां मण्डनमिदम्।।<sup>५८</sup>

महतां हृदयं सम्पत्सु उत्पलवत् कोमलं विपत्सु च महाशैलसङ्घात इव कठिनं जायते अर्थात्  
महात्मानः अहङ्काररहिताः भवन्ति।<sup>५९</sup> शरणसमागतानामाश्रयदातारो महापुरुषाः सिन्धोः इव भवन्ति।<sup>६०</sup>

मित्रता - महाकविभर्तृहरिणा कथितं यत् दुर्जनमैत्री पूर्वाह्लाष्येव आरम्भसमये महती क्रमेण लघ्वी च

जायते। सुजनमैत्री तावत् अपराहृष्टायेव आदौ लघ्वी ततो वर्द्धिष्णुर्भवति।<sup>६१</sup> महाकविना क्षीरोदकयोः मित्रतायाः दृष्टान्तेन सज्जनमैत्री चारुतया प्रदर्शिता।<sup>६२</sup> सन्मित्रलक्षणानि उक्तं च महाकविना -

पापान्निवारयति योजयते हिताय  
गुह्यं निगूहति गुणान् प्रकटीकरोति।  
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले  
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः।।<sup>६३</sup>

मूर्खाः - महाकविभर्तृहरिणा विविध लोकेषु मूर्खानां वर्णनं कृतम्। मूर्खसंगतिः सर्वदा त्यक्तव्या -  
वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह।  
न मूर्खजनसम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि।।<sup>६४</sup>

अस्यां कर्मभूमौ जन्म प्राप्य यः कर्म न करोति स मन्दभाग्यः मूढः एव प्रतीयते।<sup>६५</sup> महाकविना विद्यातपदानज्ञानशीलगुणधर्मैः विरहिताः जनाः भुवौ भारभूताः पशवः मताः।<sup>६६</sup> सर्वकार्यं सम्भवः, किन्तु कोऽपि जनः मूर्खजनचित्तं नाराधयेत्।<sup>६७</sup> मौनमेव अज्ञानिनामाभूषणम् -

स्वायत्तमेकान्तगुणं विधात्रा विनिर्मितं छादनमज्ञतायाः।  
विशेषतः सर्वविदां समाजे विभूषणं मौनमपण्डितानाम्।।<sup>६८</sup>

जगति सर्वस्यौषधमस्ति परन्तु मूर्खस्य भेषजं नास्ति।<sup>६९</sup> ज्ञानरहितो जडः पशु इव भवति -  
साहित्यसंगीतकालाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।  
तृणं न खादन्नपि जीवमानस्तद्भागधेयं परमं पशूनाम्।।<sup>७०</sup>

याचनम् - महाकविभर्तृहरिणा मेघदृष्टान्तेन प्रदर्शितं यत् उदारो हि दाता याचकानां दीनां हीनां वाऽभ्यर्थनां विना तेभ्यो ददातीति -

त्वमेव चातकाधारोऽसीति केषां च गोचरः।  
किमम्भोदवरास्माकं कार्पण्योक्तं प्रतीक्षसे।।<sup>७१</sup>

इत्थमेव महाकविः चातकाम्भोददृष्टान्तेन याचकं शिक्षयति यत् अर्थिभिः सर्वत्र निजमनोरथो न प्रकाशनीय इति -

रे रे चातक सावधानमनसा मित्र! क्षणं श्रूयता  
मम्भोदा बहवो वसन्ति गगने सर्वेऽपि नैतादृशाः।  
केचिद् वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद् वृथा  
यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः।।<sup>७२</sup>

राजनीतिः - महाकविभर्तृहरिणा राजनीतेः स्वरूपं वराङ्गना इव विविधरूपं मतम्।

सत्याऽनृता च परुषा प्रियवादिनी च  
हिंसा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या।  
नित्यव्यया प्रचुरनित्यधनागमा च  
वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा।।<sup>७३</sup>

विद्या - महाकविभर्तृहरिः विद्याधनं प्रशंसते। विद्याख्यं धनं चौरादेः दृष्टिगतं न भवति। सर्वदा अनिर्वचनीयं सुखं वर्द्धयति। याचकेभ्यः दीयमानमपि वृद्धिं प्राप्नोति। प्रलयकालेष्वपि न विनश्यति। विद्याधनालंकृतविद्वांसः सर्वत्र माननीयाः एव। कोऽपि जनः एतैः सह न स्पर्धितुं समर्थः।<sup>७४</sup> महाकविः विद्यामहत्त्वं प्रकाशयति -

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं  
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरुणां गुरुः।  
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परा देवता  
विद्या राजसु पूज्यते न तु धनं विद्याविहीनः पशुः।।<sup>७५</sup>

विविधगुणानां प्रकाशयिता निर्दोषा विद्या श्रेयस्करी -

किं सर्पैर्यदि दुर्जनाः किमु धनैर्विद्याऽनवद्या यदि।  
ब्रीणा चेत्किमु भूषणैः सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम्।।<sup>७६</sup>

वाणी - मानवस्य सर्वश्रेष्ठमाभूषणं संस्कारयुक्ता वाण्येवास्ति। अन्यत् लौकिकाभूषणं तु क्षीयन्ते-

केयूराणि न भूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला  
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नाऽलंकृता मूर्धजाः।  
वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते  
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम्।।<sup>७७</sup>

विवेकभ्रष्टाः - महाकविः विवेकभ्रष्टजनानां पतनं स्वर्गात् पतितायाः गंगायाः उदाहरणेन प्रस्तौति-

शिरः शार्वं स्वर्गात् पशुपतिशिरस्तः क्षितिधरं  
महीध्रादुत्तुङ्गादवनिमवनेश्चापि जलधिम्।  
अधोऽधो गङ्गेयं पदमुपगता स्तोकमथवा  
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः।।<sup>७८</sup>

सज्जनपुरुषाः - महाकविना विविधश्लोकेषु सज्जनपुरुषाणां गुणाः वर्णिताः। महापुरुषः सत्पुरुषसमागमे प्रवृत्तिः, अन्यपुरुषदयादाक्षिण्यादौ प्रसन्नता, पूज्ये पित्रादौ विनयः, ज्ञानार्जने आसक्तिः, निजभार्यायां प्रेम, जननिन्दायाः भीतिः, शिवे भक्तिः, आत्मसंग्रहे संयमः इत्यादिभिर्गुणैः युक्तान् सज्जनेभ्यः प्रणमति।<sup>७९</sup> सज्जनैः गुप्तदानं अतिथिसत्कारं परोपकारं कृतज्ञता अनहङ्कारं निन्दाराहित्यम् असिधाराव्रतमिदं स्वतः एव प्राप्तम्।<sup>८०</sup> सन्ताः स्वसत्त्व्यवहारैः सदैव पूजनीयाः माननीयाः च।<sup>८१</sup> महाकविभर्तृहरिः सतां चेष्टावर्णनं करोति -

तृष्णां छिन्धि भज छमा जहि मदं पापे रतिं मा कृथाः  
सत्यं ब्रह्मानुयाहि साधुपदवीं सेवस्व विद्वज्जनम्।  
मान्यान्मानय विद्विषोऽप्यनुनय प्रख्यापय प्रश्रयं  
कीर्तिं पालय दुःखिते कुरु दयामेतत् सतां चेष्टितम्।।<sup>८२</sup>

संसारेऽस्मिन् विरला एव सन्ताः ये मनवाक्कर्मणा परोपकारे रताः -

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा-  
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः।  
परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं  
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः॥<sup>८३</sup>

यथा छिन्नोऽपि वृक्षः पुनरुद्गच्छति, क्षीणोऽपि शशी भूयः शुक्लपक्षे वर्द्धते तथैव सत्पुरुषाः दुःखेषु न परितप्ताः भवन्ति।<sup>८४</sup> मधुरभाषिभिः निजभार्यासन्तुष्टैः अन्यनिन्दापराङ्गमुखैः सज्जनैः शोभिता पृथिवी।<sup>८५</sup> सत्पुरुषाः कस्यामप्यवस्थायां दुर्जनान् क्षीणवित्तं मित्रञ्च न याचन्ते। उच्चविचारपद्धतिमवलम्बमाना उच्चपद्धत्यैव तिष्ठन्ति न किमपि मलिनं कार्यं स्वीकुर्वन्ति।<sup>८६</sup>

सत्संगतिः - महाकविभर्तृहरिणा सत्सङ्गते महत्त्वं कुर्वन् कथितं यत् वयं जगति सत्सङ्गत्या सर्वं प्राप्तुं शक्नुमः -

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यम्  
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।  
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं  
सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम्॥<sup>८७</sup>

संसर्गेणैव पश्यः अधममध्यमोत्तमगुणाः भवन्ति। सन्तप्ते लोहे प्रक्षिप्तं जलं ध्वस्तं भवति सरसिजे बिन्दुरूपेण स्थितं तत् मौक्तिकमेव दृश्यते। समुद्रे तु स्वातिनक्षत्रे शुक्तिमध्ये पतितं जलं सत्यमेव मौक्तिकं भवति।<sup>८८</sup> मलयपर्वतमाश्रिताः सर्वे कम्बोलनिम्बकुटजवृक्षाः चन्दनवृक्षसदृशाः सुगन्धिनः भवन्ति -

मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण  
कम्बोलनिम्बकुटजा अपि चंदनाः स्युः॥<sup>८९</sup>

सेवाधर्मः - सेवाधर्मो परम् दुष्करः। योगिनोऽपि धर्ममिदं ज्ञातुं न समर्थाः। सेवावृत्त्यां स्वाभिमानपूर्वकं जीवनमसम्भवम्। महाकविना सेवायाः अतिसुन्दरतमा व्याख्या कृता -

मौनान्मूकः प्रवचनपटुर्वातुलो जल्पको वा  
धृष्टः पार्श्वे वसति च सदा दूरतश्चाप्रगल्भः।  
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः।  
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः॥<sup>९०</sup>

शीलम् - महाकविभर्तृहरिणा मानवस्य परम् आभूषणं शीलं मतम् -

ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता शौर्यस्य वाक्संयमो  
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयो वित्तस्य पात्रे व्ययः।  
अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितुर्धर्मस्य निर्व्याजता  
सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम्॥<sup>९१</sup>

लोके हि शीलवान् पुरुषः परेषां प्रकृतिगुणं स्वरूपं च परावर्त्य सर्वं स्वानुकूलं सम्पादयितुं शक्नोति। शीलवतः समक्षे पावकः पानीयमिव सागरः सरिदिव सुमेरुः स्वल्पशिलेव मृगपतिः मृग इव सर्पः स्रगिव गरलः सुधारस इव सञ्जायत इति।<sup>१२</sup>

**विविधाः** - महाकविभर्तृहरिणा नीतिशतके नीतिपरकश्लोकाः प्रदर्शिताः। तेन स्वनीतिगतश्लोकेषु मानवस्य आदर्शचित्रं प्रस्तुतम्। कतिपयश्लोकेषु विविधगुणावगुणानां वर्णनं कृतम्। तेषां दर्शनमत्र कर्तुं शक्नुमः।

शास्त्रेषु प्राणिहिंसात् विमुखता अन्यधनग्रहणे अप्रवृत्तिः यथार्थभाषणं, उचितसमये यथाशक्त्या दानं, परस्त्रीविषयकवार्तासु मौनं लोभप्रवाहावरोधनं, पूज्येषु विनम्रता, सर्वप्राणिषु दया, सर्वशास्त्रेषु वर्णितं साधारणजनानां श्रेयसो मार्गोऽस्ति।<sup>१३</sup> महाकविः लोकस्थितिं कथयति यत् दुर्मन्त्रणात् राजा, योगी जनसम्पर्कात्, पुत्रः अतिस्नेहपूर्वकं लालनात्, ब्राह्मणः अध्ययनस्याभावात्, कुपुत्रात् वंशः, दुष्टसंगतेः सदाचारः, मदिरापानात् लज्जा, कृषिः पर्यवेक्षणाभावात्, परदेशनिवासात् प्रेम, स्नेहाभावात् मित्रता नीतिविरुद्धाचरणात् धनधान्यवृद्धिः असत्पात्रे व्ययात् आलस्यात् वा धनं न यति।<sup>१४</sup>

महाकविभर्तृहरिणा मन्यते यत् नृपेषु मर्यादापूर्वकशासनं, यशः, विप्राणां संरक्षणं, सत्पात्रे धनादिदानम्, ऐश्वर्योपभोगः मित्राणां रक्षा इत्यादयः गुणाः अवश्यमेव भवितव्याः।<sup>१५</sup>

विविधगुणावगुणसन्दर्भे महाकविनोक्तम् -

लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः  
सत्यं चेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम्।  
सौजन्यं यदि किं गुणैः सुमहिमा यद्यस्ति किं मण्डनैः  
सद्विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना।।<sup>१६</sup>

महाकविः दिने मलिनः चन्द्रः, नष्टतारुण्या कान्ता, कमलहीनं सरः, शोभनाकृतेः पुरुषस्य विद्याविहीनं मुखं वित्तलुब्धः स्वामी कष्टमापन्नः सत्पुरुषः राजसभायामुपस्थितो दुर्जनः इति सप्तशल्यानि मन्यते।<sup>१७</sup> अत्र मानवस्य श्रेणीचत्वारः वर्णिताः। ये स्वार्थं परित्यज्य परहिते रताः ते उत्तमाः, ये स्वार्थमविनाश्य परोपकारे संलग्नाः ते साधारणजनाः तृतीये तु अधमाः, ये स्वकीयलाभाय अन्येषां हानिं कुर्वन्ति। अन्ये तु निकृष्टजनाः ये निष्प्रयोजनं परहितं विनश्यन्ति।<sup>१८</sup>

महाकवि भर्तृहरिः विविधगुणान् प्रतिपादयन् कथयति यत् -

को लाभो गुणिसङ्गम किमसुखं प्राज्ञैतरैः सङ्गतिः  
का हानिः समयच्युतिर्निपुणता का धर्मतत्त्वे रतिः।  
कः शूरो विजितेन्द्रियः प्रियतमा काऽनुव्रता किं धनं  
विद्या किं सुखमप्रवासगमनं राज्यं किमाज्ञाफलम्।।<sup>१९</sup>

सन्दर्भाः

१. भर्तृहरिशतकत्रयम्, डॉ. श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, नीतिशतकम्, श्लोक- १
२. तत्रैव - ३९
३. तत्रैव - ४०

४. तत्रैव - ४१
६. तत्रैव - ४५
८. तत्रैव - ८६
१०. तत्रैव - २५
१२. तत्रैव - १५
१४. तत्रैव - १८
१६. तत्रैव - ९२
१८. तत्रैव - ३८
२०. तत्रैव - ९
२२. तत्रैव - ५२
२४. तत्रैव - ५४
२६. तत्रैव - ६१
२८. तत्रैव - ४९
३०. तत्रैव - ८८
३२. तत्रैव - ९६
३४. नीतिशतकम् - १०१
३६. तत्रैव - ९३
३८. तत्रैव - ८४
४०. तत्रैव - १०६
४२. तत्रैव - ९७
४४. तत्रैव - ७१
४६. तत्रैव - १०७
४८. तत्रैव - ३०
५०. तत्रैव - २५
५२. तत्रैव - २९
५४. तत्रैव - ३३
५६. तत्रैव - ३५
५८. तत्रैव - ६५
६०. तत्रैव - ७७
६२. तत्रैव - ७६
६४. तत्रैव - १४
६६. तत्रैव - १३
६८. तत्रैव - ७

५. तत्रैव - ४३
७. तत्रैव - १७
९. तत्रैव - ६९
११. तत्रैव - २
१३. तत्रैव - ५७
१५. तत्रैव - ४४
१७. तत्रैव - ३७
१९. तत्रैव - १०९
२१. तत्रैव - ६
२३. तत्रैव - ५३
२५. तत्रैव - ५९
२७. तत्रैव - ३४
२९. तत्रैव - ८५
३१. तत्रैव - ८५
३३. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक - १, श्लोक - १४
३५. तत्रैव - ९१
३७. तत्रैव - ८१
३९. तत्रैव - १०५
४१. तत्रैव - ६८
४३. तत्रैव - १०२
४५. तत्रैव - ७४
४७. तत्रैव - ३६
४९. तत्रैव - ३१
५१. तत्रैव - ४६
५३. तत्रैव - ३०
५५. तत्रैव - ८२
५६. तत्रैव - ६३
५९. तत्रैव - ६६
६१. तत्रैव - ६०
६३. तत्रैव - ७३
६५. तत्रैव - १००
६७. तत्रैव - ३, ४, ५
६९. तत्रैव - ११

- |                  |                  |
|------------------|------------------|
| ७०. तत्रैव - १२  | ७१. तत्रैव - ५०  |
| ७२. तत्रैव - ५१  | ७३. तत्रैव - ४७  |
| ७४. तत्रैव - १६  | ७५. तत्रैव - २०  |
| ७६. तत्रैव - २१  | ७७. तत्रैव - १९  |
| ७८. तत्रैव - १०  | ७९. तत्रैव - ६२  |
| ८०. तत्रैव - ६४  | ८१. तत्रैव - ७०  |
| ८२. तत्रैव - ७८  | ८३. तत्रैव - ७९  |
| ८४. तत्रैव - ८७  | ८५. तत्रैव - १०४ |
| ८६. तत्रैव - २८  | ८७. तत्रैव - २३  |
| ८८. तत्रैव - ६७  | ८९. तत्रैव - ८०  |
| ९०. तत्रैव - ५८  | ९१. तत्रैव - ८३  |
| ९२. तत्रैव - १०८ | ९३. तत्रैव - २६  |
| ९४. तत्रैव - ४२  | ९५. तत्रैव - ४८  |
| ९६. तत्रैव - ५५  | ९७. तत्रैव - ५६  |
| ९८. तत्रैव - ७५  | ९९. तत्रैव - १०३ |
-

## रीतेरभिनवत्वम्

### शर्मिष्ठा वन्द्योपाध्याय\*

आरम्भकाले भौगोलिकदृष्ट्या रीतेः विचारः दृश्यते। सा काव्यस्य देशगतशैलीत्वेन परिचीयते। शनैः देशैः देशात् तस्याः सम्बन्धं परित्यज्य विषयदृष्ट्या रूपनिर्धारणे प्रारब्धम्। भरतमुनिना नाट्यशास्त्रे काव्यगतरीतिनामुल्लेखो नाकारि परं तेन नाट्यप्रयोगयोग्याश्चतस्रः प्रवृत्तयो वर्णिताः। या हि विभिन्न देशानां वेशभाषाऽऽचारवार्तादिकम् अभिव्यक्तिः सैव प्रवृत्तिरित्युच्यते। सा च चतुर्विधा -

चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोगतः।

आवन्ती दाक्षिणात्या च पाञ्चाली गौडीमागधी।।<sup>१</sup>

भारतवर्षस्य पश्चिमे भागे आवन्ती प्रवृत्तिरस्ति। दक्षिणभारते दाक्षिणात्या मध्यदेशे पाञ्चाली, उत्कले मगधे च गौड्रमागधी प्रवृत्तिः प्रवर्तते। नाट्यशास्त्रे नाट्यप्रयोगसम्बद्धाऽपि चतस्रो वृत्तयोपलभ्यन्ते - कैशिकी, सात्वती, आरभटी, भारती चेति। यद्यपि रीतिभिः सह आसां विशिष्टः सम्बन्धो नास्ति तथापि वैदर्भी गौडीप्रभृतीनां रीतिनां मधुरदीप्तस्वरूपकल्पनायामतेषामपि किञ्चित्प्रभावः स्वीकर्तुं शक्यते।

रीतेः साम्प्रदायिकविवेचनम्

वामनेन कृतं रीतेश्चिन्तनं साम्प्रदायिकम्।

रीतिरात्माऽत्र काव्यस्य तदन्यत् तत्प्रसाधकम्।।<sup>२</sup>

ओजःप्रसादमाधुर्यसमतोदारतादिभिर्गुणैर्विशिष्टा पदानां रचना रीतिर्भवति। यथा - 'विशिष्टा पदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा'<sup>३</sup> इति। विविधैर्गुणैर्जायमानेऽयं रीतिः वामनाचार्यमते काव्यस्य आत्मसिंहासनमधिरोहति। यथा - 'रीतिरात्मा काव्यस्य।'<sup>४</sup> काव्यस्यात्मास्थानीया रसगुणालङ्काराः पूर्वाचार्यैः मुख्यजीवितप्राणादिशब्दैरेव प्रतिपादिता। वामनेनैव सर्वप्रथमं काव्यस्यात्मा इति आत्मशब्दं प्रयुञ्जानेन काव्यशरीरे आत्मतत्त्वं स्पष्टतो निरूपितम्। रीतेः स्वरूपं, विषयं, प्रयोजनं, महत्त्वञ्च सम्यङ्निर्दिशता रीत्यैव काव्ये काव्यत्वमिति तेन हि व्यवस्थापितम्। एषाञ्च नित्यधर्माणां गुणानामभिव्यक्तिः रीतिद्वारैव भवति, अतो रीतिरेव काव्ये सारभूततया काव्यस्यात्मा। अन्यच्च यथा रेखासु चित्रं प्रतिष्ठितं, रेखाया अभावे चित्रस्यैव सर्वथा अभावः, तथैव वैदर्भीगौडीपाञ्चालीरूपासु त्रिविधासु रीतिषु काव्यं प्रतिष्ठितं, रीतेश्चनस्तित्वे काव्यस्यैवानस्तित्वं भवति। अतः काव्यत्वसम्पादिकाया रीतिरेवात्मत्वम्। वामनचार्यमतानुसारेण रीतिः त्रिधा वैदर्भी गौडिया पाञ्चाली चेति। तत्र 'समग्रगुणा वैदर्भी, ओजःकान्तिमती गौडिया, माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली' इति।

\* SACT, संस्कृतविभागः, घाटाल-रवीन्द्र-शतवार्षिकी-महाविद्यालयः पश्चिममेदिनीपुरम्, पश्चिमवङ्गः

### वैदर्भीरीतेर्लक्षणम्

अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणागुम्फिता।  
विपश्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते।।<sup>५</sup>

इत्युक्त्या दोषरहिता श्लेषादिसमग्रगुणोपेता भवति।

### गौडीरीतेर्लक्षणम्

समस्तात्युद्धटपदामोजः कान्तिगुणान्विताम्।  
गौडियामिति गायन्ति रीतिं रीतिविचक्षणाः।।<sup>६</sup>

इत्युक्त्या समासबहुला ओजःकान्तिगुणयुक्ता भवति।

### पाञ्चालीरीतेर्लक्षणम्

अश्लिष्टश्लथभावां तां पुराणच्छायाश्रिताम्।  
मधुरां सुकुमारां च पाञ्चालीं कवयो विदुः।।<sup>७</sup>

इति कथनेन गौडिस्वभावविपरीता असमस्ततया सरलप्रकृतिका, अर्थप्रकाशने पुराणसरणिमनुसरन्ती, माधुर्यसौकुमार्यगुणशालिनी सती कविभिः समादृता भवति।

एतेषु रीतिषु वैदर्भी एव वामनानुसारं समस्तगुणयुक्त्या तस्मात् तस्यामेव अर्थवैभवस्य वस्तुसौन्दर्यस्य आस्वाद्यतया ग्राह्या भवति। इतरयोर्द्वयोस्तु अल्पगुणत्वात् तथा उपादेयत्वं नास्ति। वैदर्भ्याद्यभिधानस्य निदानमनुसन्धानो वामनाचार्यो विदर्भादिषु दृष्टत्वात् तत् समाख्या, न पुनर्देशैः किञ्चिदुपक्रियते। काव्यानाम् इत्यभिधानं देशविशेषेण सह रीतिर्विशेषस्य कमपि सम्बन्धं नाङ्गीकुरुते।

वामनाचार्येण उपर्युक्तप्रकारेण रीतिसिद्धान्ते काव्यजगति प्रतिष्ठापितेऽपि परवर्तिनो विवेचकाचार्याः सिद्धान्तमिमं विभिन्नप्रकारेण केचित् रीतेरात्मत्वं खण्डितवन्तः, केचित् तस्या स्वरूपानन्तरं साधयन्तः काचिच्च तस्या रसास्वादे साधनतां निर्दिशन्तः विवेचयामासुः आलोचयामासुश्च। रीतिविवेचनायाः धाराद्वयं प्रवर्तते। यथोक्तं तेन -

धारा रीतिसमीक्षाया द्विरूपाभ्यां प्रवर्तते।  
अलङ्कारकृतामेकमलङ्कार्यकृतां परम्।।<sup>८</sup>

तत्र प्रथमे अलङ्कारवादी द्वितीये च अलङ्कार्यवादी विद्यते। भामहः, दण्डी, वामनः, रुद्रटः, जयदेवः, कुन्तकादयोः अलङ्कारवादिनः भवन्ति। ध्वनिकारानन्दवर्धनः, मम्मटः, विश्वनाथादयोः अलङ्कार्यवादिनः भवन्ति।

### अलङ्कारवादीनां रीतिविवेचनम्

अलङ्कारकृतश्चान्ये विद्वांसो भामहादयः।  
सामान्येन स्म कुर्वन्ति रीतीनां प्रतिपादनम्।।<sup>९</sup>

अलङ्कारवादीषु रीतिसम्प्रदायप्रवर्तकवामनाचार्यं विहाय भामहः, रुद्रटः, राजशेखरः, भोजराजोऽपि सामान्यतया रीतेः विवेचनं कृतवन्तः।

अलङ्कारवादीषु प्रथमाचार्यः भामहः विद्यते। भामहेन स्वमते रीतेर्मान्यता नाङ्गीकृता, रीतिशब्दस्य स्थाने मार्गशब्दस्य प्रयोगो विहितः। भामहेन वैदर्भगौडीयो प्रयोगः काव्यभेदान्तर्गत एव कृतः। विदुषां मतं प्रस्तुवता भामहेन वैदर्भकाव्यभेदस्यैवानुमोदनं कृतम्। यथोक्तं तेन -

वैदर्भमन्यदस्तीति मन्यन्ते सुधियोऽपरे।  
तदेव च किल ज्यायः सदर्थमपि नापरम्॥  
गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक्।  
गतानुगतिन्यायान् नानाख्येयममेधसाम्॥  
ननु चाश्मकवंशादि वैदर्भमिति कथ्यते।  
कामं तथास्तु प्रायेण संज्ञेच्छातो विधीयते।<sup>१०</sup>

भामहानन्तरमाचार्यरुद्रटः वैदर्भादरीतेः स्वरूपनिष्पत्तौ पदानां समस्तत्वमसमस्तत्वं च बीजत्वेन निर्धार्य वामनोक्तं रीतेर्गुणविशिष्टत्वं स्वीकृत्य तिसृभिः रीतिभिः साकम् एकां चतुर्थां लाटीयामङ्गीकृत्य रीतिविशेषस्य रसविशेषेण सह सम्बन्धं निश्चिकाय। तथा हि -

वृत्तेरसमासाया वैदर्भीरीतिरेकैव।  
वृत्तैः समासवत्यास्तत्रस्यू रीतयस्तिस्त्रः॥  
पाञ्चाली लाटिया गौडीया चेति नामतोऽभिहिताः।  
लघुमध्यायतविरचनसमासभेदादिमास्तत्र ॥  
द्वित्रिपदा पाञ्चाली लाटीया पञ्च सप्त वा यावत्।  
शब्दाः समासवन्तो भवति यथाशक्ति गौडीया।<sup>११</sup>

राजशेखरेण वचनविन्यासक्रमो रीतिरिति परिभाषमाणेन पदानां समस्तसमस्तताधारेण वैदर्भीगौडीयापाञ्चालीति तिस्र एव रीतयोऽङ्गीकृताः। तथा हि -

वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली चेति रीतयस्तिस्त्रः।  
आसु च साक्षान्निवसति सरस्वती तेन लक्ष्यन्ते।<sup>१२</sup>

श्रीभोजराजेन आनन्दवर्धनानुसारेण गुणानाश्रित्य, रुद्रटानुसारेण च समस्तसमस्तपदा-न्याधारीकृत्य षड्डीतयः प्रतिपादयाञ्चक्रिरे। तत्र वैदर्भीपाञ्चाल्योरन्तरालवर्तनी आवन्तिका, पूर्वरीतेर्निर्वाहे खण्डरीतिर्मागधी चेति रीतिद्वयं नवीनं स्वीचक्रे। यथोक्तं तेन -

वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः।  
रीङ्गताविति धातोः सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते॥  
वैदर्भी चाथ पाञ्चाली गौडीयावन्तिका तथा।  
लाटीया मागधी चेति षोढा रीतिर्निगद्यते।<sup>१३</sup>

अलङ्कार्यवादीनां रीतिविवेचनम्

अलङ्कार्यवादीषु आद्याचार्यः ध्वनिकारानन्दवर्धनः विद्यते। ध्वन्यात्मवादी आनन्दवर्धनाचार्यः रीतेः

स्थाने संघटनाशब्दं प्रयुञ्जानः माधुर्यादीन् गुणानाश्रित्य तिष्ठन्त्या रसाभि व्यञ्जिकायाः समासासमासाधार-  
कल्पितकलेवरायाः सङ्घटनायाः त्रैविध्यं निर्दिशति, यथा -

असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।  
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा सङ्घटनोदिता।।  
गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन्, व्यनक्ति सा।  
रसान् तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः।।<sup>१४</sup>

गुणसंघटनयोः परस्परसम्बन्धं सूक्ष्मेक्षिकया विवेचयन् आचार्यः तत्र सम्भाव्यमानान् विकल्पान्  
प्रदर्शयन् तद्विषयकं सिद्धान्तं प्रत्यपादयत्।

आचार्यमम्मटस्तु उद्भटसरणिमनुसरन् 'केषाञ्चिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयो मताः' इति  
स्पष्टमुद्घोषयन् उपनागरिका, कोमला, परुषा चेति वृत्तित्रयमङ्गीचकार। उद्भटं विहाय मम्मटात् पूर्वं न  
केनापि इमा वृत्तयः एभिर्नामभिः स्वीकृताः।

विश्वनाथेन पदानां संघटनं रीतिरित्युच्यते इति प्रतिपादितम्। सः रीतिरङ्गसंस्थावत् स्वीकृतः।  
रसभावादीनामुपकारकर्त्री तेन रीतिं वैदर्भीगौडीपाञ्चालीलाटीभेदेन चतुर्विधा भिद्यते। यथोक्तं तेन -

पदसङ्घटनारीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत्।  
उपकर्त्री रसादीनां सा पुनः स्याच्चतुर्विधा।।  
वैदर्भी चाथ गौडी च पाञ्चाली लाटिका तथा।।<sup>१५</sup>

पुनः गुणव्यञ्जकवर्णनामाधारेण रीतिनां लक्षणानि विहितानि। तद्यथा -

आवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते।  
ओजः प्रकाशकैर्वर्णोर्बन्ध आडम्बरः पुनः।।  
समासबहुला गौडी वर्णै शेषैः पुनर्द्वयोः।  
समस्तपञ्चषपदो बन्धः पाञ्चालिका मता।  
लाटी तु रीतिर्वैदर्भीपाञ्चाल्योरन्तरा स्थिता।।<sup>१६</sup>

इत्थं सूक्ष्मदृष्ट्या पर्यालोचनानन्तरमेतदेव तत्त्वमस्माकं समक्षं परिस्फुरितं यत् काव्ये रीतिनां महत्त्वं  
वरीवर्ति। रीतयोऽङ्गसंस्थानविशेषवत् काव्यशरीरस्य बाह्यसैन्दर्यं वर्धयन्तीत्ययमेव आचार्यैः उच्यते।

### सङ्केतसूची

१. नाट्यशास्त्रम्, १३.३०
२. अभिनवकाव्यशास्त्रम्, ७.५६८
३. काव्यालङ्कारसूत्रम्, १.२.७-८
४. तत्रैव, १.२.११
५. तत्रैव, १.२.६
६. तत्रैव, १.२.१
७. तत्रैव, १.२.१३

८. अभिनवकाव्यशास्त्रम्, ७.५६६
९. तत्रैव, ७.५६९
१०. काव्यालङ्कारः, १.३१-३३
११. रुद्रट-काव्यालङ्कारः २.४-६
१२. काव्यमीमांसा, पृ. ७५
१३. सरस्वतीकण्ठाभरणम्, २.२७-२८
१४. ध्वन्यालोकः, ३.४,७
१५. काव्यप्रकाशः, ८.१
१६. साहित्यदर्पणः, ९.१-२

### सहायकग्रन्थसूची

- अभिनवकाव्यशास्त्रम्, डॉ. शङ्करदेव अवतारे, साहित्यसहकार, दिल्ली, २००१
- काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः, वामनः, हिन्दी टीकाकारः - श्रीराजेन्द्रप्रासाद कोठ्यारी, चौखम्बासंस्कृतप्रतिष्ठानम्, वाराणसी, १९७८
- काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः, वामनः, सम्पादकः - डॉ. अनिलचन्द्रवसुः, संस्कृतवुँकडिपो, कोलकाता, २०१५ (पुनर्मुद्रणम्)
- काव्यमीमांसा, राजशेखरः, व्याख्याकारः - डॉ. गङ्गासागररायः, चौखम्बाविद्याभवन्, वाराणसी, २०००
- काव्यालङ्कारः, रुद्रटः, सम्पादकः - डॉ. सत्यदेव चौधुरी, परिमल पब्लिकेशन्स्, दिल्ली।
- काव्यालङ्कारः, भामहः, व्याख्याकारः - डॉ. रामानन्दशर्मा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस्, वाराणसी, २००२
- काव्यप्रकाशः, मम्मटाचार्यः, सम्पादकः - रामान्दाचार्यः, संस्कृतपुस्तकभाण्डारः, कोलकाता, १४०४ वङ्गाब्दः (द्वितीयसंस्करणम्)
- ध्वन्यालोकः, आनन्दवर्धनाचार्यः, सम्पादकः - डॉ. सत्यनारायन चक्रवर्ती, संस्कृतपुस्तकभाण्डारः, कोलकाता, २०१३ (प्रथमसंस्करणम्)
- नाट्यशास्त्रम्, भरतमुनिः, व्याख्याकारः - रविशङ्करनागरः, परिमलपब्लिकेशन्स्, दिल्ली, १९८८
- सरस्वतीकण्ठाभरणम्, भोजराजः, व्याख्याकारः - डॉ. कामेश्वरनाथमिश्रः, चौखम्बा ओरियन्टलिया, वाराणसी, १९९२
- साहित्यदर्पणः, कविराजविश्वनाथः, सम्पादकः - डॉ. विमलाकान्तमुखोपाध्यायः, संस्कृतपुस्तकभाण्डारः, कोलकाता, २०१३ (द्वितीयसंस्करणम्)

## काव्यप्रकाशे लोचनटीकायाः प्रभावः

राहुलमण्डलः\*

**शोधसारः** - भारतीयकाव्यशास्त्रे अलङ्कारशास्त्रपरम्परायां षट् सम्प्रदायाः विद्यन्ते। तेषु सम्प्रदायेषु ध्वनिसम्प्रदायः अपरनामधेयः ध्वनिप्रस्थानमपि विलक्षणसम्प्रदायत्वेन वर्तते। अखिलभारतीयकाव्यशास्त्र-तत्त्वचिन्तनयात्रायां विचित्रचारुत्वोत्कर्षनिबन्धनध्वनिप्रस्थानमिदं सुतरां प्रथतेतराम्। अद्यावधिरखण्डितत्वमवलम्बितस्य ध्वन्यालोकाख्यस्य ग्रन्थरत्नस्यास्य स्थानमलङ्कारशास्त्र सागरेऽचलायते। ग्रन्थस्यास्य प्रतिपदं मौलिकता, गूढविषयव्यञ्जनक्षमता, शास्त्रतत्त्वविवेचनपरता च परिलक्ष्यते। महत्यस्मिन् ग्रन्थे येषां सिद्धान्तानां प्रतिपादनं जातम्, तेषामेव समर्थनं, व्याख्यानम्, अनुसरणञ्च अभिनवगुप्त-मम्मट-हेमचन्द्र-कविराज-विश्वनाथ-विद्यानाथ-विद्याधर-पण्डितराजजगन्नाथादिभिः साहित्यशास्त्रधुरीणैः मनीषिभिः कृतम्। ध्वनिपरम्परायाः समुपासकाः ध्वनिमण्डकाश्च नैके विद्यन्ते। परन्तु काव्यप्रकाशस्य सर्वमानजनविदितया लोचनटीकायाः प्रभावः महान् वर्तते इत्यत्र नास्ति कस्यचित् विमतिः। अतः शोधलेखेऽस्मिन् लोचनटीकाविषये अर्थात् काव्यलक्षणसन्दर्भे, काव्यकारणनिरूपणादिविषये कथं अस्य प्रभावः वर्तते तद् मया किञ्चित् विचार्यते।

**मुख्यशब्दाः** - मम्मटस्य लोचनटीकायाम् प्रभावः, मम्मटस्य प्रतिभाप्रमाणम्, काव्यकारणम्, उत्तमकाव्यस्य लक्षणम्, लक्षणा, ध्वनिकाव्यभेदः, रसः इत्यादयः।

भारतीयकाव्यशास्त्रे अलङ्कारशास्त्रपरम्परायां षट् सम्प्रदायाः विद्यन्ते। तेषु सम्प्रदायेषु ध्वनिसम्प्रदायः अपरनामधेयः ध्वनिप्रस्थानमपि विलक्षणसम्प्रदायत्वेन वर्तते। ध्वनिप्रस्थानस्य प्रवर्तकः आनन्दवर्धनाचार्यः काश्मीरदेशे न्यवसत्। आनन्दवर्धनाचार्यः ध्वन्यालोकग्रन्थे ध्वनितत्त्वं सुस्पष्टं प्रतिपादितवान्। भारतीयसाहित्यशास्त्रे काश्मीरदेशस्य श्रीमदभिनवगुप्ताचार्यपादानामपि योगदानम् अतुलनीयं वर्तते। अभिनवगुप्तः स्वयमेव स्वीयप्रतिभया लोचनटीकायां तान् विषयान् विवृतवान्। तदीयग्रन्थेषु ध्वन्यालोकलोचनव्याख्यानं सहृदयलोकलोचनमुन्मीलयति। तदुक्तं तेन -

किं लोचनं विनालोको भाति चन्द्रिकयापि हि।

तेनाभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात्॥<sup>१</sup>इति।

आचार्यानन्दवर्धनस्य ध्वन्यालोकग्रन्थस्य रहस्यम् उन्मोचयति लोचनव्याख्यानम्। ध्वनिपरम्परायाः समुपासकाः ध्वनिमण्डकाश्च नैके विद्यन्ते। अस्य ग्रन्थरत्नस्य प्रभावः परवर्तिनि काले आचार्यमम्मट-विश्वनाथ-पण्डितराजजगन्नाथप्रभृतिनामुपरि नितरां दृश्यते। तेषु सर्वेष्वपि काव्यप्रकाशस्य रचयिता मम्मटाचार्यः ध्वन्यालोकस्थ विषयान्, लोचनटीकास्थ विषयान् चापि उल्लासक्रमेण प्रकरणभेदेन न्यरूपयत्। तत्र मङ्गलपद्यप्रसङ्गे, काव्यलक्षणसन्दर्भे, काव्यकारणनिरूपणे, उत्तमकाव्यलक्षणे,

\* शोधच्छात्रः, साहित्यविभागः, राष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः, तिरुपतिः

व्यञ्जनास्थापने, लक्षणानिरूपणावसरे, आर्थीव्यञ्जनानिरूपणावसरे, ध्वनिकाव्यभेदपल्लवनासरे, गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यविषये, रसस्वरूपविचारे इत्यादिविषयेषु लोचनटीकायाः महत्प्रभावः आचार्यमम्मटस्य काव्यप्रकाशे परिदृश्यते इति काव्यप्रकाशग्रन्थः ध्वन्यालोकलोचनसारः इति युक्तमेव भातीत्यत्र नास्ति कस्यापि विमतिः।

मम्मटः सर्वतोभावेन अभिनवगुप्तप्रभावितो निजग्रन्थे काव्यप्रकाशाख्ये आर्या छन्दसा महत्या वाचोयुक्त्या कविभारती अर्थात् कविसृष्टिर्ब्रह्मसृष्टितो विशिष्टेण इति प्रतिपादयामास। कविर्भवति क्रान्तदर्शी। सस्वीयप्रतिभया भूतं वर्तमानं भाविनञ्च सर्वं ज्ञातुं प्रभवति। अत एव स कविः बहुत्र 'कविरेकः प्रजापतिः'<sup>२</sup> इति भावेन वर्णितम्। 'कवृ' वर्णे इति धातोः 'अचो इ' इत्युणादिसूत्रेण इ-प्रत्यये कविरिति पदं निष्पद्यते। तस्य कवेः भारत्यभिधेयं काव्यं जयति अर्थात् सर्वोत्कर्षेण वर्तते। प्रथममभिनवगुप्तकथितस्य मङ्गलपद्यविशेषस्यात्रोद्धारः क्रियते। तद्यथा -

अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलां  
जगद्ग्रावप्रख्यं निजरसभरात्सारयति च।  
क्रमात्प्रख्योपाख्याप्रसरसुभगं भासयति तत्  
सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहयाख्यं विजयते।।<sup>३</sup> इति।

तत्र भवान् मम्मटः येन श्लोकेन प्रभावितः तत्काव्यप्रकाशे प्रथमोल्लास एव मङ्गलपद्यत्वेन समुपस्थापितवान्। तदित्थम् -

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।  
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति।।<sup>४</sup> इति।

उभयव्याख्याने कविवाण्याः जयजयकारः कृतो दृश्यते। लोचनकृतमङ्गलपद्यस्य प्रभावः यथा -

१. विना कारणकलामपूर्वं वस्तु प्रथयति- नियतिकृतनियमरहिताम्, अनन्यपरतन्त्राम्।
२. ग्रावप्रख्यं जगदः निजरसभरात् सारयति - नवरसरुचिराम् (सरसतामपादयति)।
३. प्रख्योपाख्याप्रसरसुभगं भाषयति - ह्लादैकमयीम्।
४. विजयते - जयति।
५. सरस्वत्यास्तत्वम् - कवेर्भारति।

मम्मटप्रतिभाप्रमाणम् - विना कारणकलामपूर्वं वस्तु प्रथयति इति वचनेन कवित्वस्य उत्कर्षता लक्ष्यते। तथैव नियतिकृतनियमरहिताम् इत्यनेन सैव भावः सुच्यते। प्रख्योपाख्याप्रसरसुभगं भासयति अर्थात् कवि स्वीयप्रतिभाबलेन आनन्दं जनयति तथैव ह्लादैकमयीम् इति पदेनापि सुखमात्रत्वात् आनन्दपरकत्वमिति जायते। ब्रह्मसृष्टिः नियतिकृतत्वेन नियमेन कारणादिभेदबलात् परतन्त्रा इति भावः। न तथा कविनिर्मितः परतन्त्रविषयः विद्यते। अतः विना कारणकलामपूर्वं वस्तु प्रथयति इति पङ्क्त्या सह समन्वेति। ग्रावप्रख्यं जगत् निजरसभरात् सारयति अर्थात् कवेः प्रतिभया निरसत्वेऽपि सरसतामुत्पादयति इत्यर्थः। नवरसरुचिराम् इत्यत्र कविः नवसंख्यकैः रसैः आनन्दयतीति भावः। एतावता द्वयोः मम्मटाभिनवगुप्तयोः साम्यं संलक्षितम्। लोचने यथा सरस्वतीतत्वस्य सर्वोत्कर्षत्वं सुचितं, तथैव अत्रापि जयति इत्यनेन कवेर्भारती

जयति इति कविभारत्याः उत्कर्षत्वमेव। अत्रापि साम्यं दृश्यते एव। सरस्वत्यास्तत्वम् अपि च कवेर्भारती इति द्वाभ्यां शब्दाभ्यां एकस्याः एव स्तुतिकृता वर्तते, तेन च द्वयोः पदयोः साम्यता अपि सिद्धं भवति।

काव्यप्रकाशकारः काव्यस्वरूपनिर्णये ध्वन्यालोककारं तथा लोचनकारं च हृदि निधाय लिखति -

‘तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनःक्वापि।’<sup>५५</sup> इति।

ध्वनिकारस्य मते काव्यलक्षणम् -शब्दार्थौ एव तदुक्तम् -

‘सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्।’<sup>५६</sup> इति।

अतः शब्दार्थयोः काव्यत्वस्वीकारे ध्वनिकारतोऽपि प्रेरणां प्राप्तवान् मम्मटः इति वक्तव्यं भवति।

काव्यकारणसन्दर्भे लोचने उक्तम् -

‘प्रतिभा’ अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा, तस्या ‘विशेषो’ रसावेशवैशद्यसौन्दर्यं काव्यनिर्माणक्षमत्वम्। यदाह मुनिः - ‘कवेरन्तर्गतं भावम्’ इति। येनेति अभिव्यक्तेन स्फुरता प्रतिभाविशेषणनिमित्तेन महाकवित्वगणनेति यावत्।<sup>५७</sup> इति।

मम्मटस्तु -

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।

काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।।<sup>५८</sup> इति।

कवित्ववीजरूपः संस्कारविशेषः शक्तिः प्रतिभा काव्यस्य कारणमिति लोचनप्रभावितस्य मम्मटस्याभिप्रायः।

आचार्यमम्मटस्तावत् ध्वनिकृदुपदर्शितदिशा उत्तममध्यमाधमभेदेन काव्यत्रैविध्यम् अभ्युपागच्छत्। तत्र तावद् ध्वनिसंज्ञितमुत्तमकाव्यं मम्मटेन लक्षितं यथा -

‘इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिबुधैः कथितः।’<sup>५९</sup> इति।

यद्यपि नात्र ध्वनिकारविहितं ध्वनिलक्षणमक्षरशोऽनूद्यते, तथापि तस्य सम्पिण्डितं तात्पर्यं समाविष्कृत्यत एव। वाच्यार्थापेक्षया व्यङ्ग्यस्यातिशये तादृशव्यङ्ग्यविशिष्टं शब्दार्थयुगलात्मकमदृष्टत्वसगुणत्वसालङ्कारत्वविशेषितं काव्यं ध्वनिरिति व्यवहृत्ये इति सामान्यार्थः। अत्र आचार्यमम्मटः बुधशब्देन वैयाकरणानेव परिगृह्य आलङ्कारिकविहितध्वन्यादिव्यवहारस्य वैयाकरणोपज्ञस्फोटध्वन्यादिव्यवहारमूलकत्वं प्रतिपादयति। तदेतदाह-

‘बुधैः वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य’<sup>६०</sup> इति।

अत्र ध्वनिकारवचनान्येव मम्मटस्य आलम्बनानि इदमत्रास्य प्रघट्टकस्य तात्पर्यम् भवति।

लोचनकारः ध्वन्यालोकस्य व्यञ्जनास्थापनप्रक्रियां प्रतिपादयन् मीमांसकानां मतं प्रस्तुतवान्। तदाधारेण मम्मटोऽपि काव्यप्रकाशस्य द्वितीये उल्लासे तथा पञ्चमे उल्लासे तात्पर्यव्याख्यायाः वृत्तेः विचारं कृत्वा अन्विताभिधानवादम् अनादृत्य अभिहितान्वयवादं बहुमानेन अङ्गीकृतवान्।

काव्यप्रकाशे लक्षणानिरूपणावसरे मम्मटः लोचनकारं सादरं स्मरति। लोचनकारो वदति प्रथमे उद्योते

‘भाक्तमाहुस्तमन्ये’ इति कारिकांशस्य व्याख्याने लक्षणास्वरूपं निगदति। आचार्यमम्मटस्य काव्यप्रकाशग्रन्थस्य रूढिप्रयोजनलक्षणास्वरूपनिर्वचने सत्यपि मौलिकत्वेऽशतः ध्वनिकारादिग्रन्थानुसारित्वं दृश्यते। तथा च -

रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि।  
लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः।।<sup>११</sup>

इत्यादि कारिकया प्रयोजनलक्षणातिरिक्तरूढलक्षणां ध्वनिमार्गानुपयोगिनीं प्रतिपादयतो ध्वनिकारस्य आशयमनुसन्धानेन मम्मटेनोदाहृतं निरूढलक्षणायां “कर्मणि कुशलः” इति यथा किल “शकुन्तलावण्यं पश्य” इत्यादि महाकविप्रयोगेषु लवणरसयुक्तत्वादिमुख्यार्थसमन्वयपुरस्कारेणैव सौन्दर्याद्यर्थपरिग्रहणं निरूढलक्षणयेति ध्वनिकारादितात्पर्यसिद्धं, तथा कुशल इत्यादावपीति मम्मटाशयः। यदि लावण्यशब्दस्य लवणरसयुक्तत्वरूपोऽर्थः कर्मणि प्रकृतिप्रत्ययप्रतिपादितः मुख्यार्थत्वेन न स्वीक्रियते, किन्तु सौन्दर्यरूपार्थ एव प्रसिद्धिवशात् द्राक् परिस्फुरन् परिगृह्यतेऽत्र रूढिशक्तिरेव स्यान्न तु लक्षणा न चात्र रूढि शक्तिरेवास्तु ध्वनिकारादिसम्मतता न तु निरूढलक्षणा, मूलकारिकायां लक्षणापदा प्रयोगादिति वाच्यम्। ध्वनिकृल्लोचनकारग्रन्थानुरोधेनात्र निरूढलक्षणात्वस्यैव सिद्धत्वात्। वृत्तिग्रन्थे “तेषु चोपचरितवृत्तिरस्ती”ति ध्वनिकृता प्रोक्तत्वात्। उपचरितवृत्तिर्लक्षणेति लोचनकारोऽपि प्राह -

“लावण्याद्याः ये शब्दाः स्वविषयाल्लवणरसयुक्तत्वादेः स्वार्थादन्यत्र हृद्यत्वादौ रूढाः,  
रूढत्वादेव त्रितयसन्निध्यपेक्षणव्यवधानशून्याः। यदाह -

“निरूढा लक्षणाः कश्चित् सामर्थ्यात् अभिधानवत्।”

इति। ते तस्मिन् स्वविषयादन्यत्र प्रयुक्ता अपि न ध्वनेः पदं भवन्ति, न तत्र ध्वनिव्यवहारः। उपचरिता शब्दस्य वृत्तिर्गौणी, लाक्षणिकी चेत्यर्थः। आदिग्रहणेन आनुलोम्यं प्रातिकूल्यं सब्रह्मचारीत्येवमादयः शब्दाः लाक्षणिकाः गृह्यन्ते।।<sup>१२</sup> इति।

उपचरितशब्दवृत्तिः गौणीवृत्तिर्वा लक्षणा कदापि ध्वनेः लक्षणं न सम्भवति इति ध्वनिकारकथनं लोचने समर्थितम्। तत् सर्वं परिशील्य मम्मटः लक्षणा ‘आरोपिताक्रिया’ इत्याह। यथा -

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथप्रयोजनात्।  
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया।।<sup>१३</sup> इति।

काव्यप्रकाशे आर्थीव्यञ्जनानिरूपणावसरे मम्मटः यत्र वा शब्दव्यञ्जकत्वप्राधान्यं तत्रार्थव्यञ्जकत्वस्याङ्गत्वं, यत्र वा अर्थव्यञ्जकत्वप्राधान्यं तत्र शब्दव्यञ्जकत्वस्याङ्गत्वमिति परस्परसहकारिणोरेव शब्दार्थयोः व्यञ्जकत्वम् भवति। अत एव मम्मटः प्राह -

तद्युक्तो व्यञ्जकः शब्दः यत्सोऽर्थान्तरयुक् तथा।  
अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः।।<sup>१४</sup>  
शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः।  
अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता।।<sup>१५</sup> इति।

इत्युक्ता अर्थव्यञ्जकतायां शब्दस्य सहकारिता वर्तते इति प्रतिपादितम्।

ध्वन्यालोके प्रथमोद्योते -

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।

व्यङ्क्तः काव्यविशेषः सः ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।।<sup>१६</sup>

इति ध्वनिलक्षणे वा इति पदस्य शब्दार्थयोः परस्परसहकारितया व्यञ्जकत्वमित्यभिप्रायमावेदयति।

सोऽर्थः तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।

यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः।।<sup>१७</sup>

वाच्यानां वाचकानाञ्च यदौचित्येन योजनम्।

रसादिविषयेणेतत् कर्म मुख्यं महाकवेः।।

या शब्दार्थयोजनस्यैव काव्यत्वमत्र सिद्ध्यति।<sup>१८</sup>

इति ध्वनिकारवचनमेतदेव शब्दार्थयोः समप्राधान्यमेव आवेदयति।

ध्वनिलक्षणे 'व्यङ्क्त' इति पदस्य व्याख्याने तत्र लोचनकारः -

“व्यङ्क्त इति द्विवचनेनेदमाह - यद्यप्यविवक्षितवाच्ये शब्द एव व्यञ्जकस्तथाप्यर्थस्यापि सहकारिता न त्रुट्यति, अन्यथा अज्ञातार्थोऽपि शब्दस्तद् व्यञ्जकः स्यात्। विवक्षितान्यपरवाच्ये च शब्दस्यापि सहकारित्वं भवत्येव, विशिष्टशब्दाभिधेयतया विना तस्यार्थस्याव्यञ्जकत्वादिति सर्वत्र शब्दार्थयोरुभयोऽपि ध्वननं व्यापारः।”<sup>१९</sup> इति।

काव्यप्रकाशे चतुर्थोल्लासे ध्वनिकाव्यभेदनिरूपणावसरे प्रसङ्गवशात् भरतमुनेः रससूत्रव्याख्याने मम्मटः अभिनवगुप्ताचार्यपादानां स्मरणमनुसृत्य भट्टलोल्लट-श्रीशङ्कुकभट्टनायकानां मतानि खण्डयन्-इत्याहुः श्रीमदभिनवगुप्ताचार्यपादाः।<sup>२०</sup> इति।

सबहुमानेन अभिव्यक्तिवादं समर्थितवान्।

ध्वनिभेदपल्लवनावसरे मम्मटः ध्वनेः आदौ अष्टौ भेदान् लोचनानुसारं संकलयति। तथाहि - लक्षणामूलाभिधामूलभेदविशिष्टध्वनिः प्रथमतया द्विविधः - अविवक्षितवाच्यध्वनिः, विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिश्चेति। अविवक्षितवाच्यध्वनेः भेदद्वयम् - अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनिः, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनिश्चेति। विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनेः भेदद्वयम् - असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिः, संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिश्चेति। तत्र असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः रसादिरूपः एक एव गण्यते। संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्तु शब्दशक्तिमूलः, अर्थशक्तिमूलः उभयशक्तिमूलश्चेति। तत्रापि शब्दार्थयोः वस्त्वलङ्कारभेदेन इति आहत्य अष्टौ भेदाः। यथा -

- (१) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनिः
- (२) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनिः
- (३) असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिः
- (४) शब्दशक्तिमूलसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यवस्तुध्वनिः
- (५) शब्दशक्तिमूलसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्योऽलङ्कारध्वनिः
- (६) अर्थशक्तिमूलसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यवस्तुध्वनिः

(७) अर्थशक्तिमूलसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्योऽलङ्कारध्वनिः

(८) उभयशक्तिमूलसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिः। इति।

एवमग्रेऽपि स्वतःसम्भविसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनेः कविप्रौढोक्तिः कविनिबद्धप्रौढोक्तिभेदानां विचारे काव्यप्रकाशे लोचनप्रभावः परिदृश्यते।

ध्वनिकारमते व्यङ्ग्यप्राधान्ये ध्वनिः, अप्राधान्ये गुणीभूतव्यङ्ग्यञ्चेति काव्यं द्विविधं भवति। तदुक्तम् -

प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते।  
काव्ये उभे ततोऽन्यत् यत्तच्चित्रमभिधीयते।।<sup>२१</sup> इति।

लोचनकारैः एतदनुसारं गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यं सविस्तरं प्रत्यपादि। अनेन प्रभावितः मम्मटः -

अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्धयङ्गमस्फुटम्।  
सन्धिगधतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम्।।<sup>२२</sup> इति।

इत्यादि रूपेण अष्टौ भेदान् प्रदर्शयति।

भरतमुनेः नाट्यशास्त्रे -

शृङ्गारहास्यकरुणारौद्रवीरभयानकाः ।

वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः।।<sup>२३</sup>

इत्युल्लिखितम्।

काव्यप्रकाशस्य चतुर्थोल्लासे मम्मटस्तावत् साहित्यसर्वप्रधानस्य रसस्य स्वरूपं प्रत्यपादयत्। यद्यपि रसस्वरूपप्रतिपादने मम्मटस्य मौलिकत्वं न विद्यते इति अकामेनाप्यभ्युपगन्तव्यमेव, तथापि भरतनाट्यशास्त्रप्रतिपादिते रसस्वरूपरूपणावसरे श्रीमद्भिराचार्याभिनवगुप्तैः प्रतिपादितानां, ध्वन्यालोकलोचनादिषु समाविष्कृतानाञ्च सिद्धान्तानां विभिन्नाभिप्रायाणाञ्च विकीर्णतया उपनिबद्धानां नितान्तक्लेशपरिग्राह्याणां च संग्रहप्रतिपादनेन एकत्र विशदतया पुनः समाविष्करणेन सुपरिष्कृतस्वरूपनिरूपणेन च, तदनन्तरकालिकग्रन्थनिबन्धाणां महोपकारविधानात् मम्मटीयरसग्रन्थः, तद्व्याख्यातृव्याख्यानप्रक्रिया च सविमर्शमध्ययनमपेक्षत इत्यपरोक्षं चक्षुष्मताम्।

ध्वन्यालोके यद्यपि भरतरससूत्रविचारः स्वरूपविचारो वा विशेषतो नोपलभ्यते, तथापि वस्त्वलङ्काररसात्मना ध्वनेः त्रैविध्यमाविष्कुर्वतः रसस्य व्यञ्जनाख्यालौकिकव्यावृतिमात्राभिव्यज्यमानत्वं साभिनिवेशं समाविष्कुर्वतश्च आनन्दवर्धनस्य समुलेखनान्येव अभिनवरससिद्धान्तसमुद्गमालम्बनमिति सहृदयविवेचकानामनुभवः वस्तुतत्त्वाविसंवादी महीयते।

इदानीं विचारविषयत्वेन समुपलभ्यमानाः सर्वेऽपि रसवादाः प्रथमतोऽभिनवगुप्ताचार्येणैव समाविष्कृताः साहित्यप्रपञ्चे अभिनवभारत्यां, ध्वन्यालोकलोचने च तदाविष्कृता एव रसवादा अनन्तरकालिकेः मम्मटादिभिः सादरं स्वीकृता विवेचिताश्चेति निस्तुषं वचः। पूर्वाचार्याणां भट्टलोल्लट-श्रीशङ्कुकादीनां, तथा ध्वनिकारसमकालवर्तिनो हृदयदर्पणादिग्रन्थकर्तुः भट्टनायकस्य वा वादा यथाग्रन्थं नोपलभ्यन्त इति हेतोः, केवलं श्रीमदभिनवगुप्तनिरूपितानामेव सिद्धान्तानां तत्तदाचार्यसम्बन्धित्वेन

स्वीकरणीयत्वेन, मम्मटक्षेमेन्द्रप्रभृतिभिः तथैव स्वीकृतत्वेन च रससिद्धान्तविचारप्रक्रियायां श्रीमतोऽभिनवगुप्तस्य यावत् प्राधान्यं न तथा ध्वनिकरस्यापीति वस्तुतत्त्वकथने नैव खलूद्देश्यस्य अवकाशः।

रससामग्रीप्रतिपादने सर्वेषामपि नाट्यशास्त्राणाम् अत्रालम्बनत्वमपि अपरिहार्यमेव। अत्र प्रस्तुते रसविचारे मम्मटीयवचनं तद्व्याख्यातव्याख्यान-तदनुसारिजगन्नाथादिविचारविमर्शनेन स्वाभिमतं रसप्रक्रियासमाविष्करणमेव वितन्यते निर्मत्सरविवेचकहृदयपरितर्पणाय। तत्तद्दर्शनानुसारेण रसानुभवविवेचनमत्र विशिष्यते। अभिनवदर्शितमार्गेण तत्तद्वादविशदपुरस्सरं मम्मटाचार्यः श्रीमदभिनवगुप्तमतमेव सबहुमानमुपस्थापयतीति हेतोः, तत्रैवास्य निर्भरत्वमिति समुन्नीयते। स्वाभिमतस्याभिनवमतानुगृहीतस्य रसनिरूपणप्रकारस्य अयं संग्रहः मम्मटः निदर्शितः। तत्र तावत् चतुर्थोल्लासे मम्मटीयाभिप्रायसमाविष्करणपरौ श्लोकाविमौ -

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।  
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः॥  
विभावाः अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।  
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः॥<sup>२४</sup> इति।

आनन्दवर्धनः ध्वन्यालोकस्य तृतीये उद्योते शान्तरसं प्रतिष्ठापितवान्। यथा -

“शान्तश्च तृष्णाक्षयसुखस्य यः परिपोषस्तल्लक्षणो रसः प्रतीयत एव तथा चोक्तम् -  
यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।  
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥<sup>२५</sup> इति।

चतुर्थोद्योते महाभारते शान्तरसं अङ्गीरूपेण प्रत्यपादयत्। लोचनकारोऽपि शान्तरसस्य माहात्म्यं व्याख्यातवान्। तेन प्रभावितः मम्मटः रसभेदगणनावसरे काव्यप्रकाशे चतुर्थोल्लासे -

“शान्तोऽपि नवमो रसः।<sup>२६</sup> इति।

स्पष्टमुदघोषयत्।

इत्थं मया शोधलेखेऽस्मिन् मम्मटाचार्यस्य काव्यप्रकाशग्रन्थस्य श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यैः विरचितायाः लोचनटीकायाः साररूपः विस्तरभयाद् संक्षिप्तरूपेण विलिखितः।

#### अन्त्याटीका

१. आचार्यजगन्नाथ, पाठकः (सम्पादकः), ध्वन्यालोकः, प्रथम उद्योतः, लोचनम्- १, पुनर्मुद्रितसंस्करणम्, वाराणसी, चौखम्बाविद्याभवनम्, २०११, पृष्ठम्- १७१
२. अपारे काव्यसंसारे कविरिकः प्रजापतिः।  
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥ तत्रैव, तृतीय उद्योतः, पृष्ठम् - ५३०
३. आचार्यजगन्नाथ, पाठकः (सम्पादकः), ध्वन्यालोकः, प्रथम उद्योतः, लोचनम्- १, पुनर्मुद्रितसंस्करणम्, वाराणसी, चौखम्बाविद्याभवनम्, २०११, पृष्ठम् - १
४. वामनाचार्यः, भट्टः (टीकाकारः), काव्यप्रकाशः, प्रथम उल्लासः, कारिका -१, पुनर्मुद्रितसंस्करणम्, दिल्ली, परिमलपब्लिकेशन्स, २००८, पृष्ठम् - २

५. वामनाचार्यः, भट्टः (टीकाकारः), काव्यप्रकाशः, प्रथम उल्लासः, पुनर्मुद्रितसंस्करणम्, दिल्ली, परिमलपब्लिकेशन्स, २००८, पूटम् - १३
६. आचार्यजगन्नाथ, पाठकः (सम्पादकः), ध्वन्यालोकः, प्रथम उद्योतः, पुनर्मुद्रितसंस्करणम्, वाराणसी, चौखम्बाविद्याभवनम्, २०११, पूटम् - २३
७. आचार्यजगन्नाथ, पाठकः (सम्पादकः), ध्वन्यालोकः, प्रथम उद्योतः, लोचनम् - १, पुनर्मुद्रितसंस्करणम्, वाराणसी, चौखम्बाविद्याभवनम्, २०११, पूटम् - ९३-९४
८. वामनाचार्यः, भट्टः (टीकाकारः), काव्यप्रकाशः, प्रथम उल्लासः, कारिका- ३, पुनर्मुद्रितसंस्करणम्, दिल्ली, परिमलपब्लिकेशन्स, २००८, पूटम् - ११
९. तत्रैव, प्रथम उल्लासः, कारिका- ४, पूटम् - १९
१०. तत्रैव, प्रथम उल्लासः, पूटम् - १९
११. आचार्यजगन्नाथ, पाठकः (सम्पादकः), ध्वन्यालोकः, प्रथम उद्योतः, कारिका- १६, पुनर्मुद्रितसंस्करणम्, वाराणसी, चौखम्बाविद्याभवनम्, २०११, पूटम् - १५६
१२. आचार्यजगन्नाथ, पाठकः (सम्पादकः), ध्वन्यालोकः, प्रथम उद्योतः, लोचनम्- १, पुनर्मुद्रितसंस्करणम्, वाराणसी, चौखम्बाविद्याभवनम्, २०११, पूटम् - १५५-१५६
१३. वामनाचार्यः, भट्टः (टीकाकारः), काव्यप्रकाशः, द्वितीय उल्लासः, कारिका- ९, पुनर्मुद्रितसंस्करणम्, दिल्ली, परिमलपब्लिकेशन्स, २००८, पूटम् - ४०
१४. तत्रैव, द्वितीय उल्लासः, कारिका- २०, पूटम् - ७०
१५. तत्रैव, तृतीय उल्लासः, कारिका- २३, पूटम् - ८१
१६. आचार्यजगन्नाथ, पाठकः (सम्पादकः), ध्वन्यालोकः, प्रथम उद्योतः, कारिका- १३, पुनर्मुद्रितसंस्करणम्, वाराणसी, चौखम्बाविद्याभवनम्, २०११, पूटम् - १०२
१७. तत्रैव, प्रथम उद्योतः, कारिका- ८, पूटम् - ९७
१८. तत्रैव, तृतीय उद्योतः, कारिका- ३२, पूटम् - ४४१
१९. आचार्यजगन्नाथ, पाठकः (सम्पादकः), ध्वन्यालोकः, प्रथम उद्योतः, लोचनम्- १, पुनर्मुद्रितसंस्करणम्, वाराणसी, चौखम्बाविद्याभवनम्, २०११, पूटम् - १०३
२०. विमलाकान्तः, मुखोपाध्यायः (व्याख्याकारः), काव्यप्रकाशः, चतुर्थ उल्लासः, प्रथमप्रकाशः, कोलकाता, संस्कृतपुस्तकभाण्डारः, १४१७, पूटम् - १८३
२१. आचार्यजगन्नाथ, पाठकः (सम्पादकः), ध्वन्यालोकः, तृतीय उद्योतः, कारिका- ४१, पुनर्मुद्रितसंस्करणम्, वाराणसी, चौखम्बाविद्याभवनम्, २०११, पूटम् - ५२५
२२. वामनाचार्यः, भट्टः (टीकाकारः), काव्यप्रकाशः, पञ्चम उल्लासः, कारिका- ४५, पुनर्मुद्रितसंस्करणम्, दिल्ली, परिमलपब्लिकेशन्स, २००८, पूटम् - १९०
२३. डॉ. सुरेशचन्द्रः, वन्द्योपाध्यायः (सम्पादकः), भरतनाट्यशास्त्रम्, षष्ठ अध्यायः, श्लोकः - १५, षष्ठमुद्रणम्, कोलकाता, नवपत्रप्रकाशनम्, २००४, पूटम् - १३३
२४. वामनाचार्यः, भट्टः (टीकाकारः), काव्यप्रकाशः, चतुर्थ उल्लासः, कारिका- २७-२८, पुनर्मुद्रितसंस्करणम्, दिल्ली, परिमलपब्लिकेशन्स, २००८, पूटम् - ८५-८६

२५. आचार्यजगन्नाथ, पाठकः (सम्पादकः), ध्वन्यालोकः, तृतीय उद्योतः, पुनर्मुद्रितसंस्करणम्, वाराणसी, चौखम्बाविद्याभवनम्, २०११, पृटम् - ४३०
२६. वामनाचार्यः, भट्टः (टीकाकारः), काव्यप्रकाशः, चतुर्थ उल्लासः, कारिका- ३५, पुनर्मुद्रितसंस्करणम्, दिल्ली, परिमलपब्लिकेशन्स, २००८, पृटम् - ११७

#### सन्दर्भग्रन्थसूची

- आचार्यजगन्नाथ, पाठकः (सम्पादकः), ध्वन्यालोकः, पुनर्मुद्रितसंस्करणम्, वाराणसी, चौखम्बाविद्याभवनम्, २०११
- एस्. वि. रङ्गरामानुजाचार्युलु (ग्रन्थकारः), काव्यप्रकाशसहृदयप्रकाशः, प्रथममुद्रणम्, तिरुपतिः, राष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्, २०११
- बुद्धेश्वरः, षडङ्गी (व्याख्याकारः), काव्यप्रकाशः, द्वितीयप्रकाशः, कोलकाता, द्य वेनारस मार्कन्टाइल कम्पनी, २०१९
- वामनाचार्यः, भट्टः (टीकाकारः), काव्यप्रकाशः, पुनर्मुद्रितसंस्करणम्, दिल्ली, परिमलपब्लिकेशन्स, २००८
- विमलाकान्तः, मुखोपाध्यायः (व्याख्याकारः), काव्यप्रकाशः, प्रथमप्रकाशः, कोलकाता, संस्कृतपुस्तकभाण्डारः, १४१७
- शिवप्रसादः, द्विवेदी (व्याख्याकारः एवं सम्पादकश्च), ध्वन्यालोकः, पुनर्मुद्रितसंस्करणम्, वाराणसी, चौखम्बासुरभारती-प्रकाशनम्, २०२०
- सत्यनारायणः, चक्रवर्ती (सम्पा.), ध्वन्यालोकः, पुनर्मुद्रितसंस्करणम्, कोलकाता, संस्कृतपुस्तकभाण्डारः, २०१६
- सुरेशचन्द्रः, वन्द्योपाध्यायः (सम्पादकः), भरतनाट्यशास्त्रम्, षष्ठमुद्रणम्, कोलकाता, नवपत्रप्रकाशनम्, २००४

-----

## आश्वलायनगृह्यसूत्रे विवाहविमर्शः

### मामणि मण्डलः\*

वेदस्य शिक्षादिषडङ्गेषु खलु कल्पस्य महत्त्वपूर्णं स्थानं वरीवर्ति। कल्पशास्त्रमिदं वेदपुरुषस्य हस्तरूपेण कल्पितम्।<sup>१</sup> वेदविहितानां यज्ञादिविषयाणां वर्णनत्वात् कल्पशास्त्रस्य कल्पत्वमिति विष्णुमित्रपादैर्भणितम्। अतस्तैरुल्लिख्यते ऋग्वेदप्रातिशाख्यस्य टीकायां 'वेदविहितानां कर्मणाम् आनुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्' इति।<sup>२</sup> कल्पशास्त्रमिदं श्रौत-गृह्य-धर्म-शुल्बभेदेन चतुर्विधम्। गृहस्थाश्रमस्य कृते श्रौतादिसूत्रचतुष्टयेषु गृह्यसूत्रमन्यतम्। पुनरपि गृह्यसूत्रेषु आश्वलायनगृह्यसूत्रं प्राचीनतममिति प्रथते। सूत्रमिदम् आश्वलायनाचार्येण प्रणीतम्, यः शौनकस्य शिष्यः आसीत्। आश्वलायनगृह्यसूत्रे चत्वारोऽध्यायाः विलसन्ति। चतुर्षु अध्यायेषु जातकर्मान्नप्राशनादि-वर्णितविषयेषु विवाहसंस्कारस्य वैशद्येन वर्णनं संलक्ष्यते, यत्तु शोधपत्रस्यास्य मुख्यतया विवेच्यं वर्तते।

वस्तुतस्तु हिन्दुसंस्कारेषु सर्वापेक्षया महत्त्वपूर्णः संस्कारो भवति विवाहः। गर्भाधानादिषोडशसंस्कारेषु विवाहो भवति अन्यतमः संस्कारः। स्मृतिकृद्गीरघुनन्दनपादैः स्वकीये उद्गाहत्त्वग्रन्थे विवाहविषये प्रोक्तम्- 'भार्यात्वसम्पादकग्रहणं विवाहः' इति। अर्थाद् इयं नारी मम भार्या इत्यनया भावनया पत्याः ग्रहणमेव विवाहो यद्वा पत्याः आत्मनः पतिकर्तृकात्मसात्करणस्य चिन्तनमूलकसंस्कारो विवाहः। अनेन विवाहानुष्ठानेन गार्हस्थाश्रमे प्रविष्टः पुरुषः तस्य परिणीतया पत्या सह देवतापूजा-यज्ञाद्यनुष्ठान-सन्तानोत्पन्नादिभिः समाजस्य मङ्गलं विदधाति। किञ्च अनेन अनुष्ठानेन पत्याः आत्मशक्तिः पत्युः आत्मानम् आश्रित्य तेन सह सम्मिलिता भवति। एवं प्रकारेण पत्याः सत्तां स्वस्मिन् गृहीत्वा पुरुषः 'स्वामी' इत्येवम् अभिधाय पूर्णतां प्राप्नोति। अनेन विवाहानुष्ठानेन पत्नी पतिश्च एकात्मत्वम् एकाङ्गत्वं च भजेते। किञ्च पत्नी तस्य पत्युः अर्धाङ्गिनीरूपेण परिचिता भवति। विवाहात् परं स्त्री यदा मातृत्वपदे उन्नीता भवति तदा जठरे सन्तानं धारयतीति कारणात् तस्याः 'धात्री' इति नाम। पुत्रजन्मनः आधारत्वात् तस्याः 'जननी' इति संज्ञा। अन्नादिना सन्तानं परिपोषयतीति कारणात् 'अम्बा' इति नाम। वीरपुत्रस्य प्रसवकारणात् सा 'वीरसू' इति नाम्ना अपि अभिधीयते। विवाहशब्दस्य पर्यायशब्दरूपेण शास्त्रे उद्गाह-विवाह-परिणय-उपयम-पाणिग्रहणादिविधशब्दानां प्रयोगो दृश्यते। तेषां सर्वेषां शब्दानामर्थो अधः ज्ञातुं शक्यते -

**उद्गाहः** - विवाहात् परं नार्याः पितृगृहात् पतिद्वारा स्वगृहे आनयनम्।

**विवाहः** - नारीं स्वायत्तीकर्तुं विशेषव्यवस्थाम् अवलम्ब्य पतिना स्वकीयगृहे आनयनम्।

**परिणयः** - नार्या सह यज्ञाग्निं सर्वतः परिक्रमणं कृत्वा ग्रहणम्।

**उपयमः** - स्वस्य समीपे नार्याः आगमनम्, तस्याश्च होमाग्निं साक्षीकृत्वा स्वायत्तीकरणम्।

**पाणिग्रहणम्**- कन्यायाः हस्तग्रहणम्, सा स्वीया इति चिन्तनम्।

\* गवेषिका, संस्कृतविभागः, सिधो-कानहो-वीरसा-विश्वविद्यालयः पुरुलिया, पश्चिमबङ्गः

एवमेतेषु सर्वेषु शब्देषु विवाहशब्दो बाहुल्येन प्रसिद्धो जातः।

आश्वलायनगृह्यसूत्रे विवाहसंस्कारस्य कालविषये वर्णितमस्ति यत् 'उदगयन आपूर्यमाणपक्षे कल्याणे नक्षत्रे चौलकर्मोपनयनगोदानविवाहाः'<sup>३</sup> इति। अर्थात् चूडाकरणम्, उपनयनम्, गोदानम्, विवाहश्चेति एते संस्काराः उत्तरायणान्तर्गतस्य कस्यचिन्मासस्य शुक्लपक्षे अनुष्ठीयन्ते।

केषाञ्चित् मते विवाहसंस्कारस्य अनुष्ठानं यस्मिन् कस्मिंश्चिन्मासे भवितुम् अर्हति। यथोक्तम् - 'सार्वकालमेके विवाहम्'<sup>४</sup> इति।

आश्वलायनगृह्यसूत्रे विवाहात् पूर्वं वरवध्वोः वंशपरिचयविषयेऽप्युल्लेखः समुपलभ्यते। उक्तञ्च - 'कुलमग्रे परीक्षेत ये मातृतः पितृतश्चेति यथोक्तं पुरस्तात्'<sup>५</sup> इति।

विवाहानुष्ठानार्थं वरवध्वोः चयनम्, पात्रस्य च गुणाः निश्चयेन द्रष्टव्याः भवन्ति। आश्वलायनगृह्यसूत्रे गुणवते वराय कन्यासम्प्रदानस्य निर्देशः प्राप्यते - 'बुद्धिमते कन्या प्रयच्छेत्'<sup>६</sup> इति। आपस्तम्बगृह्यसूत्रेऽपि ऋषिणा प्रोक्तं यत् 'बन्धुशीललक्षणसम्पन्नः श्रुतवानरोगः इति वरसंपत्'<sup>७</sup> इति। अर्थात् वरस्य योग्यताः भवन्ति- उत्तमवंशे जन्मग्रहणम्, उत्तमचारित्र्यम्, सुलक्षणसम्पन्नत्वम्, शास्त्रे पाण्डित्यम्, रोगहीनत्वं चेति। अभिज्ञानशाकुन्तलमित्याख्ये नाटके कालिदासेन प्रोक्तम्- 'गुणवते कन्यका प्रतिपादनीया इति अयं तावत् प्रथमसंकल्पः'<sup>८</sup> इति। गुणवते वराय कन्या सम्प्रदानीया इति कन्यायाः विवाहविषये पित्रोः प्रथमसंकल्पो भवेत्।

स्मृतिकारो यमो वरस्य सप्त गुणान् प्रोवाच -

कुलं च शीलं च सनाथतां च विद्यां च वित्तं च वपु यशश्च।

एतानि सप्तैव गुणानि वीक्ष्य देया कन्या बुधैः शेषमचिन्त्यनीयम्।।<sup>९</sup>

आश्वलायनगृह्यसूत्रे कन्यायाः गुणसमूहविषयेऽपि आम्नातम् - 'बुद्धिरूपशीललक्षणसम्पन्नारोगामुप-यच्छेत्'<sup>१०</sup> इति। अर्थात् बुद्धिमतीं रूपवतीं सदाचारसम्पन्नां नीरोगां कन्यां परिणयेत्। महाभारतस्य उद्योगपर्वणि वरवध्वोः रूपगुणादिविषये इत्थं वर्णितम् - 'समै विवाहं कुरुते न हीनैः समैः सख्यं व्यवहारं कथां च'<sup>११</sup> इति। अर्थात् पतिपत्न्योः रूप-गुणादयः समानाः स्युः। यतोहि एकस्मात् अपरस्य हीनत्वे तयोः मध्ये सख्यस्य व्यवहारस्य वार्तालापस्य च मध्ये असङ्गतिः भवितुमर्हति। किन्तु वरवध्वोः रूप-गुणादयः समानाः भवन्ति चेत् तयोर्मध्ये पारस्परिककलह-विषाद-विवाहविच्छेदादीनां सम्भावनं न स्यात्। किञ्च तौ परस्परम् एकात्मौ, एकप्राणौ, एकमनसी च भवेताम्। तयोः महासम्मेलनेन च जीवनं सुखमयम्, शान्तिमयम् आनन्दमयं च स्यात्। तयोः एकात्मत्वात् तयोर्मध्ये किमपि दुःखम् अशान्तिः वा भवति चेदपि तौ केनापि प्रकारेण मार्गभ्रष्टौ न भवतः। किन्तु उभयं प्रति एकात्मत्वं सर्वोत्तमशक्त्या दृढीकरणीयम्। यतोहि विवाहेन पतिपत्न्योः यत् बन्धनं भवति तस्य प्रभावस्तु सुदूरप्रसारी भवति, अत्र अनाचारस्य व्यभिचारस्य वा नास्ति किमपि स्थानम्। अनेन मेलनेन समाजे संसारे च स्नेह-मैत्री-प्रीतीत्यादयः प्रवृत्तयः स्थायिरूपेण सर्वेषु कार्येषु प्रेरयन्ति।

वरवध्वोः गुणसमूहस्य वैपरीत्ये सति तस्मिन् गृहे शान्तिः न स्यात्, विवाहात् परमेव तयोः मध्ये कलह-विवाद-विवाहविच्छेद-प्रभृतयः समस्याः नितरां जायन्ते। तस्मात् कारणात् सर्वेषाम् आशा भवति यत् वरवध्वोः विच्छेदः न भवतु, अपि तु पत्या सह पत्याः सम्बन्धः मधुरः दृढश्च यथा आसीत् तद्

अधिकं भवेत्। अस्मात् कारणात् वरवध्वोः यः गुणसमूहः वर्णितः, स द्वयोः मध्ये यथायथं यदि स्यात् तर्हि सम्बन्धः दृढः गम्भीरश्रद्धापूर्णश्च स्यात्। तस्मात् गृहस्थजीवने सुखस्थापनार्थं वरवध्वोः गुणसमूहः समानः आवश्यकः। यतोहि गृहस्थाश्रमः कोऽपि आमोदप्रमोदस्य क्षेत्रविशेषः स्थानविशेषश्च नास्ति, अपि तु संग्रामक्षेत्रं कठोरपरीक्षाकेन्द्रं च वर्तते। गृहस्थाश्रमस्य सार्थकता पुरुषस्त्रियोः साधनोपरि अधीना भवति, यतोहि पतिपत्न्योः परस्परस्य आकर्षणेन गृहस्थाश्रमः स्वर्गे परिणतः भवति। तस्मात् कारणाद् आश्वलायनगृह्यसूत्रे वरवध्वोः केचन मुख्यगुणाः उल्लिखिताः सन्ति।

परन्तु कन्या सुलक्षणा अस्ति न वा इत्येतद् अवगन्तुमाश्वलायनगृह्यसूत्रे परीक्षाविषयः उल्लिखितो वर्तते। यथोक्तं तत्र – ‘अष्टौ पिण्डान् कृत्वा ऋतमग्रे प्रथमं जज्ञ ऋते सत्यं प्रतिष्ठितम्। यदियं कुमार्यभिजाता तदियमिह प्रतिपद्यताम्। यत् सत्यं तद् दृश्यताम्। इति पिण्डानभिमन्त्र्य कुमारीं ब्रूयाद् एषामेकं गृहाणेति’<sup>१२</sup> इति। अस्य सूत्रस्य इदं तात्पर्यं भवति- उर्वरभूमिः, गोशाला, यज्ञवेदिः, हृदः, द्यूतक्रीडास्थानम्, चतुष्पथः, वन्ध्याभूमिः श्मशानं चेति एतेभ्यः अष्टस्थानेभ्यः मृत्तिकाः आनीय ताभिः पिण्डान् प्रस्तुत्य तान् च पिण्डान् कन्यायाः पुरस्तात् संस्थाप्य तेषु एकस्य पिण्डस्य उत्तोलनार्थं तया वक्तव्या। तस्याः पिण्डोत्तोलनमाध्यमेनैव तस्याः सुलक्षणत्वविषये अवगन्तुं शक्यते। अर्थाद् यदि उर्वरभूमितः आनीतायाः मृत्तिकायाः पिण्डम् उत्तोलयति तर्हि तस्याः सुताः प्रभूतान्नस्य अधिकारिणो भवन्ति। यदि गोशालातः आनीतायाः मृत्तिकायाः पिण्डम् उत्तोलयति तर्हि प्रभूतपशूनाम् अधिकारिणी भवति। यदि यज्ञवेदितः आनीतायाः मृत्तिकायाः पिण्डम् उत्तोलयति तर्हि सा ब्रह्मशक्तिसम्पन्ना भवति। यदि अशोष्यहृदात् आनीतायाः मृत्तिकायाः पिण्डम् उत्तोलयति तर्हि सर्वसम्पदा भवति। द्यूतक्रीडास्थानात् आनीतायाः मृत्तिकायाः पिण्डम् उत्तोलयति चेत् द्यूते आसक्ता भवति। चतुष्पथात् आनीतायाः मृत्तिकायाः पिण्डम् उत्तोलयति चेत् व्यभिचारिणी भवति। बन्ध्याभूमितः आनीतायाः मृत्तिकायाः पिण्डम् उत्तोलयति चेत् दरिद्रा भवति। श्मशानात् आनीतायाः मृत्तिकायाः पिण्डम् उत्तोलयति चेत् पतिघातिनी भवति इति।

आश्वलायनगृह्यसूत्रे विवाहस्य अष्टौ प्रकाराः उल्लिखिताः सन्ति। यथा – ब्रह्मः, दैवः, प्राजापत्यः, आर्यः, गान्धर्वः, आसुरः, पैशाचः, राक्षसः चेति। आद्येषु चतुर्षु विवाहेषु परस्मात् पूर्वम् अधिकं प्रशस्तम्, अन्तिमेषु च चतुर्षु पूर्वापेक्षया परम् अधिकं प्रशस्तम्। अष्टसु आद्यद्वयं ब्राह्मणानां कृते प्रयोज्यम्, गान्धर्वः राक्षसश्चेति क्षत्रियाणां कृते, आसुरः वैश्यानां कृते, शेषाश्च त्रयः सर्वेषां कृते प्रयोज्याः।

आश्वलायनगृह्यसूत्रे शास्त्राचारम् अतिरिच्य लोकाचारस्यापि उल्लेखः विद्यते। तथाहि- ‘पश्चादग्रेर्दृषदमश्मानं प्रतिष्ठाप्योत्तरपुरस्तादुदकुम्भं समन्वारब्धायां हुत्वा तिष्ठन् प्रत्यङ्मुखः प्राङ् मुख्या आसीनाया गृष्णामिते सौभगत्वाय हस्तम् इत्यङ्गुष्ठमेव गृह्णीयाद्यदि कामयीत पुंमांस एव मे पुत्रा जायेरन्निति’<sup>१३</sup> इति अर्थात् एतस्मै अनुष्ठानाय अग्नेः पश्चाद् दृषदम् अश्मानम् उत्तरपूर्वदिशि च जलपूर्णं कलसं प्रतिष्ठाप्यते। वधूं समस्पृश्य वरः होमं सम्पादयति। पुनः अग्निं जलं कलसं च सर्वतः वरवधूभ्यां प्रदक्षिणं कर्तव्यम्। प्रतिवारं प्रदक्षिणं कृत्वा वधूः प्रस्तरखण्डस्य उपरि आरोहेत्। किञ्च वध्वाः अङ्गुल्यां तस्याः भ्राता भ्रातृसमः वा कश्चित् वारद्वयं वारत्रयं वा लाजं निक्षेपेत्। अग्नेः चतुर्दिशि प्रदक्षिणम् अकृत्वा वधूः शूर्पेण स्वदिशि निःशब्दं चतुर्थवारं लाजं प्रदद्यात्- ‘अपरिणीय शूर्पपुटेनाभ्यात्मं तूष्णीं चतुर्थम्’<sup>१४</sup> इति। यदि वध्वोः केशः बद्धः स्यात् तदा तस्याः केशः उन्मोचनीयः – ‘अथास्यै शिखे विमुञ्चति यदि कृते भवतः’<sup>१५</sup> इति। उत्तरपूर्वदिशि वध्वा सप्तवारं प्रदक्षिणं कर्तव्यम्, किञ्च सप्तमे पदक्षेपे वरवध्वौ एकीकृत्य

तयोः मस्तकयोः कलसेन जलं पातयेत्।

विवाहात् परं वध्वाः पित्रोः गृहस्य परित्यागकाले चक्षुषी अश्रुपूर्णे भवतश्चेत् वरः वधूं स्वीकृत्य आगमनसमये कुत्रचित् रात्रियापनसमये कस्याश्चित् पतिपुत्रसहितायाः वृद्धायाः गृहे आश्रयं कुर्यात्। लाजहोमसमयात् मौनम् आचरणीयम्, आकाशे ध्रुवस्य अरुन्धत्यी सर्पिर्मण्डलस्य च दर्शनानन्तरं मौनव्रतस्य भङ्गनं करिष्यति। निजगृहे आगमनात् परं विवाहाग्निं समुचितस्थाने स्थापयित्वा तस्य पश्चात् वलीवर्दस्य चर्म विस्तीर्यते। तस्मिन् चर्मणि उपविष्टायां वध्वां वरः वधूं संस्पृश्य चतुरः होमान् सम्पादयति। होमात् परं वरः दधि भुक्त्वा अवशिष्टं च वध्वै भोजनाय ददाति। तस्मिन् दिने लवणजातीयं किमपि भोजनं न भोक्तव्यम्। किञ्च अलंकृत्य भूमौ शयनं ब्रह्मचारीवत् शयनीयम्- 'अत ऊर्ध्वमक्षारालवणशिनौब्रह्मचारिणावलंकुर्याणावधःशायिनौ स्याताम्'<sup>१६</sup> इति।

**आश्वलायनगृह्यसूत्रे वधूविषये उपदेशः**

वधूम् अग्नेः जलपूर्णकुम्भस्य चतुर्दिशि वारत्रयं प्रदक्षिणं कृत्वा परिक्रमन् सः अमोऽमस्मि इति मन्त्रं जपेत्। वारत्रयं प्रदक्षिणं कृत्वा वधूं वदेत् प्रस्तरस्योपरि कुरु, प्रस्तरः इव अचञ्चला भव, शत्रून् अतिक्रमतु, पराजयतु।

**आश्वलायनगृह्यसूत्रे सन्ततेः कामनार्थम् उपदेशः**

यदि पुत्रसन्ततिः काम्यते तर्हि पश्चिममुखं कृत्वा तिष्ठन् पूर्वमुखं कृत्वा उपविष्टायाः वध्वाः अङ्गुष्ठं धारयित्वा गृभ्नानि इति वक्तव्यम्। कन्यासन्ततिं कामयते चेत् वध्वाः अङ्गुष्ठम् अधारयित्वा भिन्नाङ्गुलीः स्पृशेत्। यदि पुत्रकन्ये कामयेत् तदा अङ्गुष्ठेन सह रोमपूर्णादिग्विशिष्टं हस्तं धारयिष्यति।

धर्मशास्त्र-स्मृतिशास्त्र-याज्ञवल्क्यसंहिता-मनुसंहितादिषु ग्रन्थेषु षोडशसंस्कारस्य मध्ये विवाहः अत्यन्तं महत्त्वपूर्णसंस्काररूपेण परिगण्यते। यतोहि समाजे प्रथमः सोपानो भवति परिवारः। पारिवारिकं जीवनम् आरभ्यते विवाहेन। विवाहेनैव एका नारी एकश्च पुरुषः सकलकार्ये परस्परं सहायकौ भवतः। किञ्च तयोः मध्ये प्रीतेः निर्माणं भवति, सन्तानं च लभ्यते। अत एव वक्तुं शक्यते यत् मानवजीवने वंशरक्षायाः प्रवाहः विवाहबन्धने आबद्धः, विवाहश्च परिवारस्य मूलस्तम्भः। तस्मात् कथयितुं शक्यते यत् विवाहसंस्कारेण एकः असम्पूर्णो मानवः सम्पूर्णो भवति।

विवाहस्य प्रधानोद्देश्यसाधनार्थं प्राचीनस्मृतिकाराः कांश्चन पथः निर्दिष्टवन्तः। तथाहि- विवाहः केवलं नरनार्योः दैहिकमेलनार्थं सुन्तानौत्पादनार्थं नास्ति। पुरुषनार्योः विवाहात् परं पतिरूपेण पत्नीरूपेण च परिणतौ भवतः। तौ मिलित्वा सर्वाणि सांसारिककार्याणि धर्मकर्मादीन् अनुष्ठाप्यतः इत्येषः ऋषीणाम् उपदेशः। मनुना प्रोक्तम् -

अन्येन्यस्याव्यभिचारो भवेदामरणान्तिकः।

एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः।।

तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ।

यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्तावितरेतरम्।<sup>१७</sup>

बहुदीनं यावत् सामाजिकरीत्यनुसारं शास्त्रनये विवाहस्य, किञ्च पञ्जीकरणं (Registry) कृत्वा विवाहस्य वर्तमाना या व्यवस्था, तस्याः सर्वत्र लक्ष्यम् एकमेव अवश्यं भवेत् तत् भवति पतिपत्न्योः मध्ये

द्वे मनसी, द्वौ प्राणौ, द्वौ आत्मानौ एकं स्याताम्। तयोः सम्बन्धः गाढः, सुन्दरतमः इति वाचकश्च स्यात्। तस्मात् कारणात् विवाहनामकसामाजिकसंस्कारस्यापि माहात्म्यम् सर्वत्र कीर्तितम्।

### सन्दर्भाः

१. छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते। पाणिनीय-शिक्षा - ४१
२. विष्णु. ऋक्., पृ. - १३
३. आश्वलायनगृह्यसूत्रम्, १.४.१
४. आश्वलायनगृह्यसूत्रम्, १.४.२
५. आश्वलायनगृह्यसूत्रम्, १.५.१
६. आश्वलायनगृह्यसूत्रम्, १.५.२
७. आपस्तम्बगृह्यसूत्रम्, १.३.२०
८. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अङ्क - ४
९. वन्द्योपाध्याय, मानवेन्दु। हिन्दूशास्त्रमते विवाह। कलकाता : संस्कृत पुस्तक भण्डार, २०२१, पृ. ६
१०. आश्वलायनगृह्यसूत्रम्, १.५.३
११. महाभारत, उद्योत पर्व, ३३.११७
१२. आश्वलायनगृह्यसूत्रम्, १.५.५
१३. आश्वलायनगृह्यसूत्रम्, १.७.३
१४. आश्वलायनगृह्यसूत्रम्, १.७.१४
१५. आश्वलायनगृह्यसूत्रम्, १.७.१६
१६. आश्वलायनगृह्यसूत्रम्, १.८.१०
१७. मनुस्मृति-संहिता, ९.१०१-१०२, पृष्ठ- २८५

### सन्दर्भग्रन्थसूची

#### मूलग्रन्थाः

- आश्वलायनगृह्यसूत्रम्, (सम्पा.) गणेशशास्त्री। पुणे : आनन्दआश्रममुद्राणालय, १९७८।
- ऋग्वेदीयगृह्यसूत्रम्, (सम्पा.) अमर कुमार चट्टोपाध्यायः। कलकाता : संस्कृतपुस्तकभण्डार, प्रथम सं. १४०८।
- मनुसंहिता, (सम्पा.) जयन्त चक्रवर्ती। कलकाता : सञ्चयन प्रकाशनी, प्रथम संस्करणम् २०११।
- मनुस्मृति, राजाराम गुप्ता। दिल्ली : पुस्तकमहल, २०२०।
- पारस्करगृह्यसूत्रम्, (सम्पा.) श्री अशोककुमार वन्द्योपाध्यायः। कलकाता : संस्कृतपुस्तकभण्डार, १४०६।
- पारस्करगृह्यसूत्रम्, (सम्पा.) ब्रह्मानन्द त्रिपाठी। वाराणसी : चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, २०१६।

#### सहायकग्रन्थाः

- द्विवेदी, कपिलदेव। वैदिक साहित्य एवं संस्कृति। वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन, अष्टम सं., २०२१।
- पाण्डे, राजवल्ली। हिन्दुसंस्कारः। वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवनम्, २०१९।
- वसु, अनिलचन्द्र। अभिज्ञानशाकुन्तलम्। कलकाता : संस्कृतवुकडिपो, चतुर्थसंस्करणम्, २००३।
- वन्द्योपाध्याय, मानवेन्दु। हिन्दूशास्त्रमते विवाहः। कलकाता : संस्कृतपुस्तकभण्डार, २००६।
- विद्यासागर, मदनमोहन। संस्कार समुच्चयः। दिल्ली : विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द, २०१९।

## विवाहसंस्कारेषु कन्यादानमेकं सम्बन्धस्थापनम्

### सरस्वती अधिकारी\*

प्रस्तावना- विश्वसाहित्यस्य प्राचीनतमाः ग्रन्थाः वेदाः सन्ति। वेदाः सर्वेषु शास्त्रेषु मूलं भवति। अयं वेदः मन्त्रब्राह्मणात्मकः ज्ञानराशिः अस्ति। स्वतन्त्रभावेन धर्मनिरूपणे वेदो प्रमाणम्। श्रुतिस्मृत्योर्विरोधे श्रुतिरेव गरीयसी इति। वेदशब्देन मुख्यतः ऋग्यजुःसामाथर्व इति चत्वारो वेदाः गम्यते। वैदिकसाहित्यादारभ्य आधुनिकसाहित्यं यावत् संस्कारशब्दः सर्वत्र दृश्यते। अस्मिन् विषये मनुना उक्तम् -

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजजन्मनाम्।

कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च।<sup>१</sup>

शास्त्रकाराः स्मृतिकाराः च बहुविधसंस्कारविषये स्मृत्यनुसारं धर्मशास्त्रनिबन्धग्रन्थानुसारं च प्रदर्शयन्ति। तथा च हारीतः द्विविधः संस्कारो भवति ब्राह्मो दैवश्च। गर्भाधानादिस्मार्तो ब्राह्मः। पाकयज्ञहविर्यज्ञसौम्याश्चेति दैवः।<sup>२</sup>

संस्काराणां नामानि

चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाद्यं गुरौ द्विजः।

द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत्।।

वनेषु तु विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।

चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत्।।<sup>३</sup>

ब्रह्मचर्यं, गार्हस्थ्यं, वानप्रस्थ्यं सन्यासश्चेति चतुर्विधाश्रमविषये स्मृतिशास्त्रेषु बहूनि वाक्यानि सन्ति। वर्णधर्मे, आश्रमधर्मे, वर्णाश्रमधर्मे, गुणधर्मे च संस्कारस्य अन्तर्भावो विद्यते। शास्त्रीयदृष्ट्याः संस्काराः गृह्यसूत्राणां आलोच्यविषयोऽस्ति। ते च प्रागजन्मसंस्कारः, शैशवसंस्कारः, शैक्षणिकसंस्कारः, विवाहसंस्कारान्त्येष्टिसंस्कारश्चेति। संस्कारविषये व्यासेनोक्तम् -

गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो जातकर्म च।

नामक्रिया निष्कामोऽन्नप्राशनं वपनक्रिया।

कर्णवेधो व्रतादेशो वेदारम्भक्रियाविधिः।

केशान्तः स्नानोद्वाहो विवाहोऽग्निपरिग्रहः।

त्रैताग्निसंग्रहश्चैव संस्काराः षोडश स्मृताः।।<sup>४</sup>

षोडश संस्कारेषु विवाहसंस्कारः अतीव महत्त्वपूर्णः भवति। अत्र विवाहप्रकाराः, विवाहस्य कालः,

\* शोधच्छात्रा, संस्कृतविभागः, रवीन्द्रभारतीविश्वविद्यालयः, कोलकाता, पश्चिमबङ्गः

विवाहसंस्कारे वर-कन्यागुणाः, विधि-विधानम्, विवाहसंस्कारस्य प्रतीकञ्च विद्यन्ते।

**विवाहसंस्कारः-** समावर्तनेन संस्कृतो भूत्वा बालकः विवाहसंस्कारेण गार्हस्थ्यश्रमधर्मे प्रविशति। ताण्ड्य महाब्राह्मणे प्राप्तम् - इमौ वै लोकौ सहास्तां तौ वियन्तावभूतां विवाहं विवाहवहै सह नावस्त्विति।<sup>५</sup> पुनः नारदेनोक्तम् - विवाहादिविधः स्त्रीणां यत्र पुंसां च कीर्त्यते।<sup>६</sup> सर्वाश्रमेषु गृहस्थाश्रमः मुख्यत्वेन भवतीति मनुना उक्तम् -

यथावायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।  
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥  
यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।  
गृहस्थैरेव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥<sup>७</sup>

यथा सर्वप्राणिनः प्राणवायुमाश्रित्य जीवन्ति तथा सर्वे आश्रमाः गृहस्थमाश्रित्य सन्ति। ज्ञानान्नेन गृहस्थ एव ज्येष्ठाश्रमः। बुद्धचरितमहाकाव्ये सिद्धार्थस्य गार्हस्थ्यश्रममध्ये प्रवेशं दर्शयामास -

कुलान्ततोऽस्मै स्थिरशीलयुक्तौसाध्वीं वपुह्वीर्विनयोपपन्नम्।  
यशोधरां नाम यशोविशालां वामाभिधानां श्रियमाजुहाव॥<sup>८</sup>

प्राक्जन्मादारभ्य अन्त्येष्टिक्रियापर्यन्तं षोडशसंस्कारविषये मनुना उक्तम्। अनेन संस्कारेण मनुष्याणां चित्तशुद्धिः सम्भवति। षोडशसंस्कारेषु अन्यतमोऽयं विवाहसंस्कारः। यज्ञादिकर्मसु अधिकारार्थं विवाहसंस्कारः निर्दिष्टः। विवाहसंस्कारः एकः पवित्रः यज्ञः। विवाहसंस्कारेण पत्नीमपत्यञ्च प्राप्यते। भार्यात्वस्य ज्ञानं विना विवाहज्ञानं न सम्भवति, पुनः विवाहज्ञानं विना च भार्यात्वज्ञानं न सम्भवति। पत्नी सहधर्मचारिणीत्युच्यते। पत्नी विना कश्चिद् यज्ञादि धर्मकर्मणि पुरुषाणामधिकारो न अस्ति। सन्तानोत्पत्तिं विना मानवः पितृ-ऋणात् नैव मुच्यते। तदुक्तं तैत्तिरीयसंहितायाम् -

जायमानो ह वै ब्राह्मणास्त्रिभिः ऋणैः ऋणवान् जायते।  
ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः॥<sup>९</sup>

विवाहसंस्कारः एव ऐहिकजीवनस्य तथा पारलौकिकजीवनस्य कल्याणं करोति। एवं उपयमपाणिग्रहणशब्दवत् परिणयणशब्दोऽपि शास्त्रेषु प्रयुज्यते। अतएव अयं संस्कारः परिणयः, उद्वाहः, उपयमः इत्यादि शब्दैः बोध्यते। 'वि' उपसर्गपूर्वकात् 'वह प्रापणे' इति धातोः घञ् प्रत्यये विहिते विशिष्टं वहनमिति अर्थपूर्वकोऽयं विवाहः इति शब्दः निष्पन्नः। पाणिग्रहणस्य महत्त्वविषये वृहस्पतिना उक्तम् -

विवाहादेव सत्सृष्टिः सत्सृष्ट्यैव जगत्त्रयम्।  
चतुर्वर्गफलावाप्तिस्तस्मात्परिणयः शुभः॥  
विवाहसमये काले सुखासीनं शुभं प्रियम्।  
दैवज्ञं भक्तितो नत्वा सम्पूज्यादौ यथाबलम्॥<sup>१०</sup>

अथ यदैव जायां विन्दतेऽथा प्रजायते तर्हि हि सर्वो भवति। अर्थात् पुरुषो जायां वित्त्वा कृत्स्नतरमिवात्मानं मन्यते।

**विवाहप्रकाराः**

गृह्यसूत्रकाराः स्मृतिकाराश्च विवाहप्रकारान् दर्शयन्ति। अष्टौ विवाहाः सन्ति, ब्राह्मो दैवः आर्षः प्राजापत्यः आसुरी गान्धर्वो राक्षसः पैशाच इति। विवाहसंस्कारः ईश्वरप्रदत्तं पवित्रमेकं बन्धनस्वरूपम्। अधुना विवाहस्य मुख्य संस्काराः प्रदर्शयामि।

**बधुवरगुणपरीक्षणम्-** अस्मिन् विषये मनुना उक्तम् -

**काममामरणान्तिष्ठेद् गृहे कन्यतुमत्यपि।**

**न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्।।<sup>११</sup>**

अतः कुलाचारादिभिरुत्कृष्टाय समानजातीयाय वराय कन्यां ब्रह्मविवाहविधिना दद्यात्।

**वाग्दानम्-** अत्र वेदमन्त्राणां उच्चारणेन वरपक्षस्य प्रस्तावं कन्यापक्षेण स्वीक्रियते।

**मधुपर्कः-** आपस्तम्बगृह्यसूत्रे वौधायनगृह्यसूत्रे च अस्मिन् विषये वर्णनमस्ति। अत्र वधूगृहे वरस्य अभिवादनं वर्णयति। आपः पादावनेजनीद्विषन्तं नाशयन्तु वरस्य। शब्दकल्पद्रुमे प्राप्तम्- 'दधि सर्पिजलं क्षौद्रं सितैस्ताभिस्तु पञ्चभिः' इति मधुपर्कः।

**कन्यादानम्-** उत्कृष्टं समानजातीयं कुमारं वरं प्रति कन्यादानं सर्वोत्तमं श्रेष्ठञ्च।

**अग्निस्थापनम्-** देवतानाम् अग्निरैतु प्रथमो सोऽस्यै प्रजां मृत्युपाशात् मुञ्चतु। विवाहकाले अग्निस्थापनं तथा होमकार्यं अतीव गुरुत्वपूर्णम्। पाणिग्रहणसंस्कारादव्यवहितपूर्वमेवाग्निस्थापनं कर्तव्यमिति सूचितम्।

**पाणिग्रहणम्-** नियमानुसारेण मन्त्रोच्चारणपूर्वकेन वरः वध्वाः हस्तं धृत्वा सुखदुःखे लाभालाभौ जयाजयौ वध्वा सह वस्तुं प्रतिज्ञां करोति। तदा वरेण उक्तम् -

**गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।**

**भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गाहंपत्याय देवाः।।<sup>१२</sup>**

**अग्निपरिणयनम् -** वरः वध्वा सह 'अमोऽहमस्मि' इति (शांख्यायनगृह्यसूत्रम्- १.१३.४) उच्चारणेन अग्निं प्रदक्षिणं करोति।

**सप्तपदी-** विवाहसंस्कारेषु सप्तपदी अन्यतमः मुख्यः संस्कारः।

**सखा सप्तपदी भव सख्यं ते गमय।**

**सख्यं ते मायोशः सख्यं ते मायोष्टः।।<sup>१३</sup>**

क. एकमिषे विष्णुस्त्वान्वेतु।

ख. द्वे ऊर्जे विष्णुस्त्वान्वेतु।

ग. त्रीणि व्रताय विष्णुस्त्वान्वेतु।

घ. चत्वारि मायोभवाय विष्णुस्त्वान्वेतु।

ङ. पञ्च पशुभ्यो विष्णुस्त्वान्वेतु।

च. षड्भ्यो विष्णुस्त्वान्वेतु।

छ. सप्त सप्तभ्यो होत्राभ्यो विष्णुस्त्वान्वेतु।

सखा सप्तपदा भव सखायौ सप्तपदा बभूव।<sup>१४</sup>

**कन्यादानस्य नियमः**

जन्मादारभ्य अन्त्येष्टिक्रियापर्यन्तं षोडशसंस्काराः स्त्रीणामपि शरीरस्य संस्कारार्थं पालनीयाः। अयं जातकर्मादिक्रियाकलापः अमन्त्रकः कार्यः। तदाह मनुः -

अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः।

संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाकर्मम्।<sup>१५</sup>

षोडशसंस्कारेषु मध्ये स्त्रीणां तु उपनयनं न कार्यम्। तासां विवाहसंस्कारस्य तत्स्थानीयत्वादित्यर्थः। पतिसेवैव गुरुकूले वासो वेदाध्ययनरूपः, रन्धनादिगृहकृत्यमेव ब्रह्मचर्यरूपः व्रतम्। विवाहसंस्कारे कन्यादानविषये मनुना उक्तम् -

अद्भिरेव द्विजाग्र्याणां कन्यादानं प्रसस्यते।

इतरेषान्तु वर्णानामितरेतरकाम्यया।<sup>१६</sup>

उदकदानपूर्वकं ब्राह्मणानां कन्यादानं प्रशस्तम्। परन्तु क्षत्रियादीनां वाक्मात्रेणापि कन्यादानं भवति, न तु जलकरणत्वं तेषां निषिध्यते। अष्टविधविवाहेषु कन्यादानस्य नियमे पार्थक्यं विद्यते। यथा -

**ब्रह्मविवाहः** - अष्टविधः विवाहेषु मुख्यः ब्रह्मविवाहः। मनुस्मृतौ -

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्।

आहूय दानं कन्याया ब्रह्मो धर्मः प्रकीर्तितः।। इति।<sup>१७</sup>

तत्रादौ प्रतिपादितम् वौधायनगृह्यसूत्रे - 'श्रुतशीलिने विज्ञाय ब्रह्मचारिणेऽर्थिने देयेति स ब्रह्म' इति। अत्र कन्यादानं प्रत्यक्षम्।

**दैवविवाहः** - ऋत्विजे श्रौतकर्मादियज्ञे अलङ्कृत्य कन्यादानं दैवविवाहो भवतीति स्मृतिधर्मसूत्रकाराणामभिप्रायः। तदाह मनुः -

यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते।

अलङ्कृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते।।<sup>१८</sup>

**आर्षविवाहः** - आर्षविवाहे गोमिथुनमेकं गोमिथुनद्वयं वा धर्मतः कन्यापक्षाय वरः ददाति। ततश्च यथाशास्त्रं कन्याग्रहणं कुर्याद्, न तु शुक्लबुद्ध्या। मनुनोक्तम् -

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः।

कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते।।<sup>१९</sup>

**प्राजापत्यविवाहः** - 'सह युवां धर्मं कुरुतमिति' कन्याप्रदानसमये कन्यापिता अयं वाक्यं उच्चारणेन सम्यगलङ्कृत्य कन्यां वराय अर्पणं कुर्यात्। यथाह मनुः -

सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च।

कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः।।<sup>२०</sup>

**आसुरविवाहः** - कन्यापित्रेमात्रेऽथवा कन्यायाः ज्ञातिभ्यो यथाशक्तिं धनं दत्त्वा कन्याविवाहः सम्पद्यते।

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः।  
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते।।<sup>२१</sup>

**गान्धर्वविवाहः** - अस्मिन् विवाहे कन्यावरयोरभिलाषः मुख्यः भवति। कन्यायाः वरस्य च अनुरागेण विवाहः सम्भवति। आह मनुः -

इच्छयान्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च।  
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः।।<sup>२२</sup>

**राक्षसविवाहः** - यत्र वरेण वरपक्षीयेण वा वलात्कारेण कन्यायाः हरणं क्रियते, तदा राक्षसविवाहः सम्पद्यते। मनुसंहितायाम् -

हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात्।  
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते।।<sup>२३</sup>

**पैशाचविवाहः** - सुप्तावस्थायां मदोन्मत्तावस्थायां प्रमत्तावस्थायां वा रहितां विजनदेशे कन्याहरणं कृत्वा विवाहः सम्पद्यते। मनुना उक्तम् -

सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति।  
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः।।<sup>२४</sup>

अष्टविधविवाहेषु कन्यादानस्य नियमे व्यवधानमस्ति। एषां मध्ये पूर्वोक्तं चतुर्विधविवाहानां कन्यादानं प्रशस्तम्। तत्रापि ब्रह्मविवाहे यथायथनियमपूर्वकेन कन्यादानं सम्पद्यते। पुनः दानस्य सकृत्करण एव सिद्धत्वम्। नारदेनोक्तम् -

सकृदंशो निपतति सकृत् कन्या प्रदीयते।  
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत्।।<sup>२५</sup>

कन्या पित्रादिना सकृदेकस्मै दत्ता न पुनरन्यस्मै दीयते। किन्तु दत्तायाः कन्यायाः पुनर्दानमपि सिद्धम्। गौतमेनोक्तम्- “प्रतिश्रुत्याप्यधर्मसंयुक्ताय न दद्या”<sup>२६</sup> दिति। अधर्मसंयुक्तं इति वचनादन्यत्र प्रतिश्रुतमददतिति दर्शयति।

वशिष्टोऽपि आह -

कुलशीलविहीनस्य पण्डादिपतितस्य च।  
अपस्मारिविधर्मस्य रोगिणां वेशधारिणाम्।।  
दत्तामपि हरेत् कन्यां सगोत्रोढां तथैव च।<sup>२७</sup>

**कन्यादानाधिकारिणः** - आह धर्मशास्त्रकारः विष्णुः -

“पिता पितामहोभ्राता सकुल्ये मातामहोमाता चेति कन्याप्रदाः, पूर्वाभावे प्रकृतिस्वः परः”<sup>२८</sup> इति। ‘प्रकृतिस्वः’ पातित्योन्मादादिरहितः। अप्रकृतिस्वहेन पित्रादिना कृतमप्यकृतमेव। तदाह नारदः -

स्वतन्त्रोऽपि हि यत् कार्य्यं कुर्यादप्रकृतिं गतः।

तदप्यकृतमेव स्यादस्वातन्त्र्यस्य हेतुतः।।<sup>२९</sup>

अतः पितृत्वादिना स्वतन्त्रोऽपि सन् अप्रकृतिस्हत्वेन हेतुना कन्यादानादिकमकृतमेव। पुनः नारदेनोक्तम् -

पिता दद्यात् स्वयं कन्यां भ्राता वानुमतः पितुः।

मातामहोमातुलश्च सकुल्यो बान्धवस्तथा।।

माता त्वभावे सर्वेषां प्रकृतौ यदि वर्त्तते।

तस्यामप्रकृतिस्थायां कन्यां दद्युः स्वजातयः।।<sup>३०</sup>

अर्थात् पिता स्वयं कन्यां दद्यात्। पित्रा अनुज्ञातो भ्राताऽपि दद्यात्। यथोक्तसर्वाभावे माता दद्यात् कन्यां यदि सा प्रकृतिस्था चेत्।

**कन्यादानस्यफलम्**

कन्यादानफलविषये आह स्मृतिशास्त्रकारः यमः -

कूपारामप्रपाकारी तथा वृक्षादिरोपकः।

कन्याप्रदः सेतुकारी स्वर्गमाप्नोत्यसंशयम्।।<sup>३१</sup>

अर्थात् स्वर्गप्राप्तिरूपः हेतुत्वाद् कन्यादानकर्म प्रशस्यते। स्वर्गसाधनत्वे ज्योतिष्टोमस्य विनियोगो न प्रयोजनमस्ति।

पितरः प्रपितामहाः कन्याप्रदानं कृत्वा सर्वपापेभ्यो मुमुक्षन्ति। अपुत्रेणैव सदा पुत्रप्रतिनिधिः कर्तव्यः। पुत्रेण लोकान् जयति पौत्रेणानन्तमश्नुते इति मन्वादिभिः स्मरणात्। किन्तु कन्यापिता कन्यादानं कृत्वा अनपत्येभ्यः प्रकृष्टं गतिं लभते। पुनः मत्स्यपुराणे -

शास्त्रेषूक्तमसन्दिग्धं बहुद्वारं महाफलम्।

दशपुत्रासमा कन्या यदि स्याच्छीलवर्जिता।।<sup>३२</sup>

**उपसंहारः**

शोधपत्रेऽस्मिन् विवाहसंस्कारे नारीणां कन्यादानविषये चर्चा कृता। अर्थात् दानकर्मणि तासां समाजे सम्मानं कथमासीत्। एतत् सर्वमपि अस्मिन् शोधपत्रे विचारितम्। भगवान् मनुः मनुस्मृतौ नारीणां परिस्थितिः अवस्थाविषये च सम्यक् रूपेणोक्तम् -

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।

यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।।<sup>३३</sup>

नारीणां यत्र सम्मानं नैव भवति, तत्र देवताः न प्रसीदन्ति। विवाहसंस्कारेषु मुख्यसंस्कारकन्यादानविषये मतान्तरं विद्यते, यथा विहितस्य संस्कारस्य कन्यादानमिति नाम्ना संशयं निर्दिशति। अपि च सम्यक् रूपेण मन्त्रार्थमज्ञात्वा विहितं कर्म अनुष्ठानेन पुनः संशयमाविर्भवति।

वेदकालीनसमाजे कन्याः स्त्रियश्च उन्मुक्तवातावरणे तिष्ठन्ति स्म। परन्तु परवर्तीसमये ताः अस्वातन्त्र्येण जीवन्ति। सामान्यरूपेण तासां स्वातन्त्र्यं न दत्त्वा उक्तम् -

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।

रक्षन्ति स्थाविरे पुत्राः न स्त्री स्वतन्त्र्यमर्हति।।<sup>३४</sup>

मनुस्मृतौ त्रिंशत् वर्षीयाणां पुरुषाणां कृते द्वादशवर्षीयायाः कन्यायाः विवाहापि सम्पद्यते।

त्रिंशद्वर्षोद्वहेत् कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम्।

त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षा वा धर्मे सीदति सत्वरः।।<sup>३५</sup>

पुनः 'यस्मात् कामयते सर्वान् कमेर्धातोच्च भाविनि तस्मात् कन्या' इति शब्दकल्पद्रुमे कन्याशब्दस्य अर्थः निर्दिष्टः। वैशेषिकसूत्रेण दानविषये उक्तम् - स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकम् परस्वत्वोत्पादनमिति दानम्। अत्र स्वत्वशब्दस्य कोऽर्थः। स्वत्वशब्देन आत्मत्वबोधः प्रकाशति। अतः स्वत्वशब्देन यथा धनस्यार्थः तथा स्निग्धतमं प्रियतमञ्च निधि अपि सूचितम्। ऋग्वेदेऽस्ति -

धनमग्निर्धनं वाँयुर्धनं सूर्योर्धनं वँसुः।

धनमिन्द्रो वृहस्पतिर्वरुणं धनमश्नुते।।

अत्र लक्ष्मीदेवी धनरूपेण सूचिता। एवमेव कन्या अपि धनमिव लक्ष्मीरूपा। शिवपुराणे रुद्रसंहितायां भगवान् हिमालयः शिवाय कन्यां ददाति।

इमां कन्यां तुभ्यमहं ददामि परमेश्वरः।

भार्यार्थं परिगृह्णीष्व प्रसीद सकलेश्वरः।।

महाभारतस्य आश्वमेधिकपर्वे -

अन्नं गावस्तिलान् भूमिं कन्यादानं तथैव च।

गृहमायतनं धान्यं वाहनं शयनं तथा।।<sup>३६</sup>

सामवेदस्य गोभिलगृह्यसूत्रे -

दाताऽहम् वरुणराजा द्रव्यमादित्यद्वैवतम्।

वरसौविष्णुरूपिणः प्रतिगृह्णत्वयं विधिः।।

शास्त्रेष्वपि कन्यादानस्य विषये सम्यक् रूपेण वर्णनमस्ति। अतः इदम् कर्म शास्त्रनिर्दिष्टः इति बोध्यते। सामवेदे कन्यायाः श्रेष्ठत्वं प्रदर्शनाय ताम् आदित्यरूपे वर्णयित्वा वराय प्रयच्छति।

कन्यादानस्तु दातुरेव कर्म अस्ति। अत्र विवाहसंस्कारे कन्यादानसमये प्रधानतः दानक्रिया सम्पद्यते। स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकमिति दानस्य संज्ञा त्यागपूर्वकं गोत्रान्तरसंज्ञा दर्शनात् अत्र किञ्चिदपि संशयं नश्यति। गोत्रविषये -

जमदग्निर्भरद्वाजो विश्वामित्रात्रिगौतमाः।

वशिष्ठकाश्यपागस्त्या मुनयोगोत्रकारिणः।।

एतेषां यान्यपत्यानि तानि गोत्राणि मन्यन्ते।।<sup>३७</sup>

वंशपरम्पराप्रसिद्धमादिपुरुषब्राह्मणरूपं 'गोत्रम्'। तेन काश्यपोगोत्रं यस्य, स काश्यपगोत्रः। विवाहेषु गोत्रविषये आपस्तम्बेनोक्तम् -

समानगोत्रप्रवरां समुद्वाह्योपगम्य च।

तस्यामुत्पाद्य चाण्डालं ब्राह्मण्यादेव हीयते।।<sup>३८</sup>

समानगोत्रात् समानप्रवराच्च भार्या न विन्देत। अतः विवाहविधिः व्यर्थं स्यात् यदि विवाहे कन्याप्रदानमिति संस्कारः न भवति। पाणिग्रहणमन्त्रेण उपनीता कन्या संस्कारवती भवति। न उदकेन न वाचा वा कन्या मन्त्रोपनीता न भवति। पाणिग्रहणसंस्कारात् सप्तपदी पर्यन्तं संस्कारेण कन्यायां वरस्य पतित्वं जायते। कन्यायाः सकृत्दानेऽपि पाणिग्रहणसंस्कारयुक्तकन्यादानविषयम् सूचितम्। पुनः प्रदानेनैव कन्यादातुः स्वाम्यं निवर्त्तते, कन्यायां वरस्य गोत्रत्वं जायते। पाणिग्रहणिकामन्त्राः पितृगोत्रापहारकाः। पतिगोत्रेण कन्यायाः पिण्डोदकक्रिया कर्त्तव्या। अतएव कन्यादानसंस्कारेण कन्यायाः पितृगोत्रनिवृत्तिः भर्तृगोत्रप्राप्तिर्भवति। गोत्रान्तरसंज्ञा ज्ञात्वा अत्र संशयं दूरीकर्तुं शक्यते। कन्यां प्रति पितुः आदरः स्नेहः सद्भावः च प्रकाशति। एतेषां प्रदर्शनेन अवगम्यते यत् शास्त्रीयमहत्त्वं सामाजिकपरिवर्तनं च हिन्दुविवाहस्य प्रमुखचिह्नानि भवन्ति। अद्य समाजे प्रेमाभावः, देशं प्रति जातीं प्रति स्वाभिमानस्याभावः परिलक्षते। अस्य कारणं खलु संस्कारहीनता। अतएव मानवाः संस्कारेण वलेन सुशिक्षिताः सुसभ्याः सुसंस्कृताः च भवन्ति।

सन्दर्भाः

१. मनुसंहिता, २.२६
२. हारीतधर्मसूत्रम्, ११.१.५ (द्रष्टव्यः - Vivāha saṁskāra, Page No. 3)
३. मनुसंहिता, ४.१, ६.३३
४. व्यासस्मृतिः, १.१३.१५ (द्रष्टव्यः - Vivāha saṁskāra, Page No. 5)
५. ताण्ड्यमहाब्राह्मणम् ८.१०.१ (द्रष्टव्यः - Vivāha saṁskāra, Page No. 19)
६. नारदस्मृतिः, स्त्रीपुरुषयोगः, १२.१
७. मनुसंहिता, ३.७७-७८
८. बुद्धचरितम्, २.२६
९. तैत्तिरीयसंहिता, ६.३.१० (द्रष्टव्यः - दत्तकमीमांसायाम्, पृ. ४)
१०. बृहस्पतिस्मृतिः।
११. मनुसंहिता, ९.८९
१२. Vivāha saṁskāra, Page No. 295
१३. The Vedic Wedding Book, Page No. 9
१४. गोभिलगृह्यसूत्रम्, २.२.१६ (द्रष्टव्यः - Vivāha saṁskāra, Page No. 295)
१५. मनुसंहिता, २.६६
१६. मनुसंहिता, ३.३५
१७. तत्रैव ३.२७
१८. तत्रैव ३.२८
१९. तत्रैव ३.२९
२०. तत्रैव ३.३४

२१. तत्रैव ३.३१
२२. तत्रैव ३.३२
२३. तत्रैव ३.३३
२४. तत्रैव ३.३४
२५. नारदस्मृतिः, स्त्रीपुरुषयोगः, १२.२८
२६. गौतमधर्मसूत्रम्, १.५.२१
२७. उद्वाहतत्त्वम्, पृ. ८४
२८. विष्णुस्मृतिः, २४.३८-३९
२९. उद्वाहतत्त्वम्, पृ. ७९
३०. नारदस्मृतिः, स्त्रीपुरुषयोगः, १२.२०-२१
३१. उद्वाहतत्त्वम्, पृ. १२०
३२. उद्वाहतत्त्वम्
३३. मनुसंहिता, ३.५६
३४. मनुसंहिता, ९.३
३५. तत्रैव ९.९४
३६. महाभारतम्, १४.१५.४
३७. उद्वाहतत्त्वम्, पृ. २३
३८. तत्रैव, पृ. २८

#### सहायक-ग्रन्थसूची

- उद्वाहतत्त्वम्, रघुनन्दनविरचिता, १९९६, सम्पादकः मानवेन्दुः वन्द्योपाध्यायः, कलकाता संस्कृतपुस्तकभाण्डारः।
- ऋग्वेद-संहिता, २००८, चौखाम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, पुनर्मुद्रण, दिल्ली: चौखाम्बा पब्लिशिंग हाउस।
- दत्तकमीमांसा, नन्दपण्डितविरचिता, मधुसूदनी-विवृतिसंहिता, १९८०, सम्पादकः आचार्य-राजेन्द्रप्रसादपाण्ड्येः, १ म संस्करणम्, वाराणसीः, काशी हिन्दू विश्वविद्यालयः।
- दत्तकमीमांसा, नन्दपण्डितविरचिता, बालवोधिनी-टीकासंहिता, १८८५, सम्पादकः भारतचन्द्रशिरोमणिः भट्टाचार्यः, १म संस्करणम्, कलकाता वात्मिकि।
- नारदस्मृतिः, सम्पा. डॉ. राम कुमार वर्मा शास्त्री, १म संस्करण. मेरठ (उत्तरप्रदेश) : डायनेमिक पब्लिकेशंस (इण्डिया) लिमिटेड्।
- बुद्धचरितम्, अश्वघोषविरचिता, २०१८, सम्पा. स्वामी द्वारिकादासशास्त्री, वाराणसी, चौखाम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, द्वितीयसंस्करणम्।
- बङ्गीयशब्दकोषः, २०११, सम्पा. हरिचरण वन्द्योपाध्यायः, ८म संस्करणम्, कलकाता, संस्कृतपुस्तकभाण्डारः।

- मनुसंहिता, महर्षि-मनुः, २०१६, सम्पा. मानवेन्दुः वन्द्योपाध्यायः, तृतीय संस्करणम्, कलकाता संस्कृतपुस्तकभाण्डारः।
- याज्ञवल्क्यसंहिता (मिताक्षराटीकासंहिता), याज्ञवल्क्यविरचिता, व्यवहारोऽध्यायः, १४०७ वङ्गाब्दः, सम्पा. सुमिता वसु, १म संस्करणम्, कलकाता, संस्कृतपुस्तकभाण्डारः।

ā m m

### English Books

- Vivāha saṁskāra in gṛhya-sūtras of the Four Vedas, V.R. Anil Kumar, 1<sup>st</sup> Ed. New Delhi : D. K. Printword (p) Ltd.
- The Vedic Wedding Book, A.V. Srinivasan, 1<sup>st</sup> ed, Haryana : Ebury Press.
- Dharmasāstra- A Link between Tradition and Modernity (2003). Ed. Brajakisore Swain. 1<sup>st</sup> ed. Chowkhamba Sanskrit Series.
- History of Dharmasāstra. vol. i& iii. (1947). ed. P.V. Kane. 1<sup>st</sup> ed. Poona : Bhandarkara Oriental Research Institute.
- A Glossary of Smṛti Literature (1963). ed. S.C. Banerji. 1<sup>st</sup> ed. Kolkata: Punthi Pustak.
- A Brief History of Dharmasāstra (1999). Ed. S.C. Banerji. 1<sup>st</sup> ed. Delhi: Abhinava Publishers.

### Web Bibliography

- [www.archive.org](http://www.archive.org)
  - [www.gretil.sanskrit.texts.com](http://www.gretil.sanskrit.texts.com)
  - [www.rarebooks.com](http://www.rarebooks.com)
  - [www.sanskritbook.com](http://www.sanskritbook.com)
-

## वैदिकवाङ्मये सृष्टिविज्ञानम्

डॉ. आभा द्विवेदी\*

‘सर्व वेदात् प्रसिद्धयति’ इति मनुस्मृति वचनानुसारं सर्वमिदं पुरोदृश्यमानं स्थावरजङ्गमात्मकं जगत् यतो जायते तत्सर्वं कार्यकारणजातं वेदात् ज्ञातुं शक्यते इति तात्पर्यार्थः। निखिले वैदिकवाङ्मये सृष्टिविज्ञानस्य महन्निरूपणं वर्तते।

‘विचित्रमिदं जगत्’ दर्श दर्शमिदं चमत्कृता भवन्ति विवेचकाः। कुतः इदम्, कस्मात् इदं? इत्येव संशयं सञ्जाते वदन्ति ज्ञानवन्तः। सृष्टिकाले किमपि नासीत्, तस्मिन् समये वायुरपि नासीत्, वायुं विनैव एकं ब्रह्म अवर्तत्। तस्मिन् समये ब्रह्मणा भिन्नं ततः उत्कृष्टं किमपि वस्तु तत्र नासीत् केवलं तदीया अनिर्वचनीया शक्तिरेव तन्निष्ठा आसीत्। मृत्युं अमृतं वा तत्र नासीत्। अमृतपदार्थभावः मृत्युपदार्थः अभावः-

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्याह आसीत्प्रकेतः।

आनीदवातं स्वध्यातदेकं तस्मादधान्यन्नपरः किंचनास।।

(ऋग्वेदः, १०.१२९.२)

ऋग्वेदस्य नासदीयसूक्ते वर्णितमस्ति यत् सृष्टेः प्राक् सत्, असत्, मृत्युः, अमृतं, रात्रिः, दिनं किमपि नासीत्। सर्वत्र केवलं गहनान्धकारमेवासीत्। तदवस्थायां परमात्मनः सृष्टिरिदं अभूत् -

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।

किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नभ्यः कियासीद्रहनं गम्भीरम्।।

(ऋग्वेदः, १०.१२९.१)

तस्मिन् समये ब्रह्मणा भिन्नं इदं जगत् निर्मितं परमात्मना। संसारस्य प्रधानतमं विषयरूपेण ऋषिभिः सर्वत्र सृष्टिमीमांसा कृता। परमकृपालुपरमेश्वरोऽपि सृष्टिः यज्ञमाध्यमेन जगतः सृष्टिञ्चकार। यतो हि वेदो नामज्ञानं तच्च निर्विशेषं नित्यं ब्रह्मज्योतिरूपं, अतः सर्वविधसृष्टेः पूर्वज्ञानस्य विद्यमानत्वात् परमेश्वरः निःश्वासरूपं परिकल्प्यते, तद्विना परमेश्वरस्याप्यासिद्धेः।

‘शास्त्रयोनित्वात्’ इति सूत्रेणापि परमेश्वरास्तित्वे वेदादिशास्त्रमेव मुख्यं कारणं प्रतिपाद्यते। अतएव ‘एकोऽहं बहुस्यामिति’ श्रुत्या जगत् सिसृक्षुः परमेश्वरः स्वात्मनो निर्विशेषात् सविशेषं ब्रह्माख्यं रूपं निर्माय तस्मै तदेव पूर्वतो विद्यमानं वेदाख्यं रूपं नित्यं ज्ञानं प्राहिणोति। तज्ज्ञानबलेनैव विधाता चित्रं विचित्रं बहुविधं जगत् स्रष्टुं प्रभवतीति श्रुतेत्तात्पर्यम्।

चतुर्णां वेदानामपि उत्पत्तिः सृष्ट्याद्यौ सृष्टियज्ञमाध्यमेनैव भवति। पुरुषसूक्ते एको मन्त्रः इत्यस्मिन् सन्दर्भे विद्यते -

\* सहायक आचार्य एवं प्रभारी संस्कृत विभाग, सिद्धार्थ विश्वविद्यालय, कपिलवस्तु, सिद्धार्थनगर (उ.प्र.)

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।  
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्माद्जायत।।

(ऋग्वेदः, १.१०.९)

वेदस्यापौरुषेयं नित्यशब्दराशित्वात् सृष्टितत्त्वविमर्शावसरे सर्वतः प्रथमं वेदशब्देभ्यः एव सृष्टिः परिफल्यते तद्यथा भुरिति व्याहरत् भुवमसृजरिति श्रुतेः। ततः परमपरमेश्वरस्यापरपर्यायशब्देभ्यः हिरण्यमर्भप्रजापतिं विश्वकर्मपुरुषादिभ्यः सृष्टिर्जायत इति प्रतिपाद्यते।

‘क्वचित् यस्य ज्ञानमयं तपः’ तपस्तपत्वेदं सर्वमसृजत् अभीद्धात् तपसोऽध्यजायत इत्यादयः श्रुतिभिः तपसो विश्वोत्पत्तिः परिकल्प्यते। क्वचित् कालो जगत्सर्जकः इत्यादिना कालरूपः परमात्मा एवं जगत् कारणत्वेन स्तूयते। क्वचित् अद्भुदय एव जगत् सृष्टिः प्रतिपद्यते तथा आप एव स्रष्टुराद्या सृष्टिः परिफल्यते एवमेव क्वचिद् वायुरव्यायं सृष्टितत्त्वं निरूप्यते, क्वच्चि विराट् पुरुषात् सृष्टिर्निष्पद्यते, क्वच्चिर्निवचनीयतत्त्वतः सृष्टिर्जायत इति जगत्सर्जने नानाविधं तत्त्वं निमित्तोपादानकारणत्वेन वेदेषु निरूपितं विद्यते।

ऋग्वेदस्य नासदीयसूक्ते पुरुषसूक्ते च सृष्टिविज्ञानस्य विशदं विवेचनं विद्यते। तत्र मन्त्राणामभिप्रायः प्राप्यते यदिदं सफलं जगत् दृश्यते, तत् परमेश्वरेणैव सम्यगचयित्वा संरक्ष्य, प्रलयावसरे वियोज्यः च विनाशयते। पुनः पुनरेवमेव सदा क्रियत इति। पुरुषसूक्ते पुरुषः न तु व्यक्तिविशेषः अपितु शक्तिविशेषः जगदीश्वरः। पुरुषशब्दस्य निर्वचनं कुर्वता महर्षिणा यास्केन इत्थं भणितम् –

‘पुरुषः पुरिषादः पुरिशपः पूरयतेर्वा।

(निरुक्त, अध्याय- २, खण्ड- ३)

पुरि सर्वस्मिन् संसारेऽभिव्याप्य सीदति वर्तत इति। यः स्वयं परमेश्वरः इदं सर्वं जगत् स्वस्वरूपेण पूरयति व्याप्नोति तस्मात्सपुरुषः।

‘पुरुषं पुरिशाय इत्याचक्षीरन्’ अर्थात् संसारे शेते सर्वमभिव्याप्य वर्तते सत्पुरुषः परमेश्वरः अग्रे सृष्टे प्राग्हिरण्यगर्भः परमेश्वरो जातस्योत्पन्नस्य जगत् एकोऽद्वितीयः पातेरेव समवर्तत। स पृथिवीमारभ्य द्युप्पर्यन्तं सफलं जगद्रचयित्वा धारितवान् अस्ति।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।।

(ऋग्वेदः, १०.१२१.१)

अथर्ववेदे समुल्लेखितोऽस्ति यत् परमेश्वरेण महद्व्यापकस्य सृष्टेः मूलतत्त्वप्रकृतितः त्रयस्त्रिंशद्लोकान् विरच्य पुनश्च लोकानां ज्ञानार्थं यज्ञस्य निरूपणं कृतम्।

दृश्यताम्-

एतस्माद्वा ओदनात् त्रयस्त्रिंशतं लोकान्निरमिमीत परजापतिः।।

तेषां प्रज्ञानाय यज्ञमसृजत।।

(अथर्ववेदः, ११.३.३-४)

अत्र सृष्टेः मूलतत्त्वम् 'ओदनम्' इति कथ्यते। अत्र सृष्टेः समस्तकायं यज्ञमयं विद्यते तथा च यज्ञेनैव सञ्चालितमस्ति।

सत्त्वप्रधानसमस्तभूतसूक्ष्माणाम् कार्यत्वात् मनस्तु समस्तविषयान् गृह्णति। इन्द्रियाणामुपादानं तु भूतसूक्ष्मम्, अतएव इन्द्रियाणां सूक्ष्मत्वं परिच्छिन्नत्वञ्च शंकराचार्येण 'अणवश्चेति' सूत्रे शारीरिकभाष्ये प्रतिपादितम्।

पञ्चीकरणान्तरं शब्देतरतन्मात्रैः सह कृतेभ्यः शब्दतन्मात्रेभ्यः आकाशस्य (स्थूलाकाशस्य) उत्पत्तिर्भवति।

'वायोरानिरिति' वायोरग्निः (तेजः) समुत्पद्यते। तिर्यग्गामित्वस्वभाववान् वायु भवति। अत्रैवायुतन्मात्राणां परस्पराद्यात् प्रतिघातेभ्यो अग्नेः तेजसो वा उत्पत्तिस्तु लोके प्रत्यतया दृश्यते।

'अग्नेराप' इति (तेजस्तन्मात्रेभ्यो जलतन्मात्राणामुत्पत्तिः भवति। तेजसो पुरुषाधिक्ये जलोत्पत्ति प्रत्यक्षसिद्धा।

'अदभ्यः पृथिवीति' जल तन्मात्रेभ्यो पृथिवी तन्मात्राणामुत्पत्तिः भवति। जले तेजसः पारेणकात् समुद्रफेनस्य काठिन्य पृथिवी भावत्वञ्च दृश्यते।

'पृथिव्या अन्नौषधयः' इति। पृथिव्याः अन्नानामौषधीनाञ्च उत्पत्तिः भवति। अत्र पृथिवीत्यनेन पञ्चीकृतायाः पृथिव्याः ग्रहणं भवति। यतो हि पञ्चीकृतायाः एव पृथिव्याः अन्नौषधीनामुत्पत्तिः दृश्यते।

ब्रह्मैष इन्द्र एव प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्चमहाभूतानि पृथिवीवायुराकाश आपो ज्योतिषोत्येतानि इमानि च क्षुद्रानिश्रावीण। बीजानीतराणि चेताराणि चाण्डजानि च जरायुजानि च स्वेदजानि चेद्भिजानि चाश्वगावः पुरुषा हस्तिनो यत्किंचेदं प्राणिजङ्गमं च पत्रति च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म।

देहधारिणां शरीरं पाञ्चभौतिकमिति सिद्धम् परन्तु पञ्चानामवस्थितिः शरीरे कथं जायते इति संदिग्धमाने उपनिषत्सु बहुधा विचार कृतः। यत्कठिनं कठोरभावं उपलक्ष्यते स पृथिव्याः अंशः, जनानां शरीरे द्रवरूपेण ज्ञानं कर्तव्यं, वैश्वानररूपं तेजः अर्थात् जठराग्निः शरीरे यदुष्णत्वं भवति अग्नेः प्रभावात्, वायुः श्वास-प्रश्वासरूपेण परीद्वर्ती अवकाशस्थलमाकाशस्य। आकाशः शरीरे सम्पूर्णभागे व्यापकत्वेन राजते।

विष्णुपुराणेषु स्पष्टतया निर्दिष्टं यत् सर्वस्य सृष्ट्याः मूलाधारः परब्रह्म -

प्रकृतिर्या ममाख्या व्यक्ताव्यक्त स्वरूपिणी।  
पुरुषश्चाप्यभावेतौलीयेते परमात्मनि॥  
परमात्मा च सर्वेषामाधारः परमेश्वरः।  
विष्णु नामा स वेदेषु वेदान्तेषु च गीयते॥

विष्णुपुराणे अन्यत्रेऽपि उक्तम् -

द्विपराधीत्मकः कालः कथितो यो मया तव।  
तत्र स्थिते निशाचरस्तत्प्रमाणा महामुने॥

अद्वैतवेदान्ते मायायाः त्रिगुणात्मिका इति कथ्यते, किन्तु तस्याः साम्यावस्थायाः नास्ति उल्लेखः समुपलभ्यते। सा माया तात्त्विक रूपे तु असद् किन्तु व्यावहारिकरूपे सदस्ति। एतत् सदसत् दृष्ट्या सा अनिर्वचनीया -

सन्नाप्यसन्नाप्यभयात्मिका नो, भिन्नावयभिन्नाङ्गाप्यभयात्मिका नो।  
साङ्गप्यनङ्गप्यभयात्मिका नो, महाद्भूतानिर्वचनीयरूपा।।

प्रलयावस्थायां इदं दृश्यमानं जगत् तमसा आच्छन्नं आसीत्। इदं सर्वेषां कृते अज्ञानमासीत्। तदा सृष्टिकर्ता परमेश्वरः सृष्टेः इच्छाचक्रे -

सो कामयत द्वितीयो म अत्मा जायेतेति।

(वृहदारण्यक उपनिषद्, १.२.४)

सृष्टेः उत्पत्तिपूर्वं ब्रह्मकामना अभवत् - एकोऽहं बहुस्याम्। इयं कामना मानसिकवीर्यरूपासीत्। एत एव मनुष्यजीवनेऽपि सर्वप्रथमं कामना उत्पन्ना भवति। पश्चात् वीर्यं ततः सन्तति इति अयं क्रमः चलति, किन्तु ब्रह्मणि यः कामः प्रकरी भवति सा कामना एव बीजरूपा भवति। तत्रैव अस्य विचित्रस्य जगत् समुत्पत्तिर्भवति।

तस्मात् ब्रह्मणः इयं विदित्वा विशिष्टा सृष्टिर्जायत तद् ब्रह्मैव अस्याः सृष्टेर्धारकमस्ति। तदेव अस्य अध्यक्षमस्ति। सर्वव्यापके तस्मिन् ब्रह्मणि इयं सृष्टिः स्थितता अस्ति। सम्पूर्णस्य जगत् प्रकाशं ब्रह्मैव वर्तते। सम्पूर्णं जगत् यतः कारणात् उत्पन्नं भवति तद् जगत् ब्रह्मस्वरूपमैव अस्ति। अतः एव पुरुषसूक्ते वेदः कथ्यति-

ॐ सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रयात्।  
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।।

(ऋग्वेदः, १०.९०.१)

अनेन वेदवचनेन इदं सिद्धयति यत् ब्रह्मैव अस्य जगतः उपादानकारणं निमित्तं कारणं चास्ति।

सन्दर्भाः

- अथर्वेद-संहिता, सायणभाष्य सहित, निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई, १९१८।
- ऋग्वेदसंहिता, सायण भाष्य, हिन्दी अनुवादक पं. रामगोविन्द त्रिवेदी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, २००३।
- यजुर्वेद, उत्तरमहीधरभाष्यसहित, मोतीलाल, बनारसीदास प्रकाशन, वाराणसी।
- निरुक्तम्, डॉ. उपमाशङ्कर शर्मा 'ऋषि', चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी।
- विष्णुमहापुराणम्, श्रीधर स्वामी कृतात्मप्रकाशाख्य, परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली।
- वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, २०१८।
- वैदिक माइथोलॉजी, ए. ए. मैकडॉनल, अनुवादक रामकुमार राय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण २०१४।

## कालिदाससाहित्यस्य वैश्विकी सार्वकालिकता

डॉ. एम. किष्णु\*

अनन्तेऽस्मिन् संस्कृतवाङ्मये वेदाः आद्याः। ते प्रभुसम्मिताः अपौरुषेयाश्च। वेदार्थस्य सर्वैः दुर्गाह्यत्वात् वेदाध्ययने सर्वे अशक्ताश्च इति समालोच्य ऋषयः पुराणानि शास्त्राणि रचयामासुः। तानि मित्रसम्मितानि वेदपुराणशास्त्राणां आनन्त्यात् महर्षिकल्पैः कविभिः काव्यरूपेण वेदपुराणशास्त्राणां सारः प्रजाभ्यः प्रसादितः। किन्तु वेद रचना अनन्तरं शास्त्रेभ्यः पुराणेभ्यश्च प्रागेव न केवलं भारतीयवाङ्मये लौकिकसंस्कृतवाङ्मये किन्तु विश्ववाङ्मयस्यापि आद्यं कवित्वरूपं वाल्मीकिरामायणम्। ब्राह्मणः प्रेरणया वाल्मीकिना निबद्धम्।

अपारे संस्कृतवाङ्मये वाल्मीकिव्यासयोः अनन्तरं आद्यः अग्रगण्यश्च कविः कालिदासः। कालिदासस्य कालः कदा आसीदिति वाङ्मयचरित्रकारैः बहुधा चर्चा कृता। कालिदासः उज्जयिनी पालकस्य विक्रमार्कस्य आस्थाने आसीदिति निरूपकः कश्चनश्लोकः परम्परया प्रसिद्धो दृश्यते।

धन्वन्तरिः क्षपणकोऽमरसिंहः शंकु-बेतालभट्टघटकपर्णकालिदासाः।

ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेस्सभायां रत्नानि वै वररुचिः नव विक्रमस्य।।

इमं श्लोकमाधारीकृत्य बी.सी. द्वितीयशतकं कालिदासकालं केचन वदन्ति। ततः आरभ्य A. D. द्वितीयशतकपर्यन्तं बहुभिः बहुधा प्रतिपादितः। किन्तु यः कालोऽपि भवतु इतः द्विसहस्र वर्षेभ्यः प्राक्तनः इति निश्चित्य वक्तुं शक्यते। कालिदास नाम्ना बहवः कवयः बहूनि काव्यानि व्यवहृतानि दृश्यन्ते। किन्तु प्रसिद्धस्य कालिदासस्य षडेव काव्यानि।

ऋतुसंहारश्च न तथा प्रसिद्धः मल्लिनाथेन न व्याख्यातश्च षट्षु त्रीणि दृश्यकाव्यानि मालविकाग्निमित्रम्, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, विक्रमोर्वशाव्यम् च। त्रीणि श्रव्यकाव्यानि रघुवंशमहाकाव्यम्, कुमारसम्भवम् मेघदूतञ्च। एतेषु षट्षु एकं उत्तमं अन्यदल्पगुणमिति परिगणनं कर्तुं न शक्यते। यतः सर्वाणि उत्तरोत्तरं उत्तमानि लक्ष्यन्ते। मालविकाग्निमित्रम् कालिदासस्य आद्यं काव्यं स्यात् ततो विक्रमोर्वशीयम्। अभिज्ञानशाकुन्तले कवित्वपरिपाकः दृश्यते। श्रव्यकाव्येषु मेघसन्देशं आद्यं द्वितीयं कुमारसम्भवः अन्तिमं रघुवंशः भवेत्। यतः रघुवंशे वयः परिपाकरूपः जीवितानुभवः लक्षितः।

केवलं कविता सौन्दर्यमात्रेण कोऽपि कवि शाश्वतः किमपि काव्यं सार्वकालिकं वा न भवति। किन्तु नित्यजीवनोपयोगित्वं यस्य कवेः कवितायां दृश्यते तदेव काव्यं सार्वकालिकं विश्वजनीनं शाश्वतं च भवति। कालिदासकाव्येषु सर्वाण्येतानि सार्वकालिकानि लक्षणानि विद्यन्ते। प्राचीनकाले विद्यमानायाः व्यवस्थायाः प्रायशः सर्वेषु विषयेषु अद्यभिन्नाः। पालनव्यवहारः, कुटुम्बव्यवस्था, दम्पत्योरन्योन्यानुरागः, स्त्रीणां विषये गौरवम्, गुरुशिष्यसम्बन्धः इत्यादि सर्वे विषयाः अद्यतनकाले प्राचीनात् भिन्नाः। किन्तु व्यवस्थायाः

\* सहायकाचार्यः, संस्कृतविभागः, दिल्लीविश्वविद्यालयः, दिल्ली

मौलिकस्वरूपं मौलिको धर्मश्च यथा न नष्टो भवति तथा आचरणं समाजस्य शाश्वतस्थितेः कारणं भवति।

व्यवस्थाप्रवृत्तिः यद्यपि भिन्ना तथापि मौलिकी परिवृत्तिः यवन्नभवति तावन्तं कालं समाजक्षेममपि स्थिरं भवति। पूर्वोक्त व्यवस्थायाः सर्वेषां विषयाणां सार्वकालिकाः धर्माः कालिदासकवितायां सर्वेषु काव्येषु दृश्यन्ते। तत्स्वरूपं किञ्चित् प्रस्तूयते।

### विद्याव्यवस्था

विदन्ति अनया विद्या न केवल विषयाणां धारणं अध्ययनं वा किन्तु यथा ज्ञानं प्राप्यते सैव विद्या। अद्यतनकाले गुरुशिष्यसम्बन्धः प्रायशः केवल परीक्षा प्रधानरूपः वाणिज्यप्रायश्च वर्तते। किन्तु यस्मिन् गुरौ कालिदासोक्तं गुरुलक्षणं यस्मिन् शिष्ये महाकविनोक्तं शिष्यलक्षणं च दृश्यते तथा विधानां गौरवं अद्यापि संघे सुप्रतिष्ठितं दृश्यते। तत्र गुरोः लक्षणं यथा -

श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।

यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव।<sup>१</sup>

कश्चन उपाध्यायः कठिनं शास्त्रं जानाति किन्तु शिष्यः यथा अध्यापयितव्यः शिष्यबुद्धिः कीदृशी इमं विषयं क्रियन्तं वेत्तु शक्नोति इत्यविचार्य स्वेनज्ञातं सर्वं वक्ति। प्रथममेव अवच्छिन्नावच्छेदकानि दलप्रयोगेन सुदृढं लक्षणं अवगमयितुं यतते। ज्ञातुं विफलः शिष्यः तथैव मन्दः तिष्ठति। अन्यो उपाध्यायः बोधनप्रणाली जानाति न तस्य शास्त्रज्ञानं वर्तते, तादृशेन गुरुणा शिष्याय न काचित् विद्या प्रदेया भवत्येव। अतः अधीतशास्त्रः अपि गुरुः बोधने समर्थः शिष्यशक्तिं क्रमशः ज्ञात्वा क्रमेण अंशांशरूपेण बोधयति चेत् विद्यार्थिनः ज्ञानं वर्धते। तादृशशिक्षकः एव सर्वेषु कालेषु विद्यार्थिना अपेक्षितः उत्तमः गुरुः च भवति। अन्यत् गुरोः लक्षणं यथा -

लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभीरोस्तितिक्षमाणस्य पुरेण निन्दाम्।

यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति।<sup>२</sup>

अद्यतनकाले उपाचार्यः, संयुवताचार्यः, आचार्यः इत्यादयः बहवो अधिकाराः अध्यापकानां वर्तन्ते प्रायशः तद्विषयकं शास्त्रं अजानन्तोपि वयं वैतनिकाः ( वेतनेन जीवन्ति) उत्तरोत्तराध्ययनं अकश्चित्करमिति यावता ज्ञातं तावता विरमन्ति। उत्तमेन आचार्येण न तथा कदापि न करणीयं चर्चया ज्ञानं वर्धते असूयां, मानितां च त्यक्त्वा परस्मात् विषयो ग्राह्यः तदैव ज्ञानवृद्धिः भवतीति पूर्वश्लोके कालिदासेन उपदिष्टः सार्वकालिकः अध्यापकधर्मः।

### उत्तमः शिष्यः

आचार्यस्य शिष्याणां विषये यद्यपि पक्षपातो न भवति तथापि श्रद्धालु शिष्यं गुरुः बहुमनुते तं पात्रं मत्वा सविशेषां विद्यां ददाति। तदा गुरोः विद्या सम्यक् शोभते, शिष्योऽपि ज्ञानवान् भवति।

पत्रविशेषेभ्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाद्यातुः।

जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य।<sup>३</sup>

एवमेव शिष्यः अभिज्ञान् सहाध्यायिनः तदा तदा मिलन् तद्विद्या सम्भाषां च कुर्वन् गोष्ठीषु चर्चाः कुर्वन् क्षोदक्षमां विद्यां प्राप्नोतीति कालिदासः सूचितवान् सोऽपि उपदेशः सार्वकालिकः।

मन्दोऽप्यमन्दतामेति संसर्गेण विपश्चितः।  
 पंकच्छिदः फलस्येव निकर्षणावितं पयः॥<sup>४</sup>  
 उपदेशं विदुः शुद्धं सन्तस्तमुपदेशिनः।  
 श्यामायते न युष्मासु यः कंचननमिवाग्निषु॥<sup>५</sup>

रघुवंशमहाकाव्येऽपि गुरुशिष्यसम्बन्धः समीचीनतया निरूपितः। गुरवः कदाचित् लोकव्यवहारं बोधयितुं असद्व्यवहारमपि अध्यापयन्ति। यथा दूतैः शिष्यः न वंचितो भवति तथा तं शिक्षयितुं अयोग्यमपि उपदिशन्ति। किन्तु सत् शिष्येन सदा सन्मार्गः एव अनुष्ठेयः इत्यपि रघुवंशे सूचितम्।

नयविद्धिर्नवे राज्ञि सदसच्चोपदर्शितम्।  
 पूर्वं एवाभवत् पक्षस्तस्मिन्नाभवदुत्तरः॥<sup>६</sup>

एवं वर्तमानं शिष्यं अध्याप्य गुरुः कदापि नानुशोचति। शाकुन्तलेऽपि एवमेव प्रतिपादितम् –  
 वत्से सुशिष्यपरिदत्तेव विद्याशोचनीयासी मे संवृता।

**सद्वर्तनम्**

प्रायशः मनुष्याणां वंशादपि धनादपि सद्वर्तनं गौरवप्रदं भवति। ऐश्वर्यवान् विद्यावान् युवापि त्यक्तगर्वः एव शोभते इति सप्तदशसर्गे रघुवंशे यदुक्तं तत् विश्वजनीनं सार्वकालिकं च।

वयोरूपविभूतीनामेकैकं मदकारणम्।  
 तानि तस्मिन्समस्तानि न तस्योत्सिषिचे मनः॥<sup>७</sup>

एवमेव महाभारतेऽपि प्रतिपादितं पञ्चतन्त्रे उदाहृतं च –

यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता।  
 एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्॥<sup>८</sup>

सैव महाभारतनीति कालिदासेन अनुदिता। परैः क्रियते परेणोवतमिति न किञ्चित्करणीयं स्वयं विचिन्त्य कार्यस्य साधुत्वं असाधुत्वं च निश्चित्य प्रवर्तितव्यम्। स्वेन चिन्तितं हृदयेनामोदितं गुरुभिः उपदिष्टं च करणीयमिति कालिदासः सार्वकालिकं धर्मं स्पष्टमुक्तवान्।

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।  
 सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः॥

(अभिज्ञानशाकुन्तलम् १.२२)

पुत्रेण कन्यया वा स्वतन्त्रवर्तनेन कृतो निर्णयः विशेषतः वैवाहिकविषये दुष्फलप्रदः कदाचित् भवेत् अतः पितरावेव प्रदानकालं निश्चित्य यावत् अन्यस्मै दास्यन्ति तावन्कालः प्रतिपालनीयः सैव कन्या धीरा सुखिनी च भवतीति कालिदासः सार्वकालिकं धर्मं स्वकार्येषु सूचितवान्। यथा – रघुवंशे।

उपात्तविद्यं विधिवत् गुरुभ्यस्तं यौवनोद्धेदविशेषकान्तम्।  
 श्रीः साभिलाषाऽपि गुरोरनुज्ञां धीरेव कन्या पितृराचकाङ्क्ष॥<sup>९</sup>

कदापि स्वातन्त्र्यं = येन कृतः सम्बन्धः परिणतिनिरसः दुःखदायको भवतीति कालिदासः स्पष्टं

सूचितवान्।

अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात् संगतं रहः।

अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदयम्।।<sup>१०</sup>

यूनोः ( युवा च युवतिश्च ) प्रेमविषये सार्वकालिकं अपरित्याज्यं च इदं ज्ञेयम्।

दाम्पत्यम्

स्त्रीपुंसयोः अन्योन्यानुरागः कतं भाव्यः तयोः मध्ये सम्बन्धश्च कथं वा भवेदित्यपि रघुवंशे अष्टमसर्गे, कुमारसम्भवे षष्ठसर्गे च स्पष्टं वर्णितम्। भार्यया गृहं सदगृहं भवति यत्र निवासे धान्याधिकं समृद्धं भवति तस्य सद्द्विनियोगोऽपि भवति तदेव गृहम्। यदाहुः गृहिणी शब्दव्युत्पत्तिः एवं द्योतते। 'गृहणाति धान्यादिकमिति गृहं तात्स्यात् गृहाः धाराः' तथैव 'गृहिणी सचिवः सखामिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ' इति गृहिणी गृहमुच्यते।

एव गृहिणी विरहितश्चेत् तस्य सर्वस्वं विधिना हृतमेवेति तत्रैव श्लोके स्पष्टं उपपादितम्। कन्या प्रदानविषये गृहिण्याः अनुमतिः अनुज्ञा च अवश्यं अपेक्षनीया। कुमारसम्भवे षष्ठसर्गे गृहिणी प्राधान्यं विस्तरेण दर्शितम्।

तद्दर्शनाद्ब्रूच्छम्भोभूयान्दारार्थमादरः ।

क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्यत्यो मूलकारणम्।।<sup>११</sup>

भ्रूभेदिभिः सकम्पोष्ठैर्ललिताङ्गुलितर्जनैः।

यत्र कोपैः कृताः स्त्रीणामाप्रसादर्थिनः प्रियाः।।<sup>१२</sup>

तमर्थमिव भारत्या सुतया योक्तुमर्हसि।

अशोच्या हि पितुः कन्या सद्भर्तृःप्रतिपादिता।।<sup>१३</sup>

शैलः सम्पूर्णकामोऽपि मेनामुखमुदैक्षत।

प्रायेण गृहिणी नेत्राः कन्यार्थेषु कुटुम्बिनः।।<sup>१४</sup>

एवमादिनि वचनानि संघे कुटुम्बस्थितिकारकानि समाजोपयोगीनि सार्वकालिकानि भवन्त्येव। तथैव रघुवंशमहाकाव्ये मंगलाचरणे दम्पतौ जन्पतौ उद्दिश्य वागर्थाविव गजतः पितरौ अर्धनारीश्वरौ अविनाभावसम्बन्धः, हरिहराद्वैतभावना एवमवर्णयत्। अतः शब्दार्थौ इव दाम्पत्यजीवनं जीवेयुः इत्युदाहृतः कविकुलगुरुः कालिदासः।

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।

जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।।

(रघुवंशम् १.१)

हरिहराद्वैतभावना

प्रायशः वैदिकमतावलम्बिनोऽपि भक्ताः अपि अहं शैवः, अहं वैष्णवः विष्णुं न पूज्यः शैवो नादरनीया इति अन्योन्यं कलहायन्ते। कालिदासस्तु ईश्वरशब्देन जगत्कर्तारं अष्टमूर्त्यात्मकं स्तौति सर्वं जगत् ईश्वरमयं यः ईष्टे ईशनं शीलमस्य वा ईश्वरः। स च पञ्चभूतात्मकः सर्वप्राणिषु दृश्यः तेजः प्रदश्चेति वेदान्तवाक्यं

कालिदासकाव्येषु सर्वत्र दृश्यते। अनेन उपदेशेन ईश्वरः विश्वमयः अनीश्वरं वस्तु लोके न किञ्चित् भवति। विष्णुः शिवो वा भवतु स च प्रणवरूपः सर्वव्यापि लोकान् अश्नुते इति ईश्वर शब्दार्थः इति सर्वधर्मानुकूलं सार्वकालिकं मतं कालिदासेन दर्शितम्। विक्रमोर्वशीय नान्दी तत्रोदाहरणम् -

वेदान्तेषु यमाहुरेक पुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी  
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः।  
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते  
स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तुवः॥<sup>१५</sup>

एवमेव अभिज्ञानशाकुन्तलनान्दीश्लोकोपि द्रष्टव्यम्। सर्वैश्वर्यसमृद्धोपि परहितकारी स्वार्थचिन्तारहितः एव ईश्वरो भविष्यतीति मालविकाग्निमित्रम् नान्दी श्लोके निरूपितम्।

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री  
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।  
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः  
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतुवस्ताभिरष्टाभिरीशः॥<sup>१६</sup>

मालविकाग्निमित्रं मंगलाचरणम्। यथा -

ऐश्वर्ये स्थितोऽपि प्रणतबहुफले यः स्वयं कृतिवासाः  
कान्तासम्मिश्रदेहोऽप्यविषयमनसां यः परस्ताद् यतीनाम्।  
अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतो नाभि मानः  
सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः॥<sup>१७</sup>

वेदान्तदृष्ट्या अत्र जीवात्मपरमात्मनोः अभेदः दर्शितः कविता कुमारसंभवद्वितीयसर्गे।

जगद्योनिरयोनिस्त्वं जगदन्तो निरर्थकः।  
जगदादिरनादिस्त्वं जगदीशो निरीश्वरः॥  
आत्मनमात्मना वेत्सि सृजस्यात्मानमात्मना।  
आत्मना कृतिना च त्वमात्मन्येव प्रलीयासे॥  
द्रवः संघातकठिनः स्थूलः सूक्ष्मो लघुर्गुरुः।  
व्यक्तो व्यक्तेतरश्चासि प्राकाम्यं ते विभूतिषु॥<sup>१८</sup>

#### सुशासनव्यवस्था

राजानः अद्य न वर्तन्ते प्रजास्वाम्येऽपि प्रजारक्षकैः प्रजापालकैश्च पालनीयाः बहवो धर्माः सार्वकालिकाः कालिदासकाव्येषु दृष्टाः। पालकेन प्रजा रक्षणविधौ निष्पाक्षिकेण भाव्यम्। अनिष्टादपि सद्विषयो ग्राह्यः दुर्वर्तनः प्रियोपि त्याज्यः इति विश्वजनीनो विषयः निरूपितः।

द्वेष्योऽपि सम्मतः शिष्टः तस्यार्तस्य यथौषधम्।  
त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता॥<sup>१९</sup>

स्त्रीणां रक्षा विशेषतः प्रजापालकेन कार्यं तदैव प्रजाः निश्चिन्ताः सुखिन्यश्च भविष्यन्ति। दिलीपस्य शासनकाले वेश्याः अपि निर्भयं विहारकाले रथ्यासु एव सुप्ताः अपि तासां अंशुकमपि चालयितुं वायु अपि न शशाक अन्यः कोवा दुष्टः कुलस्त्रीणां दूषको भविष्यति इति शासकानां स्त्रीरक्षाकर्तव्यं अवश्यकर्तव्यं इति कविः सूचितवान् -

यस्मिन् महीं शासति वाणिनीनां निद्रां विहारार्थपये गतानाम्।

वातोऽपि नास्त्रं सयदंशुकानि को लम्बयेदाहरणाय हस्तम्॥<sup>२०</sup>

योगी कार्तवीर्यं प्रजानां मनस्सु अकार्यं चिन्तापि यथा न भवति तथा राज्यं शशास किं पुनः अकार्यकारणावसरः इति कविना वर्णितम्। सर्वेणापि पालकेन सर्वदा अनुष्ठेयमेव।

अकार्यचिन्तासमकालमेव प्रादुर्भवश्चपधरः पुरस्तात्।

अन्तःशरीरेष्वपि यः प्रजानां प्रत्यादिदेशाविनयं विनेता॥<sup>२१</sup>

### पर्यावरणम्

आधुनिकैः प्रकृतिरक्षणं पर्यावरणरक्षणं स्वच्छता वन्यमृगरक्षणं इत्यादयः ये ये धर्माः प्रबोध्यन्ते ते सर्वे कालिदासकाव्येषु उपदेशरूपेण आचाररूपेण च निर्दिष्टाः। वन्यप्राणिनां वधः कदापि न प्रशस्तः, पञ्चमसर्गे रघुवंशे स्वयंवरार्थं गच्छन् अजः नर्मदातीरे परिवारनिवेशनं कृतवान्। अकस्मात् नर्मदा जलात् उद्धितः कश्चनः मदगजः सर्वं सेना निवेशं भग्नं चकार ततो योधाः तं करिणं अहत्वैव स्त्रियः दूरं निन्युः अजोपि तमहत्वा केवलं लघुप्रहारेण उत्सारयितुमेव कृतयत्नः कालिदासः स्पष्टं वर्णितवान् -

तमापतन्तं नृपतेरवध्यो वन्यः करीति श्रुतवान् कुमारः।

निवर्तयिष्यन्विशिखेन कुम्भे जघान नात्यायतकृष्टशार्ङ्गः॥<sup>२२</sup>

ननु वन्य करी अवध्यः चेत् दशरथः रात्रौ गजस्य जलपानध्वनिरिति भ्रान्तः श्रवणकुमारं किमिति जघान इति प्रश्नः भवत्येव। कालिदासः दशरथेन वधा अधर्मः एव आचरितः इति स्पष्टमुक्तवान् -

नृपतेः प्रतिषिध्यमेव तत्कृतवान् पंक्तिरथो विलंघ्य यत्।

अपथे पदमर्पयन्ति हि श्रुतवन्तोऽपि रजोनिमीलिता॥<sup>२३</sup>

अपि च सूर्येण भूमेः जलाशयेभ्यः जलशोषणं तत् वाष्पेभ्यः मेघोत्पत्तिः ततो वृष्टिः इति वैज्ञानिकक्रमोऽपि कालिदासकाव्येषु स्पष्टमुपवर्णितम्। सूर्यत्करणैः जलशोषणं यथा -

प्रजानामेव भूत्यर्थं सताभ्यो बलिमग्रहीत्।

सहस्रगुणमुत्स्रष्टुं आदत्ते हि रसं रविः॥<sup>२४</sup>

एवं प्रकारेण मेघसन्देश (१.५) श्लोकेऽपि द्रष्टव्यम्।

धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः

संदेशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः।

इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन् गुह्यकस्तं ययाचे

कामार्त्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु॥

एवमेव नित्यजीवितोपयोगिनः विश्वजनीनाः मानवसम्बन्धात्मकाः शासकीयाः प्रकृतिसम्बन्धिनश्च

विषयाः बहवः कालिदासकाव्येषु दृश्यन्ते। तेषां समग्रतया निरूपणं प्रतिकाव्यमेकः शोधनिबन्धः भवितुं अर्हति। ऋतुसंहारकाव्यं च कालिदासकृतमिति विषये विदुषां मध्ये विवादो अस्तीति तत् काव्यं न स्पृष्टम्। कालापेक्षया कृतोऽयं लघुतरो यत्नः सहृदयानां मनः प्रीतयेभवत्येवेति आशासे।

जयन्ति ते सुकृतिनः रससिद्धाः कवीश्वराः।

नास्तितेषां यशः काये जरामरणजं भयम्॥<sup>२६</sup>

#### पादटिप्पणी

- |                             |                              |
|-----------------------------|------------------------------|
| १. मालविकाग्निमित्रम्, १.१६ | २. मालविकाग्निमित्रम्, १.१७  |
| ३. मालविकाग्निमित्रम्, १.६  | ४. मालविकाग्निमित्रम्, २.७   |
| ५. मालविकाग्निमित्रम्, २.९  | ६. रघुवंशम्, ४.१०            |
| ७. रघुवंशम्, १७.४३          | ८. हितोपदेशः मित्रलाभः ११    |
| ९. रघुवंशम्, ५.३८           | १०. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५.२४ |
| ११. कुमारसंभवम्, ६.१३       | १२. कुमारसंभवम्, ६.४५        |
| १३. कुमारसंभवम्, ६.७९       | १४. कुमारसंभवम्, ६.८५        |
| १५. विक्रमोर्वशीयम्, १.१    | १६. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, १.१  |
| १७. मालविकाग्निमित्रम्, १.१ | १८. कुमारसंभवम्, २.९-११      |
| १९. रघुवंशम्, १.२७          | २०. रघुवंशम्, ६.७५           |
| २१. रघुवंशम्, ६.३९          | २२. रघुवंशम्, ५.५०           |
| २३. रघुवंशम्, ९.७४          | २४. रघुवंशम्, १.१७           |
| २५. मेघदूतम्, १.५           | २६. नीतिशतकम्, २०            |

#### सन्दर्भग्रन्थसूची

- कुमारसंभवम्, निर्णयसागरप्रेस, मुम्बई, १९३५
- रघुवंशम् -वेंकटेश्वर स्ट्रीम् प्रेस, मुम्बई।
- मेघसंदेशः, वाविल्ल रामास्वामिशास्त्रुलु अंड सांसु, मद्रास, १९६६
- ऋतुसंहारम्, चौखम्बा पब्लिशिंग् हाउस, नई दिल्ली, २०१२
- मालविकाग्निमित्रम्, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशनम्, वाराणासी, १९८७
- विक्रमोर्वशीयम्, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणासी, १९६६
- अभिज्ञानशाकुन्तलम्, निर्णयसागरप्रेस, मुम्बई, १९४८
- भर्तृहरिः, संस्कृत भाषाप्रचारिणी सभा, चित्तूर, १९५५
- कालिदास-ग्रन्थावली, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणासी, २०१४

## पदार्थतत्त्वनिर्वचनम्

### गीताञ्जलि देइ\*

#### सारांशः

‘पदार्थतत्त्वनिर्वचनम्’ इति विषयं पुरस्कृत्य इत्थं वक्तुं शक्यते यत् परमपुरुषार्थस्य निःश्रेयसापराभिधस्य मोक्षस्य सम्प्राप्त्युपायं प्रतिपादयन् महर्षिकणादः समुल्लिखति ‘धर्मविशेषप्रसूताद्द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्’<sup>१</sup> इति। शिवादित्यमिश्रादिमते कणादोक्तषट्पदार्थैः सह अभावाभिधेयस्य सप्तमपदार्थस्यापि साधर्म्यवैधर्म्यज्ञानं निःश्रेयसर्हेतुर्भवति। ‘पदस्यार्थः पदार्थः इति व्युत्पत्त्याभिधेयत्वं पदार्थसामान्यलक्षणम्।’<sup>२</sup> ‘पदम्’ = ‘शक्तं पदम्’<sup>३</sup> अर्थात् शक्तिविशिष्टं पदम्। अर्थात् इन्द्रियग्राह्यपदनिष्ठविषयात् अर्थोपपन्नं भवति। ‘व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः’<sup>४</sup> इति गौतमीयन्यायसूत्रे। यथा घटमानयेत्यात्र घटपदेन घटत्वजातेः कम्बुग्रीवाख्य आकृतेः घटव्यक्तेश्च इति त्रितयसमुदायशक्तिं स्वीकृत्य घटत्वविशिष्टघटस्य बोधो भवति। स एव घटशब्दस्य वाच्यार्थो घट एव। एतेन अभिधेयत्वं वाच्यत्वम् ज्ञेयत्वं प्रमेयत्वञ्च पदार्थलक्षणमिति फलितं भवति। पदार्थसामान्यलक्षणनिरूपणानन्तरं तद्भेदं प्रदर्शयन्ति आचार्याः। तत्र द्रव्यादयः षट् भावपदार्थाः। परवर्तिभिः वैशेषिकैः सूत्रकारोक्तनवमाध्यायस्य अभावमूलकं सूत्रं स्वीकृत्य पदार्थाः सप्त भवन्तीति संसूचितम्। तथैव न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्याम् -

द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं सविशेषकम्।

समवायस्तथाऽभावः पदार्थाः सप्त कीर्तिताः।।<sup>५</sup>

न्यायतन्त्रे ये प्रमाणादयः<sup>६</sup> षोडशपदार्थाः विद्यन्ते तेषां पदार्थानां वैशेषिकाभिमतसप्तपदार्थेषु अन्तर्भावात् न्यायवैशेषिकयोः समानतन्त्रत्वात् न्यायवैशेषिकतन्त्रे सप्तपदार्थवादः प्रसिद्ध एव। तत्र त्रिविध विशिष्टाभावं स्वीकृत्यकार्यकारणभावः स्वीकरणीयः। एतेन एव कार्यकारणभावनिर्वाहे शक्तेः न पदार्थान्तरत्वमिति। एवञ्च तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वरूपस्यापि सादृश्यस्यापि न्यायवैशेषिकैः पदार्थान्तरत्वं नाङ्गीकृतम्। अयमिति सिद्धान्तः।

#### भूमिका

‘पदार्थतत्त्वनिर्वचनम्’ इति विषयं पुरस्कृत्य इत्थं वक्तुं शक्यते यत् भारतीयपरम्परायां विद्यमानानि सर्वाणि भारतीयदर्शनानि निःश्रेयसपरकाणि भवन्ति। धर्मार्थकाममोक्षेषु चतुर्षु पुरुषार्थेषु मोक्षस्य परमपुरुषार्थत्वमिति सर्वैः दार्शनिकैः स्वीक्रियते।

परमपुरुषार्थस्य निःश्रेयसापराभिधस्य मोक्षस्य सम्प्राप्त्युपायं प्रतिपादयन् महर्षिकणादः समुल्लिखति ‘धर्मविशेषप्रसूताद्द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां

\* शोधच्छात्रा, न्यायवैशेषिकविभागः, श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः, नवदेहली

तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्<sup>१७</sup> इति शिवादित्यमिश्रादिमते कणादोक्तषट्पदार्थैः सह अभावाभिधेयस्य सप्तमपदार्थस्यापि साधर्म्यवैधर्म्यज्ञानं निःश्रेयसहेतुर्भवति।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।  
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।।<sup>१८</sup>

‘तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यःपन्था विद्यतेऽयनाय’<sup>१९</sup> इत्यादि श्रुतयो यद्यपि आत्मतत्त्वज्ञानमेव निःश्रेयससाधनत्वेनोद्घोषयन्ति, तथापि आत्मतत्त्वस्य सम्यगवगतिनिमित्तं संसारस्य संसारगर्भगतानां पदार्थानां च याथार्थ्यं ज्ञानमावश्यकम्। आत्मसंवेदनार्थं नात्मसंवेदनमपि गुरुत्वपूर्णम्। यतो हि जगति सादृश्यवैसादृश्याभ्यां सर्वेऽपि पदार्थाः परस्परं सम्बन्धाः। न्यायवैशेषिकमते सर्वेऽपि पदार्थाः सप्तपदार्थेषु यथायोग्यं गतार्थाः भवन्ति।

### पदार्थलक्षणम्

‘पदस्यार्थः पदार्थः इति व्युत्पत्त्याभिधेयत्वं पदार्थसामान्यलक्षणम्।’<sup>२०</sup> ‘पदम्’ = ‘शक्तं पदम्’<sup>२१</sup> अर्थात् शक्तिविशिष्टं पदम्। ‘पद्यते गम्यते अर्थोऽनेनेति शब्दः पदम्।’<sup>२२</sup>

शब्दस्य पर्यायवाचिनामपदं चतुर्विधं-यौगिकं, रूढं, योगरूढं, यौगिकरूढं चेति। ‘ऋच्छन्तीन्द्रियाणि यं सोऽर्थः।’<sup>२३</sup> अर्थात् इन्द्रियग्राह्यपदनिष्ठविषयात् अर्थोपपन्नं भवति।

आचार्यभर्तृहरिरपि उद्घोषयति -

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।  
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।।<sup>२४</sup> इति।

एतेन इदं वक्तुं शक्यते वृत्त्या पदोपस्थाप्य एव पदार्थो भवति। मुख्यार्थः शक्यार्थः वाच्यार्थः साक्षात् सङ्केतितार्थः अभिधेयार्थः इति पर्यायवाचिनो भवन्ति। अभिधाविषयत्वं अभिधानयोग्यत्वं वा ‘अभिधेयत्वम्’= शब्दशक्यत्वम्।<sup>२५</sup> तथा च अभिधा ‘अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्यः’ इति ‘इदं पदममुमर्थं बोधयतु’ इति वा ईश्वरेच्छारूपा इच्छारूपा वा शक्तिः इति नैयायिकाः स्वीकुर्वन्ति।

‘ज्ञेयत्वं ज्ञानविषयता’<sup>२६</sup> इति विश्वनाथेन सप्तपदार्थसाधर्म्यव्याख्यानावसरे प्रतिपादितम्। तथा चोक्तम्- ‘सप्तानामपि साधर्म्यं ज्ञेयत्वादिकमुच्यते’<sup>२७</sup> इति। ज्ञानविषयत्वं ‘ज्ञानग्रहणयोग्यत्वं ज्ञेयत्वम्’<sup>२८</sup> इति। विषयतासम्बन्धेन ज्ञानं विषये तिष्ठति। वस्तुतः ज्ञानस्य सविषयकत्वात् ज्ञानविषयत्वमेव ज्ञेयत्वमिति फलितं भवति। तच्च ज्ञेयत्वं सप्तपदार्थेषु विद्यत इति सप्तपदार्थानां साधर्म्यं ज्ञेयत्वं भवति।

यथार्थाऽयथार्थभेदेन ज्ञानं द्विविधं भवति। तत्र यथार्थानुभव प्रमा। सा च प्रमा तद्वति तत्प्रकारकयथार्थानुभवरूपा भवति। वस्तुतः तद्वद्विशेष्यतानिरूपिततन्निष्ठप्रकारताशालियथार्थानुभवः प्रमा भवतीति प्रमाविषयत्वं प्रमेयत्वमिति। तच्च प्रमेयत्वं सर्वत्रैवास्ति। सिद्धान्तरूपेण पदार्थस्य इत्थं लक्षणं वक्तुं शक्यते, यत्त्वृत्तिज्ञानाधीनपदजन्यप्रतीतिविषयत्वं पदार्थत्वमिति। कोशग्रन्थेष्वपि पदार्थस्य लक्षणं दरीदृश्यते- ‘शब्दाभिधेये द्रव्यादौ’।<sup>२९</sup> ‘पदानां घटपटादीनामर्थोऽभिधेयः’<sup>३०</sup> इति। ‘व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः’<sup>३१</sup> इति गौतमीयन्यायसूत्रे। यथा घटमानयेत्यात्र घटपदेन घटत्वजातेः कम्बुग्रीवाख्य आकृतेः घटव्यक्तेश्च इति त्रितयसमुदायशक्तिं स्वीकृत्य घटत्वविशिष्टघटस्य बोधो भवति। स एव घटशब्दस्य वाच्यार्थो घट एव। एतेन अभिधेयत्वं वाच्यत्वम् ज्ञेयत्वं प्रमेयत्वञ्च पदार्थलक्षणमिति फलितं भवति।

### दर्शनान्तरेषु पदार्थानुशीलनम्

पदार्थसामान्यलक्षणनिरूपणानन्तरं तद्भेदं प्रदर्शयन्ति आचार्याः - 'पदार्थो द्विविधः भावोऽभावश्चेति।'<sup>२२</sup>

### वैशेषिकतन्त्रे पदार्थचिन्तनम्

तत्र द्रव्यादयः षट् भावपदार्थाः भवतीति कणादपादैरुक्तम्। अभावस्तु प्रतियोगि-  
निरूपणाधीननिरूपणस्य विषये भवतीति 'नञ् अर्थानुल्लिखितधीविषयतया भावरूपतया षडेवेति  
विवक्षिताः'<sup>२३</sup> इति। परवर्तिभिः वैशेषिकैः सूत्रकारोक्तनवमाध्यायस्य अभावमूलकं सूत्रं स्वीकृत्य पदार्थाः  
सप्त भवन्तीति संसूचितम्। तादृशसिद्धान्तमभ्युपगत्य अन्नंभट्टेनोक्तम् - 'द्रव्यगुणकर्म सामान्य  
विशेषसमवायाभावाः सप्तपदार्थाः'<sup>२४</sup> इति। तथैव न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्याम् -

द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं सविशेषकम्।

समवायस्तथाऽभावः पदार्थाः सप्त कीर्तिताः।।<sup>२५</sup>

### न्यायनये पदार्थस्वरूपनिरूपणम्

एतेन वक्तुं शक्यते यत् न्यायतन्त्रे ये प्रमाणादयः<sup>२६</sup> षोडशपदार्थाः विद्यन्ते तेषां पदार्थानां  
वैशेषिकाभिमतसप्तपदार्थेषु अन्तर्भावात् न्यायवैशेषिकयोः समानतन्त्रत्वात् न्यायवैशेषिकतन्त्रे  
सप्तपदार्थवादः प्रसिद्ध एव। तत्र अन्येषां दार्शनिकानाम् इयं मतिः विद्यते यत् पदार्थस्य प्रमुखरूपेण  
प्रतिपाद्यत्वाद् यद्यपि वैशेषिकदर्शनं 'पदार्थशास्त्रमि'त्यभिधानेन अभिहितं तथापि पदार्थभेदेनैव दार्शनिकानां  
मध्ये महान् मतभेदः दरीदृश्यते।

### वेदान्तदृष्ट्या पदार्थोपस्थापनम्

चिदचिदात्मकौ दौ पदार्थौ इत्यध्यासोवादिनो वेदान्तिनः आहुः। चिदचिदीश्वरभेदेन भोक्तु-भोग्य-  
नियामकभेदेन च त्रयः पदार्थाः इति रामानुजीयाः। तदुक्तम् -

ईश्वरश्चिदचिच्चेति पदार्थत्रितयं हरिः।

ईश्वरश्चिदिति प्रोक्तो जीवो दृश्यमचित्पुनः।।<sup>२७</sup>

माध्ववेदान्ते द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-विशिष्टांशि-शक्ति-सादृश्याभाव भेदेन दशपदार्थाः  
परिकल्पिताः। निम्बार्काचार्येण द्वैताद्वैतवेदान्ते रामानुजाचार्यवत् पदार्थत्रयमभ्युपगतम्।

### पदार्थविषयेऽन्येषामाचार्याणामवलोकनम्

पतिपशुपाशुभेदात् त्रयः पदार्थाः इति शैवसिद्धान्ताः। 'प्रमेयाः पदार्थाः'<sup>२८</sup> इति प्रशस्तपादाचार्याः  
वदन्ति।

### मीमांसकाभिमते पदार्थसमीक्षणम्

द्रव्यगुणकर्मसामान्याभावश्चेति पञ्चपदार्थाः तौतातिता। द्रव्यगुणकर्मसामान्यसंख्यासमवाय-  
सादृश्यशक्तयः इत्यष्टौ पदार्थाः प्रभाकराः। 'मुरारेस्तृतीयः पन्था' न्यायेन मीमांसायास्तृतीयो मार्गदर्शको  
मुरारिमिश्रो 'ब्रह्मैकं व्यवहारे तु धर्मिधर्माधारप्रदेशविशेषाः पञ्चपदार्थाः स्वीकृतवान्।

### सांख्यदर्शने पदार्थतत्त्वकथनम्

प्रकृतिरविकृतिः - प्रकृतिविकृतयः न, प्रकृतिर्नविकृतिरिति भेदेनैव पञ्चविंशतितत्त्वानि स्वीकृतानि सांख्याः। तथाहि -

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।

षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः।।<sup>२९</sup>

### योगशास्त्रे पदार्थदर्शनम्

पूर्वोक्त पञ्चविंशतितत्त्वमाहत्य ईश्वरं च स्वीकृत्यः पातञ्जलयोगदर्शने षड् विंशतितत्त्वानि भवन्ति। अतएव योगदर्शनं 'सेश्वरसांख्य' दर्शनमिति नाम्ना व्यपदिष्टं भवति।

सप्तैव पदार्थाः न तु षोडश इति निष्कर्षः

तत्र च वैशेषिकसिद्धान्तमभ्युपगत्य 'सप्तपदार्थी' इति ग्रन्थे शिवादित्याः पदार्थाः सप्तैव इति सूचितम्। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि द्रव्याणि नव। रूरसगन्धस्पर्शसंख्या-परिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वस्नेहसंस्कारशब्दबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मा-गुणाश्चतुर्विंशतिः। उल्क्षेपणापक्षेपणाकुञ्जनप्रसारणगमनानि कर्माणि पञ्च। अन्यानि कर्माणि गमनान्येव।

नित्यमेकमनेकसमवेतं सामान्यम्। तद् द्विविधम् - परमपरञ्च। तत्राद्यमधिकदेशम्, सत्तादिकम्। अन्यमल्पदेशं द्रव्यत्वादिकम्। नित्यैकद्रव्यसमवेता विशेषाः। भावयोर्नित्यसम्बन्धः समवायः। अभावो द्विविधः - संसर्गाभावोन्योन्याभावश्च। अनेन प्रकारेण वैशेषिकतन्त्रे सप्त पदार्थाः प्रसिद्धाः सन्ति। तत्र अधिकसंख्यानिषेधार्थकत्वेन सप्तपदस्य ग्रहणमिति वैशेषिकाणां युक्तिः।

### शक्तिपदार्थत्वनिरूपणम्

तत्र यैः मीमांसकैः प्राभाकरैः शक्त्यादीनां पदार्थान्तरत्वं स्वीकृतं तेषामयमाशयः शक्तेः अष्टमपदार्थत्वेन विद्यमानत्वात् कथं सप्तैव पदार्थाः? तथाहि - शक्तित्वावच्छिन्ना शक्तिस्त्रिधा विभक्ता। सहजाशक्तिः वह्नयादिनिष्ठा। आधेयशक्तिः प्रोक्षणादिसंस्कारजन्या ब्रीह्यादिनिष्ठा। तत्तदर्थं निरूपिता तत्तत्पदनिष्ठा पदशक्तिश्च अपि द्विविधा आनुभाविका स्मारिका च। आनुभाविका शब्दानुभवजनकेत्यर्थः। तत्र सहजाशक्तिविषये इत्थं वक्तुं शक्यते, यत् वह्नेः दाहानुकूला शक्तिः सहजा एव। अर्थात् वह्नेः कार्यं भवति दाह एव, तत्र प्रतिबन्धकभूतस्य चन्द्रकान्तमणेः समवधानदशायां सत्यपि वह्नि-इन्धनयोः संयोगे दाहो न भवति। अर्थात् वह्नौ विद्यमाना दाहकूला शक्तिर्नश्यति। यदि तत्रैव मणेरभावो भवति तदा दाहो जायते। चन्द्रकान्तमणिसत्त्वदशायां यदि उत्तेजकसूर्यकान्तमणेः सद्भावः तर्हि तत्र दाहो जायते। 'प्रतिबन्धककोटिप्रविष्टाभावप्रतियोगित्वमुत्तेजकत्वम्'<sup>३०</sup> इति। उत्तेजकमणिसंयोगे दाहप्रतिबन्धकभूतस्य चन्द्रकान्तमणेरभावे वा दाहो जायते। अर्थात् उत्तेजकमणिसंयोगे मणेरभावे वा वह्नौ दाहकारिणी शक्तिरुपद्यते इति मीमांसकाः कल्पन्ते। सा च शक्तिः न द्रव्येष्वन्तर्भवति। पृथिव्यादिचतुष्टये न तस्याः अन्तर्भावो स्पर्शशून्यत्वात्, न आकाशादिपञ्चकेऽन्तर्भावो उत्पादविनाशशालित्वात्। नापि गुणकर्मणोः गुणादिवृत्तित्वात्, 'कपालादिरूपादिषु घटरूपाद्युत्पादकशक्तिसत्त्वात्'<sup>३१</sup> नापि सामान्य-विशेष-समवाय-अत्यन्ताभाव-अन्योन्याभावरूपा उत्पत्तिमत्त्वे सति विनाशित्वात्। शक्तिमत्त्वे सति न तु अनादिप्रागभावरूपा सत्त्वेन प्रतीयमानत्वात्। अतः अतिरिक्तभावपदार्थरूपेणैव शक्तेः पदार्थान्तरत्वमिति सिद्धम्।

**तत्त्वखण्डनञ्च**

उत्तेजकसूर्यकान्तमणेरभावे च विशिष्टचन्द्रकान्तमणिः दाहं प्रति प्रतिबन्धको भवति। अतः प्रतिबन्धकभूतस्य चन्द्रकान्तमणेरभावः तत् दाहकार्यं प्रति कारणं भवति। न्यायसिद्धान्ते प्रतिबन्धकाभावस्य कार्यामात्रं प्रति कारणत्वेनैव स्वीकारात् चन्द्रकान्तमणेः प्रतिबन्धकत्वात् तदभावस्य च कारणत्वरूपेण प्रकल्पनात् शक्तेः न पदार्थान्तरत्वम्। एवञ्च प्रतिबन्धकसत्त्वदशायां उत्तेजकसत्त्वदशायां च कथं दाह इति जिज्ञासायामित्थं वक्तुं शक्यते यत् तत्र त्रिविध विशिष्टाभावं स्वीकृत्यकार्यकारणभावः स्वीकरणीयः। एतेन एव कार्यकारणभावनिराहे शक्तेः न पदार्थान्तरत्वमिति। एवञ्च तद्विन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वरूपस्यापि सादृश्यस्यापि न्यायवैशेषिकैः पदार्थान्तरत्वं नाङ्गीकृतम्। अयमिति सिद्धान्तः।

**सन्दर्भाः**

१. वैशेषिकसूत्र, १.१.४
२. तर्कसंग्रह (दीपिका), पृ. सं. २०
३. न्यायदर्शनविमर्शः, पृ. सं. १८५
४. न्यायसूत्र, २.२.६७
५. कारिकावली, का. सं. २
६. प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रह-स्थानानां तत्त्वज्ञानानिःश्रेयसाधिगमः। न्यायसूत्र, १.१.१
७. वैशेषिकसूत्र, १.१.४
८. मुण्डकोपनिषद्, २.२.८
९. श्वेताश्वरोपनिषद्, ३.८
१०. तर्कसङ्ग्रहदीपिका, पृ. सं. २०
११. न्यायदर्शनविमर्शः, पृ. सं. १८५
१२. संस्कृतपरम्परागतविषयः, न्यायदर्शनम्, पृ. सं. ५९
१३. वैशेषिकदर्शनविमर्शः, पृ. सं. १५
१४. वाक्यपदीयम् (ब्रह्मकाण्डम्, का. सं. ११४
१५. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, व्या. प्रत्यक्षखण्डम्, पृ. सं. २४
१६. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ. सं. ६८
१७. कारिकावली, का. सं. १३
१८. प्रशस्तपादभाष्म् (न्यायकन्दलीसहितम्), पृ. सं. ४१
१९. वाचस्पत्यम्, पंचमभागः, पृ. सं. ४२२५
२०. शब्दकल्पद्रुमः, तृतीय भाग, पृ. सं. ४०
२१. न्यायसूत्र, २.२.६७
२२. तर्कामृतम् (पदार्थप्रकरणम्), पृ. सं. ३
२३. सर्वदर्शनसंग्रहः, औलुक्यदर्शनम्, पृ. सं. ३४५

२४. तर्कसंग्रहः, पृ. सं. २०
२५. कारिकावली, का. सं. २
२६. प्रमाणप्रमेयसंशसप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभा-सच्छलजातिनिग्रह स्थानानां तत्त्वज्ञानानिःश्रेयसाधिगमः। न्यायसूत्रम्, १.१.१
२७. सर्वदर्शनसंग्रहः, (रामानुजदर्शनम्), पृ. सं. १६१
२८. प्रशस्तपादभाष्यम्, पृ. सं. २६
२९. सांख्यकारिका, का. सं. ३
३०. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, (प्रत्यक्षखण्डम्), बालप्रियाहिन्दीव्याख्यासहितम्, पृ. सं. २०
३१. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, राम. टी., पृ. सं. ४९

### सन्दर्भग्रन्थसूची

- किरणावली, उदयनाचार्यः, सम्पा. विन्ध्येश्वरीप्रसादद्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, सं. ९, वाराणसी, १८९७
- तत्त्वचिन्तामणिः, गंगेशोपाध्यायः, सं. ए. ताताचार्यः, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, १९९३
- तत्त्वसंग्रहः, शान्तरक्षितः, सं. स्वामी द्वारिकादासशास्त्री, बौद्धभारती, वाराणसी, १९६८
- तर्कामृतम्, जगदीशभट्टाचार्यः, सं. रामचन्द्रमिश्रः, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९७३
- तर्ककौमुदी, लौगाक्षिभास्करः, सं. वी. एल. एस. पनसीकरः, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२८
- तर्कभाषा, केशवमिश्रः, सं. बदरीनाथशुक्लः, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९६८
- तर्कसंग्रहः, अन्नभट्टः, सं. अथल्ये. बोडासः, बाम्बे संस्कृत सीरीज, सं. ५५, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९६८
- तर्कसंग्रहः 'दीपिका', अन्नभट्टः, सं. अथल्ये. बोडासः, बाम्बे संस्कृत सीरीज, सं. ५५, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९६८
- न्यायकुसुमाञ्जलि, उदयनाचार्यः, सं. महाप्रभुलालगोस्वामी, मिथिला विद्यापीठ ग्रन्थमाला सं. २८, १९७२
- न्यायभाष्यम्, वात्स्यायनः, सं. नारायणमिश्रः, काशी संस्कृत ग्रन्थमाला, ४८, वाराणसी, १९७०
- न्यायवार्तिकम्, उद्योतकराचार्यः, सं. विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी, बिब्लोथिका इण्डिका, कलकत्ता, १८८७
- न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, विश्वनाथः, सं. श्रीकृष्णवल्लभाचार्यः, काशी संस्कृत ग्रन्थमाला, सं. २१२, वाराणसी, १९७२
- प्रशस्तपादभाष्यम् (पदार्थधर्मसंग्रहः), प्रशस्तपादः, सं. नारायणमिश्रः, काशी संस्कृत ग्रन्थमाला सं. १७३, वाराणसी, १९६६
- भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, दिल्ली, १९७७

-----

## राजेन्द्रलालमित्रस्य शिल्पिकदर्शनग्रन्थे वस्त्रविमर्शः

### तन्मय-अधिकारी\*

भारतवर्षस्य पश्चिमबंगालप्रान्तस्य वैदिकविद्वत्सु एकोऽन्यतमो विद्वान् खलु राजेन्द्रलालमित्रः। तेन बहुविधाः ग्रन्थाः विरचिताः। तेषु ग्रन्थेषु शिल्पिकदर्शनग्रन्थः एकः प्रसिद्धो ग्रन्थो वर्तते। तस्मिन् ग्रन्थे विविधेषु विषयेषु वस्त्रस्य विशेषरूपेण वर्णनं संलक्ष्यते। यत्तु अस्य शोधपत्रस्य मुख्यतया विवेच्यं वर्तते।

वस्तुतः सभ्यतायाः प्राचीनकालात् हिन्दूजनाः सभ्याः आसन्। विषयेऽस्मिन् परिचयः एकाधिकक्षेत्रे प्राप्यते यन्मध्ये अन्यतमं क्षेत्रमासीत् शिल्पनैपुण्यम्। तस्य अन्यतमं निदर्शनमस्ति 'ढाकाइ -वस्त्रम्।' सामान्ययन्त्रोत्पादितेषु वस्त्रेषु यादृशी शिल्पकला आसीत् तादृशी तस्मिन् काले पाश्चात्यदेशस्य बहुमूल्यवाष्पीययन्त्रोत्पादितवस्त्रेषु अपि नासीत्। प्राचीनकाले रोमराज्ये एतद्वस्त्रविषये यादृशी ख्यातिः विद्यमाना आसीत् तादृशी अस्माकं देशस्य वस्त्रशिल्पसाफल्यविषयेऽपि प्रधानस्रोतस्वरूपम् आसीत् इति विषयेऽस्मिन् नास्ति कोऽपि सन्देहः। देशविभागस्य पूर्वं एतद्वस्त्रोत्पादनकार्ये प्रसिद्धस्थानरूपेण ढाका-सुवर्णग्राम-डुमराय-वाजेत्पुर-प्रभृतयः आसन्। तेषु स्थानेषु ढाकाप्रदेशस्य वस्त्रन्तु श्रेष्ठमासीत्। तस्मात् कारणात् तस्य वस्त्रस्य तादृशं 'ढाकाइ' इति नामकरणमासीत्। एतद्वस्त्रोत्पादनकार्ये सूत्रस्य प्रस्तुतकरणं सर्वादौ करणीयं भवति स्म। ग्रामस्य स्त्रियः विंशतिवर्षपर्यन्तं कार्येऽस्मिन् दक्षाः आसन्। सूत्रस्य प्रस्तुतकरणस्य उत्तमसमयरूपेण दिवसस्य दशवादनपर्यन्तम् अपराहणे चतुर्वादानन्तरं च निश्चितमासीत्। वस्त्रोत्पादनकाले सूत्रमिदं फेट्याकारेण लुट्याकारेण च रक्षितमासीत्। तदनन्तरं फेटि (लुटि) इति पयसा सिक्तं कृत्वा चरकिनामकस्थाने द्विधाविभक्तं करोति। तत्र उत्तमखण्डं 'टाना'<sup>१</sup> इति नाम्ना अपरखण्डं च 'पडेन'<sup>२</sup> इति नाम्ना व्यवह्रयते। तत्र 'टाना' इति सूत्रमिदं वस्त्रोत्पादनार्थं सप्तदिवसात्मके सज्जं भवति। सूत्रमिदम् उत्तम-मध्यम-अधमभेदेन भागत्रयं भवति। तेषु भागत्रयेषु उत्तमसूत्रन्तु वस्त्रस्य दक्षिणपार्श्वे, मध्यमसूत्रं खलु वामपार्श्वे, अधमसूत्रञ्च मध्यभागे व्यवह्रयते। तत्पश्चात् अपरं खण्डं 'पडेन' यदासीत् तत्तु प्रस्तुतकरणार्थं एकरात्र्यात्मके पयसा सिक्तं कृत्वा अपरस्मिन् दिवसे प्रातःकाले मण्डलिप्तं भवति। 'टाना' इति सूत्रमिदं एकस्मिन् काले प्रस्तुतं भवति, किन्तु 'पडेन' इति सूत्रमिदं प्रतिदिनं प्रस्तुतं भवति। अनेन विधिना वस्त्रं निर्मितं भवति। एवम्विधेन 'ढाका' इति प्रदेशे ख्यातिसम्पन्नानि कानिचन वस्त्राणि<sup>३</sup> उत्पादयन्ति। तद्यथा - मल्मलखास-सरकारआलि- झुना-रङ्ग-आवरवोयाँ-खासा-शवनम-आलावलि-तञ्जेव-तरन्दम-सरवन्द-सरवति-चारखाना-जामदानी-प्रभृतयः सन्ति। तेषु वस्त्रेषु 'मल्मलखास' इति नामकं वस्त्रमुल्लेखनीयम्। वस्त्रमिदं पूर्वं मल्मलाम्ना व्यवह्रयते, किन्तु मुसलिमधर्मस्य नृपाणां परिवारे व्यवहारकारणात् वस्त्रमिदं 'खासः' उपाधिः अपि प्राप्तवत्। आषाढ-श्रावण-भाद्र-मासेषु वस्त्रमिदं बाहुल्येन उत्पन्नं भवति। अस्याः मल्मलशाटिकायाः मध्ये अष्टादशसहस्राणि सूत्राणि सन्ति। शाटिका इयं

\* शोधच्छात्रः, संस्कृतविभागः, सिधो-कानहो-वीरसा-विश्वविद्यालयः, पुरुलिया, पश्चिमबङ्गः

षट्मासात्मके निर्मिता भवति। तद्व्यतिरिच्य तदा 'सरकार-आलिशाटिका' अपि प्रसिद्धा आसीत्। अस्यां शाटिकायां १९०० इति संख्यकानि सूत्राणि सन्ति। तदनु 'झुनाशाटिका' अपि अतीव सूक्ष्मवस्त्रमासीत्। यत्र २००० इति संख्यकानि सूत्राणि विद्यन्ते। मुसलिमराजमहिषीगणैः नर्त्तकीगणैश्च शाटिकेयं व्यवहियते। तदनन्तरं 'रङ्गशाटिका' अपि ख्यातिप्राप्ता वस्त्रं विद्यते। यत्र १२०० इति संख्यकानि सूत्राणि विद्यमानानि सन्ति। अनन्तरं तदा तिस्रहस्तविशिष्टा 'प्रशस्तखासाशाटिका' अपि प्रसिद्धं वस्त्रमासीत्। वर्तमानकाले ख्यातिविशिष्टा 'जामदानी' इति शाटिका अपि ढाकाइ वस्त्रमस्ति। राजेन्द्रलालमित्रेण विरचितेन 'शिल्पिकदर्शन' इत्यस्मिन् ग्रन्थे उपयुक्तवस्त्राणां सविशदं वर्णनं संलक्ष्यते।

तदनन्तरं शिल्पिकदर्शनग्रन्थे मित्रमहाशयेन शालवस्त्रविषये वैशद्येन वर्णितम्। अस्य शालवस्त्रस्य उत्पादनार्थं कश्मीरप्रदेशः श्रेष्ठत्वेन वर्णितः। यथा कार्पासवस्त्रमध्ये ढाकाप्रदेशस्य मल्मलखासाशाटिका उन्नतमाना मनोहारिका चास्ति तथा रोमजवस्त्रमध्ये शालवस्त्रमपि तादृशं वर्तते। शालोत्पादनस्य मूलोपादानरूपेण लोमशः व्यवहियते। यत्तु कश्मीरप्रदेशे न प्राप्यते। अस्य देशस्य उत्तरपूर्वाञ्चलस्थित-लादाख-खोतन-इयारखण्ड-तिब्बतादिषु स्थानेषु लोमशः बहुमात्रायां समुपलभ्यते। तल्लोमशः द्विविधः। प्रथमस्तावत् 'शालपशमः'<sup>४</sup> यत्तु गृहपालितामजानां लोमशः भवति। द्वितीयस्तु 'आसलितुषः'<sup>५</sup> इति यद् अरण्ये स्थितानामजानां मेषाणां च लोमशः विद्यते। कश्मीरदेशे मुगलव्यवसायिकाः लादाखदेशस्य राजधानीलेहनगरतः लोमशं क्रयित्वा ५००-१००० अश्वमाध्यमेन प्रतिवर्षमानयन्ति स्म। शालपशमस्य आनयनकार्यं यत् व्ययं भवति स्म तद् द्विगुणं व्ययं आसलितुषस्य आनयनकार्यं भवति स्म। कश्मीरदेशे लोमक्रयविक्रयादिकार्यं मध्याह्नभोजनकाले एव भवति स्म। लोमशेभ्यः स्त्रियः सूत्रनिर्माणकार्यं कुर्वन्ति स्म। ताः स्त्रियः हस्ताभ्यां लोमशस्य परिस्कारमूलककार्येण सूत्रप्रस्तुतकरणस्य सूचनां कुर्वन्ति स्म। तत्परं काटन्यः तल्लोमेन एकहस्तदीर्घं 'पाँज'<sup>६</sup> इति प्रस्तुतं कृत्वा निर्दिष्टकालपर्यन्तं तत् निर्मलपात्रमध्ये रहवस्त्रेण आच्छादितं करोति स्म। दिवसस्य प्रभातकालतः मध्यरात्रिपर्यन्तं शालवस्त्रोत्पादनस्य सूत्रं प्रस्तुतं भवति स्म। कश्मीरदेशस्य सप्तलक्षाधिकजनाः प्रायः कार्यमिदं कृतवन्तः। एतत् कथितमस्ति यत् सूत्रमिदं रङ्गकारेण चतुःषष्टिप्रकारेण वर्णेन रञ्जितमस्ति। कार्येऽस्मिन् लाक्षा-नील-हरिद्रा-केशर-कुसुम-मञ्जिष्ठा-वकमकाष्ठादयः रङ्गद्रव्योत्पादने व्यवहियन्ते। किन्तु उत्तमस्थायिहरितवर्णप्रस्तुतकरणाय विदेशस्य हरितवर्णप्रस्तुतकरणवत् तदपि प्रस्तौति। तत्परं तच्छालसूत्रं नक्तुनामकशिल्पिसमीपं प्रेषयति।<sup>७</sup> नक्तुः दिवसे टान-पडेनरूपेण द्विविधशालवस्त्रं प्रस्तुतं करोति। ततः सूत्रस्य लुटिः पेन्नाकगुरोः हस्ते गमयति। सः तन्मध्ये तण्डुलमण्डं लेपयति। अनन्तरं तत् परिस्कारं कृत्वा यदा शुष्कं भवति तदा तन्त्रवायस्य कार्ये उपयुक्तं भवति। कश्मीरदेशे अयं तन्त्रवायः 'शालवाफ्'<sup>८</sup> इति नाम्ना परिचितः विद्यते। किन्तु उभयदेशस्य तन्त्रवायानां वस्त्रोत्पादनकार्यं न समानम् आसीत्। कश्मीरदेशस्य शालवाफ् इति प्रधानव्यक्तिवर्गस्याधीने कार्यं भवति स्म। तत्परं एतद्वापदण्डे टानासूत्रं यदा युज्यते तदा नक्काशः<sup>९</sup> (चित्रकरः), तस्य गुरुः (सूत्रनियोगोपदेशकः), तालिमगुरुः<sup>१०</sup> च स्व स्व कार्ये नियुक्तवान्। प्रथमं तावत् चित्रकरः नक्काशः वा स्वाभिप्रायानुसारेण कर्माध्यक्षानुसारेण वा शालवस्त्रमध्ये स्थितपत्रपुष्पान्वितचित्रं कागजमध्ये लेखन्या चित्रितं करोति। तत्पश्चात् तत् प्रस्तुते वर्णसूत्रस्य परिमाणे तस्य गुरुः स्थिरीकृत्वा तालिमगुरुं ज्ञापयति। तत्परं तालिमगुरुः समग्रविषयजातं कागजमध्ये सङ्केतेन लिखित्वा तन्त्रवायस्य हस्ते समर्पितं कृत्वा उपदेशं प्रयच्छति। चित्रविशिष्टशाले माकुरस्य व्यतीतं 'तुजिः'<sup>११</sup> इति नामककाष्ठशलाका व्यवहियते। किन्तु तत्र

संख्यायां पार्थक्यं विद्यते। तद्यथा सामान्यचित्रितशालमध्ये ३००-४०० इति संख्यकाः तुज्याः विद्यन्ते, किन्तु अतिसूक्ष्मचित्रितशालमध्ये १५०० इति संख्यकाः सन्ति। एतच्छालप्रस्तुतकरणसमये शालवस्त्रस्य अग्रभागः अधः तथा पृष्ठदेशः तन्त्रवायस्य सन्मुखे स्थितः आसीत्। एतच्चित्रयुक्तशालप्रस्तुतकरणाय त्रयः जनाः प्रयुज्यन्ते। तन्मध्ये साधारणचित्रयुक्तशालवपनकार्ये जनाः मासत्रयं कार्यं कुर्वन्ति, किन्तु सूक्ष्मचित्रयुक्तशालोत्पादनकार्ये पूर्वसमयतः षट्गुणाधिकं समयं प्रयोजनं विद्यते। किन्तु 'आलोलयानः'<sup>१२</sup> अर्थात् चित्रहीनशालोत्पादने द्वौ तन्त्रवायौ प्रयोजनौ स्तः। सामान्यवस्त्रवत् एतदपि तुय्याः प्रस्तौति, किन्तु आलोलयानमिदं सर्वदा एकेन नियमेन न वपति। किमपि वपनकार्यं सामान्यवस्त्रवत् यस्य नाम 'सादा' 'एकहारावुननः'<sup>१३</sup> वा इति भवति। प्राचीनसमये शालवस्त्रमिदं यथा व्यवहियते, किन्तु वर्तमानकाले तदा व्यवहारं न दृश्यते। एतद्व्यतीतं 'द्विसूत्रवुननः'<sup>१४</sup> अधुना ग्रहणीयः। अस्य अपरं नाम 'दोसूतिः' इति भवति। अत्र टुल-जिन-ड्रिलादीनि उदाहरणरूपेण द्रष्टुं शक्यन्ते। तस्य शालस्य प्रस्तुतकरणान्तरं परिस्कारकः तत् परिस्करोति। तस्मिन् शालवस्त्रमध्ये राजचिह्नं मुद्रितकरणाय षड्विंशतिरूप्यकानि शुल्करूपेण प्रदीयते। एतदनन्तरं शालवस्त्रं धौतं शुष्कं च करणीयं भवति। धौतशालवस्त्रमिदं शुष्ककरणसमये कुञ्चितं न भवेत् इत्यस्मात् कारणात् रजकः<sup>१५</sup> गोलाकृतकाष्ठदण्डे प्रसारयति। तत्पश्चात् द्विदिवसात्मके तत्र सेकेञ्जा<sup>१६</sup> इति नामककाष्ठयन्त्रे आवद्धं कृत्वा शालवस्त्रस्य प्रस्तुतिपूर्वं समाप्तं भवति। तत्परं चित्रकरणभेदे उत्तशाल-दोशालारूपेण शालवस्त्रं द्विविधं भवति। एतेषां शालानां नाम<sup>१७</sup> पारश्यभाषायां सञ्जातं वर्तते, किन्तु मित्रमहाशयेन तेषां नामानाम् अनुवादः कृतः। यथा - शालानां चित्राणां नामानि - (१) 'हाशिया' - पाडः, (२) 'पाल्ला'- अञ्चलः, (३) 'पिञ्जिरः'- शृङ्खला तथा पाडस्य सीमावद्धकरणं चेति। अन्यं नाम 'मोतिः'। (४) 'दौडः'- अञ्चलं व्यतीतं भूम्याः पाडस्य च मध्यस्थितः लतादियुक्तं चित्रितमवयवम्। एतद्वस्त्रविषये मित्रमहाशयेन तस्य शिल्पिकदर्शनग्रन्थे बङ्गभाषया विस्तारेण वर्णितम्। किन्तु अधुना अस्य शालस्य आकृति-नाम-वस्तु-चित्रादयः भिन्नरूपेण संलक्ष्यन्ते। एतद्विषये मित्रमहाशयेन उक्तम् - 'पट्टुपष्मिनः'<sup>१८</sup> आशालितुषेण अधमशाललोमेन वा उत्पद्यते। अतः एतद् एकप्रकारकं कम्बलमस्ति तथा लवादाप्रस्तुतकरणार्थं उपयुक्तमस्ति। कश्मीरदेशे एतस्य मूल्यं ५-६ रूप्यकानि प्रति गजस्य भवति। एतदतिरिक्तं 'शालफिरिः' इत्यपि फिरिलोमेन प्रस्तुतं भवति। वस्त्रमेतद् अतिस्थूलं तथा स्वल्पमूल्यं चासीत्। अतः प्राचीनसमये शालवस्त्रस्य क्रयणार्थं विविधदेशेभ्यः व्यक्तिवर्गाः अत्र कश्मीरदेशे आगच्छन्ति स्म, किन्तु सम्प्रति एतदवाणिज्यं हासमभवत्।

एतदनन्तरं रेशमप्रस्तुतकरणविषये मित्रमहाशयेन लिखितं यत् पारश्यशब्दोद्भूतः 'रेशमः'<sup>१९</sup> इति शब्दः। पूर्वं रेशमवस्त्रं कौषेय-क्षौम-पट्टादिनाम्ना अपि विख्यातमासीत्। यद् एकप्रकारेण कीटेन प्रस्तुतमभवत्। एतद्विषये ग्रन्थे लिखितमस्ति - 'चीनदेशीयग्रन्थे विवृतमस्ति, चीनाधिपतिः होयाङ्गितरस्य पट्टमहिषी सिलङ्गी सर्वादा प्रजापत्याः गुटिकायाः सूत्रेण वस्त्रमिदं निर्मितवान्। तत्पश्चात् ४६०० वर्षं यावत् तद्देशे रेशमवस्त्रं नितरां प्रस्तुतमभवत्। पृथिव्याः अन्यस्थानस्य सर्वे जनाः चीनदेशानुसारे एतत्कर्मणि प्रवृत्तं भवन्ति।'<sup>२०</sup> विषयोऽयं न केवलं चीनदेशे अपि तु भारतवर्षेऽपि प्राचीनकालतः विद्यमानः आसीत्। यथा 'महाभारतस्य सभापर्वणि दरीदृश्यते यद् राजानं युधिष्ठिरं उपद्वौकनप्रदानकरणार्थं हिमालयस्य उत्तरांशस्य शकजातीयकीटजवस्त्रम् आनयति। यदि वस्त्रमिदं युधिष्ठिरस्य राज्ये प्राप्यते तर्हि कथं ते तदानयने श्रमं कुर्वन्ति।'<sup>२१</sup> प्राचीनकाले अस्य कौषेयवस्त्रस्य समादरमासीत्। रोमकजातीयमध्ये विशेषतः

तद्देशस्य धनाढ्यस्त्रियः वस्त्रमिदं व्यवहियन्ते। एतद् रेशमवस्त्रम् अण्ड-कीट-गुटी-प्रजापतिभेदेन चतुर्विधं भवति। तेषु चतुर्विधेषु कीटानां स्वभाव-आकृति-धर्मानादीनां मध्ये भिन्नता वर्तते। बङ्गदेशे एतत्कीटजपदार्थस्य नाम 'भूतचाषी'<sup>२२</sup> इत्युच्यते। आंग्लशासकानां गमनान्तरं बङ्गदेशे अस्य उत्पादनकार्यं प्रारम्भं भवति। रेशमप्रस्तुतकारीस्थानमिदं 'वानकः'<sup>२३</sup> इति शब्देन कथ्यते। एतदतिरिक्तं 'कुठी' इति पाश्चात्यशब्दोऽपि तत्र प्रयुज्यते। एतद् वानकस्य प्रथममङ्गं कीटस्य प्रतिपालनगृहं वर्तते। ततः द्वितीयमङ्गं तूतक्षेत्रं विद्यते। चतुर्भागविशिष्टस्यास्य तूतस्य प्रथमभागस्य नाम सारः, द्वितीयभागस्य भोरः, तृतीयभागस्य देशिः, चतुर्थभागस्य च चीनिः वर्तते। अनन्तरम् एतद् वानकस्य तृतीयाङ्गस्य सूत्रप्रस्तुतकरणं गृहमित्युच्यते। वर्तमानकाले बङ्गदेशे चतुर्विधः रेशमकीटः<sup>२४</sup> विद्यते। तन्मध्ये प्रथमः 'वडः' इति वर्षे एकवारं रेशमः जायते। द्वितीयस्तु 'देशिः' यद् वर्षे पञ्चवारं रेशमः जायते। तृतीयः खलु 'चीनिः' यद् वर्षे षट्वारं सप्तवारं वा रेशमः जायते। चतुर्थश्च 'वर्णसंकरः' यद् देशिः चीनिः चेति कीटद्वयस्य मिश्रितरूपेण उत्पद्यते। तूतकर्षकेण रेशमकीटोऽयं 'पुलो-पोका-पोक' इति कथ्यते। चतुर्विधाववस्थायुक्तरेशमकीटजस्य अण्ड-जाति-ऋत्वादिभेदे अवस्था अल्पकालं बहुकालं वा भवति। यथा - देशिकीटस्य अण्डं वसन्ते दशदिवसात्मके, वैशाखे अष्टदिवसात्मके, आषाढे च सप्तदिवसात्मके प्रस्फुटयति। किन्तु शरत्काले मासद्वयात्मकं यावद् अण्डरूपे विद्यते। यदा रेशमं प्रस्तुतं भवति तदा तदिदं धौतं कृत्वा वस्त्रोत्पादनकार्यं सूचयति।

ढाकाइवस्त्रवत् समानरूपेण पटशिल्पेऽपि भारतस्य अतीव ख्यातिरासीत्। वर्तमानकाले केवलं फरक्कावाड-मछलीवन्दरे अस्य पटस्य उत्पादनक्षेत्रं विद्यते। अस्य पटस्य एकं विशेषं वैशिष्ट्यमस्ति यत् प्रक्षालने सति अपि पटमिदं मलिनीभूतं न भवति, अपि तु उज्ज्वलं भवति। सर्वोत्कृष्टे फरासिस्पटेऽपि एतद्वैशिष्ट्यं नास्ति। अस्य शिल्पस्य तथा रसायनविद्यायाः प्राचीनकाले मनुष्याणां बहु रुचिरासीत्, परन्तु वर्तमाने तद्वत् रुचिः नास्ति। अस्य पटस्य उत्पादने उद्देश्यद्वयं वर्तते। यथा प्रथमस्तु नानावर्णरञ्जितं शोभायुक्तं च द्वितीयं च शोभायाः दीर्घस्थायीत्वमिति। इग्लैण्डदेशस्य बहु पटमुन्नतगुणयुक्तं शोभामण्डितं च भवति, परन्तु दीर्घस्थायित्वमस्य पटस्य नास्ति। स्थायित्वगुणे भारतवर्षस्य फरासिदेशस्य च पटं प्रसिद्धम्। एतत्कारणेन तत् 'पाका' इति शब्देन बोध्यते। तद्विपरीतस्तु 'काँचा' इति शब्देन बुध्यते। अस्य पाकादिपटस्य प्रस्तुतकाले प्रथमं वस्त्रं प्रक्षालनं कृत्वा अतीव यत्नेन सह अग्निना दग्धयित्वा तस्योपरि विद्यमानानां सूत्राणां मोचनकार्यादनन्तरं तप्तलौहखण्डेन चौरसकार्यं यदा सम्पूर्णं भवति तदा तत् चित्रणकार्यमुपयुक्तं भवति। तत्पश्चात् खादिरं मादुफलं हरीतकीवृक्षवल्कलं च व्यवहृतं कृत्वा वस्त्रस्य रञ्जनकार्यं भवति। उद्भिजद्रव्यात् कतिपयानि वर्णानि गृह्यन्ते। यथा नील-हरिद्रा-मञ्जिष्ठा-कुसुमपुष्प-लटकन-सेफालिकापुष्पादीनि। खनिजद्रव्येषु हीराकष-तुतिया-हरिताल-सीसकतुतिया-क्रोम-फटकिरि-क्षाराणि प्राधान्येन गृह्यन्ते। लाक्षाकीटात् लाक्षावर्णः तथा दक्षिण-अमेरिकादेशे फणिमनसावृक्षात् पद्मवर्णं प्राप्यते इति।

पाश्चात्यदेशीयधनेन अस्माकं देशे उत्पादितानां वस्तुनां मध्ये नीलोत्पादनं प्रधानोत्पादनं भवति। नीलोत्पादनस्य कारणादेव बङ्गदेशे भूमिमूल्यं वृद्धिर्जायते। आंग्लशासकानामागमनेन देशेऽस्मिन् नीलोत्पादनमूलकं कार्यं प्रारम्भमभवत्। ततः क्रमशः तस्य उत्पादने सततं वृद्धिर्जायते। तदा कलिकातातः प्रतिवर्षं ११ कोट्यात्मकं द्रव्यं भिन्नदेशे गच्छति स्म, येषु अधिकांशरूपेण शर्करा-सोरा-नील-रेशमादयः

आसन्। नीलोत्पादनविषये मित्रमहोदयेन लिखितम् - 'अत्र बङ्गदेशीयस्य कस्यापि उत्पादनस्य क्षतिः नाभवत्। यतोहि नदीतटस्य नीम्नस्तरस्य भूम्यां नीलोत्पादनं भवति स्म। यत्र पूर्वे किमपि फसलोत्पादनं न भवति स्म।'<sup>२५</sup> तत्र नीलोत्पादनस्य कृते बीजवपनकार्यं कार्तिकमासे कृषकाः कुर्वन्ति स्म। तस्मात् कारणात् कार्यमिदं 'कार्तिकीरोया' इति नाम्ना कथितम्। तदा प्रति विघायां भूम्यां ६ किलोग्रामपरिमाणमूलकान् बीजान् वपन्ति स्म कृषकाः। किन्तु तदा या भूमिः नीलोत्पादनोपयोगी नासीत् तत्र चैत्रमासे कृषकाः बीजवपनं कुर्वन्ति स्म। अस्य नीलोत्पादनस्य समग्रविषयजातं मित्रमहाशयेन तस्य ग्रन्थे सविशदं वर्णितम्। यद्यपि शोधपत्रस्य विवेच्यविषयः नीलोत्पादनं नास्ति तथापि वस्त्रेण सह नीलस्य सम्पर्कं विद्यत एव। यतोहि अस्माभिः वस्त्रेषु नीलवर्णस्य व्यवहारः क्रियते। अतः तस्य अत्र वस्त्रेण सह पर्यालोचनमतीव महत्त्वपूर्णं विद्यते।

मनुष्यस्य कृते गृह-भोजन-वस्त्रादिपदार्थाः अतीव प्रयोजनीयाः पदार्थाः सन्ति। तेषु पदार्थेषु वस्त्रं विशेषरूपेण महत्त्वपूर्णं वर्तते। अत एव मित्रमहाशयेन स्वकीये शिल्पिकदर्शनग्रन्थे विभिन्नप्रकरणमाध्यमेन वस्त्रस्य उत्पादन-व्यवहारादिविषये विस्तृतरूपेण यथार्थं वर्णनं सम्पादितम्।

#### तथ्यसूत्राणि

१. मित्रः, राजेन्द्रलालः, शिल्पिकदर्शन, कलिकाता : भार्णाकुलारः लितारेचारः कमिटिः, १८६०, पृ. ४
२. तदेव, पृ. ४
३. तदेव, पृ. ५-७
४. तदेव, पृ. १५
५. तदेव, पृ. १६
६. तदेव, पृ. १८
७. तदेव, पृ. २०
८. तदेव, पृ. २१
९. तदेव, पृ. २२
१०. तदेव, पृ. २२
११. तदेव, पृ. २३
१२. तदेव, पृ. २४
१३. तदेव, पृ. २४
१४. तदेव, पृ. २४
१५. तदेव, पृ. २६
१६. तदेव, पृ. २६
१७. तदेव, पृ. २७
१८. तदेव, पृ. २८-३०
१९. तदेव, पृ. ३३
२०. तदेव, पृ. ३३
२१. तदेव, पृ. ३३
२२. तदेव, पृ. ३५
२३. तदेव, पृ. ३५
२४. तदेव, पृ. ३७
२५. तदेव, पृ. ८

#### सन्दर्भग्रन्थसूची (Bibliography)

- Mitra, Rajendralal. *Śilpika Darśana*, Calcutta : Bharanakular Literature Committee, 1860.
- Bandhyopadhyay, Brajendranath. *Rajendralal Mitra*. Calcutta : Bangiya Sahitya Parishad, 1350.
- Ray, Alok. *Rajendralal Mitra*. Calcutta : Prashanta Kumar Palita Prakashan, 1969.
- Mitra, Shishir Kumar. *Rajendralal Mitra*. Calcutta : .....1376.
- *Remembering Rajendralala Mitra*,... Calcutta : Asiatic Society, 1978.

## प्राचीनकृषिविज्ञानम्

डॉ. प्रमोद कुमार मिश्र\*

सृष्टेरारभ्यादेव प्राणिनः अनाश्रिताः इति नास्त्यत्र शंशीति लेशोऽपि। अतः तथाविधं अन्नं साधयितुं कृषिमेव श्रेष्ठतरं कार्यमिति प्रतिपादयन्तो वेदाः सस्योत्पत्तिमेव विदधति। 'अन्नाद्भवन्ति भूतानि'<sup>१</sup> इत्यनेन श्लोकेन अन्नस्य श्रेष्ठत्वं तदोत्पत्तेः निमित्तभूतं कृषिकर्मत्वञ्चोपपादितं पराशरप्रभृतिभिः।

प्रजापतिं नमस्कृत्य कृषिकर्मविवेचनम्।

कृषकाणां हितार्थाय ब्रूते ऋषिपराशरः।।<sup>२</sup>

वैदिककालादारभ्य अद्यावधिं यावत् विविधेषु ग्रन्थेषु कृषिमहत्त्वं, अन्नमहत्त्वं, जलसंरक्षणविधिः, धानकट्टनविधिः, बीजसंग्रहविधिः, बीजवपनविधिः, बीजरोपणविधिः, वाहनविधानं, गोपर्वकथनं, गोमयकूटोद्धारः, हलसामग्रीकथनं, हलप्रसारणं, धान्यनिस्तुणीकारणं, धान्याधिखण्डनमन्त्रः, मेधरोपणं, पुष्ययात्राकथनं, आढकलक्षणं, मयिकादानं, रोपणविधिः, धान्यस्थापनञ्च उपलभ्यन्ते।

कृषिशास्त्रं, कृषिकाण्डं, विश्ववल्लभा, वृक्षायुर्वेदः, कृषिगीता, लोकोपकारः, काश्यपीयकृषिश्च इतीमानि तत्सम्बन्धीनि स्वतन्त्रकृषिशास्त्राणि प्राप्यन्ते। एषु पुस्तकेषु पराशरेण यथासन्दर्भं कृषिसंबद्धविषयाः उपवर्णिताः सन्ति। ऋग्वेदे अक्षसूक्ते 'कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः' इति पवित्रकृषिकर्मविषयकं दृष्यते।<sup>३</sup> तथैव कौटिलीयार्थशास्त्रे आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता, दण्डनीति इति चतस्रः विद्याः उपलभ्यन्ते। तासु वार्ता नाम विद्ययां कृषिः, पाशुपाल्यं, वाणिज्यं चेति त्रिस्रः द्योतते।

आन्वीक्षकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः।

वार्ता विद्ययोः कृषिसम्बद्ध लाभालाभौ

प्रयोजनानि च उद्बुद्धितानि अर्थानर्थौ वार्तायाम्।।<sup>४</sup>

तथैव वार्ता विद्यायाः अधिकारी वैश्यः वणिक् प्रवृत्तिरित्युच्यते। क्षेत्रे धान्यफलाद्युत्पादनकर्ता कर्षकः कृषीवलः शूद्रः एव इति प्रतिपाद्यते। अतः चामरोक्तिः यथा - स्त्रियः कृषिः पाशुपाल्यं वाणिज्यं चेति वृत्तयः।<sup>५</sup>

वैदिकयुगे कृषिकर्मणोऽपि विषये कृषिकार्यं परामुन्नतिं विराजतेति जानीमः। तत्कालीनाः कृषीवलाः क्षेत्रेषु भूमिं विभज्य कृषिकर्म कुर्वन्तिस्म। ऋग्वेदे एकत्रेदमपि कथितं यदश्विनौ देवौ, प्रथमं मनुं यवादि धान्यवपनविधानं, समाजे दारिर्घानिवृत्तये अशिक्षेताम। सुखजीवनाय कृषिरेव उत्तमकार्यमिति मत्वा कृषिकार्यं कुर्वन्ति। वैदिकवाङ्मये कृषिकर्मणः आरम्भे कर्षकाः प्रथमं क्षेत्रपतिपूजां कुर्वन्तिस्म। ऋग्वेदकालीनं यत्कृषिकर्म, तत्सुविशदं वर्णनं, वामदेवेण ऋषिणा कृषिनामकक्षेत्रपतिसूक्ते एवं प्रतिपादितः। एवमन्यत्रापि

\* असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, गौतमबुद्ध राजकीय महाविद्यालय, अयोध्या (उ.प्र.)

ऋग्वेदे साधुकृतम्।

क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव जयामसि।  
 गामश्वं पोषयित्वा स नो मृडातीदृशे।।  
 क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मि धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्ष्व।  
 मधुस्चुतं दृतमिव सुपूतमृतस्य नः तपयो मृडयन्तु।।<sup>६</sup>  
 मधुमतीरोषधीर्द्याव आपो मुधमन्नो भवत्वन्तरिक्षम् ।  
 क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान् नो अस्त्वरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम।।  
 शुनासीराविमां वाचं जुषेथां यत् दिवि चक्रथुः पयः।  
 तेनेमामुप सिंचतम्।।  
 अर्वाची सुभगे भव सीते वन्दामहे त्वा।  
 यथा नः सुभगाससि यथानः सुफलाससि।।  
 इन्द्रः सीतां निगृह्णातु तां पूषाऽनु यच्छतु।  
 सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्।।  
 क्षेत्रमिव वि ममुस्तेजनेनं एकं पात्रमृभवो जेहमानम्।  
 उपस्तुता उपमं नाधमानां अमर्त्येषु श्रव इच्छमानः।।<sup>७</sup>  
 शुनं नः फाला वि कृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभियन्तु वाहैः।  
 शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः शुनासीरा शुनमस्मासु धत्तम्।।<sup>८</sup>  
 सीरा युंजन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक्। धीरा देवेषु सुम्नया।।<sup>९</sup>  
 शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लांगलम्।  
 शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिंगय।।<sup>१०</sup>

शुनः हलमुखं तन्महिमा चाऽत्र वर्णिता। एवं अन्नोत्पादिकायाः कृषेः मूलभूतानां बीजानां सम्पादनं कर्षकाणां प्रथमं कर्तव्यं भवति। कृषिकर्मणः दिव्यत्वं तस्य लोकप्रियतायाः कारणं च ऋग्वेदे बहुधा वर्णितम्।

अन्नमहत्त्वम् - 'प्रपञ्चं अन्नमयम्' तदन्नात् समस्तप्राणिकोटयः जीवन्ति। तेषां जैविकपरम्परा अन्नसाधनेन भवति। श्रीमद्भगवद्गीतायां गीताचार्यः अन्नप्राधान्यं जीवोत्पत्तिविकासं च एवमवोचत्।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्यन्यादन्नसम्भवः।

यज्ञाद्भवन्ति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।। इति।

सदालोचनतत्पराणां मानवानां समूहे समाजे परस्परं श्रेयः सम्पत्स्यते वेदोक्तदिशा अशनरसादेव सत्त्वरजस्तमो गुणाः उपदद्यतेऽति ज्ञायते। 'अन्नमयं हि सौम्यमनः' इति वेदोक्तिरस्ति।

अन्नमहत्त्वविषये तैत्तिरीयोपनिषत् भृगुवल्यां एवमकथयत्। अन्नादेव समस्त जीवकोटिनो विकासो जायन्तेति। यथा 'अन्नं ब्रह्मेतिव्यजानात्। अन्नाध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि

जीवन्ति। अन्नं प्रयंत्यभिसंविशन्तीति तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तर्गुम् होवा च। तमसा ब्रह्मविजिज्ञासस्व तपो ब्रह्मेति। स तपस्तप्त्वा।।<sup>११</sup> इति द्वितीयोनुवाकः।।

पराशरमुनिना कृषिप्रशंसायां अन्नप्राधान्यमेवमवोचि। सर्वभूतानां अन्नमेव प्राणं, बलं सर्वार्थसाधकमिति ज्ञात्वा तस्योपरि जीवन्तीति जानीमः। तथैव कृषिं विना धान्यमसंभवम्। ‘धान्यात् अन्नं अन्नात् पूरुषः’ इति विचिन्त्या निरूपयोग्यानि सर्वकार्याणि परित्यक्त्वा कृषिं प्रयत्नपूर्वकं कारयेत् इत्युक्तवन्तः।

अन्नं प्राणा बलं चान्नमन्नं सर्वार्थसाधनम्।  
देवासुरमनुष्याश्च सर्वे चान्नोपजीविनः।।  
अन्नं हि धान्यसंजातं धान्यं कृष्या विना न च।  
तस्मात्सर्वं परित्यज्य कृषिं यत्नेन कारयेत्।।<sup>१२</sup>

नवरत्नसहिताष्टैश्वर्यसंपन्नो भूषितोऽपि, सुवर्णरूप्यकानि सन्ति चेत् धनवन्तो धनहीनोपि अन्नमेव खादन्ति इति। तथैव शरीरे सर्वावयवाङ्गारभूषितोऽपि अन्नाभावेन कथं शरीरशोभां देहशौष्ठवञ्च लभति इत्युचुः।

सुवर्णरौप्यमाणिक्यवसनैरपि पूरिताः।  
तथापि प्रार्थयन्त्येव कृषकान् भक्ततृष्णया।।  
कण्ठे कर्णे च हस्ते च सुवर्णं विद्यते यदि।  
उपवासस्तथापि स्यादन्नाभावेन देहिनाम्।।<sup>१३</sup>

### वृष्टिज्ञानम्

वैदिकयुगे जलसेचनमाह -

ऋग्वेदकाले याः नद्यः ताः सर्वा कृष्युपयोगिन्यः प्रसिद्धाः एव। जलसेचनं कृषिकर्मसु सर्वेषां मूलभूतं भवति। मेघः कृषिफलमिति वेदपुराणेषु वर्णितः। समये सिक्ता भूमिः फलप्रदा भवतीति ऋग्वेदे चतुर्विधाः आपः वर्णितः।

(१) दिव्याः आपः - दिविभावाः दिव्याः, वर्षादुत्पन्नाः इत्यर्थः।

(२) खनित्रिमा आपः - खननेन प्राप्ताः। खननं च कूपादेः कूपतटाकादि समुत्पन्नं जलं खनित्रिमा एव।

(३) स्वयंजा आपः- गिरिनदीप्रभृतिषु स्वयं जाताः।

(४) समुद्रार्थाः आपः - समुद्रे याः मिलन्ति ताः इत्यर्थः। तासामुत्पत्तिः कृष्युपयोगित्वं च ऋग्वेदे वर्णितम्। पश्यतेमामृचाम् .....

या आपो दिव्य उत वा स्रवन्ति खनित्रिमा उत वा याः स्वयंजाः।

समुद्रार्था याः शुचयः पावकास्ता आपो देवीरिह ममवन्तु।।

(ऋग्वेदः, ७.४९ .२)

प्रथमं क्षेत्रेषु कूप, तडागादीनामुदकं कुल्यद्वारेण प्रवाह्य कृषीवलाः क्षेत्राणि प्रसिंच्य सस्योत्पादनं

कुर्वन्तिस्म। वर्षाधारेणाऽपि, तस्य जलोत्पादनं यदृष्ट्यम्बुसेचनमिति व्यवहृतं कुर्वन्तिस्म। वेदेषु एकत्रिंशत् नदीनामुल्लेखनं दृश्यते। ऋग्वेदे पञ्चविंशतिनद्यः उदाहृताः नदीनां नामानि ऋग्वेदस्थानि प्राक् निरूपितानि।

**यजुर्वेदे कृषिसेचनव्यवस्था**

यजुर्वेदे कृषेः सार्धं वृष्टेः उल्लेखः दृश्यते। चमके 'कृषिश्च मे वृष्टिश्च मे' (यजुर्वेद, १८.९) इति वृष्टेः प्रयोगः दृश्यते।

'अत्राद्भवन्ति भूतानि' इति सूत्रमनुसृत्यैव अन्नसाधनहेतुः कृषिकार्यं सर्वं जलाधारितं तदर्थं ये ये ऋतूनां मासानां वृष्टिः कथमिति?

अतिवृष्टिरनावृष्ट्यादि वृष्टिज्ञानं निश्चयेन कर्षकाः जानीमः इति।

**वृष्टिमूला कृषिः सर्वा वृष्टिमूलं च जीवनम्।**

**तस्मादादौ प्रयत्नेन वृष्टिज्ञानं समाचरेत्।।<sup>१४</sup>**

**बीजसंग्रहं वपनरोपनञ्च**

ऋग्वेदे बीजावपादारभ्य, सस्यस्य लवनं, बन्धनं, सस्ययुक्थानां धान्यनालानां क्षेत्रखले प्रतिहननं, शूर्पेण पवनं, धान्यणिस्तृणीकरणादीनि कर्मण्युदाहरणशैल्यां साधु प्रस्तुतानि, येन तात्कालीनस्य कृषिकर्मणः आभासो भवति। प्रपञ्चे धनाभिलाशद्भिः नरैः कृषिरेव करणीया इति। हलस्य फालो भूमिं कर्षणेन प्रानिभ्योऽशनं ददाति। अतः पशुप्रजान् अलाभाय कृषिः कर्तव्या सा कथं करणीयेत्याह इति श्रुतिः।

**युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम्।**

**गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात्।।<sup>१५</sup>**

हे मनुष्या यूयं बलीवर्दानां स्कन्धेषु युगानि दत्ता। तत्र कृष्युपकरणानि हलानि युक्ता।

तेन हलेन भूमिं कर्षत। कृष्टे कार्ये सुसंस्कृते क्षेत्रे बीजानि वपत। तेन सस्यं लवनं बन्धनं कर्तुं भूमिं कर्षणं कुरुत। जलेन सिंचयित्वा क्षेत्रेण सुफलमन्नमुत्पादयन्तु इति ऊचुः। वैदिककाले यानि सस्यानि कृषीवलाः निष्पादयन्तः आसंस्तेषामाभासोऽधोदत्तेन मन्त्रवर्णने अवगतो भवति - 'त्रीह्यश्च मे, यवाश्च मे, माषाश्च मे, प्रियंगवश्च मेऽणवश्च मे, श्यामाकाश्च मे, नीवाराश्च मे, गोधूमाश्च मे, यज्ञेन कल्पन्ताम्।।<sup>१६</sup>

कृषेः मूलकारणं बीजमेव भवति, बीजादेव सस्योत्पत्तिः जायते। कथमिति जिज्ञासायां कृषिपराशरः एव सर्वतोऽन्नप्राणभूतः। यथा -

**माघे वा फाल्गुने मासि सर्वबीजानि संहरेत्।**

**शोषयेदातपे सम्यक् नैवाधो विनिधापयेत्।।**

**बीजस्य पुटिकां कृत्वा विधान्यं तत्र शोधयेत्।**

**बीजं विधान्यं संमिश्रं फलहानिकरं वरम्।।**

**एकरूपं तु यद्वीजं फलं फलति निर्भरम्।**

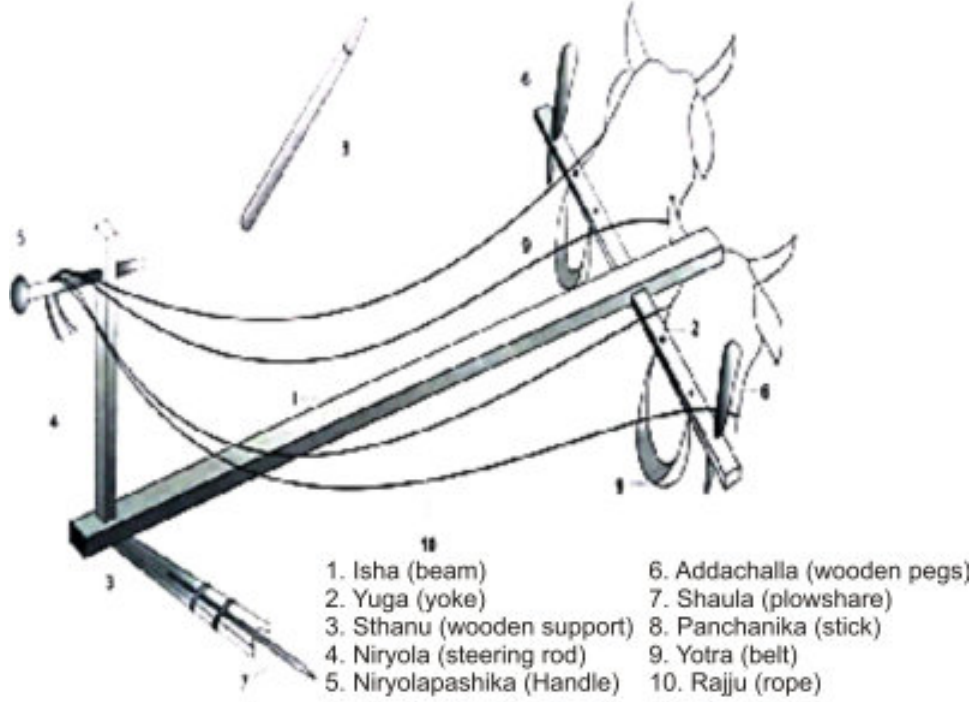
**एकरूपं प्रयत्नेन तस्माद्वीजं समाचरेत्।।<sup>१७</sup>**

अतः सर्वेभ्यो बीजनेवाधारभूतं तत्त्वम्। सफकृषेः सम्पादनायैव ते प्राचीनाः कृषिकर्माणः बभूवुः।

यद्धान्यं कृषिमूलभूतं ऋषिपरम्परायां सस्यादि वृद्धयर्थं बीजवपनसमयोऽपि विनिर्दिष्टो विद्यते।

वैशाखे वपनं श्रेष्ठं ज्येष्ठे तु मध्यमं स्मृतम्।  
आषाढे चाधमं प्रोक्तं श्रावणे चाधमाधमम्।।  
रोपनार्थं तु बीजानां शुचौ वपनमुत्तमम्।  
श्रावणे चाधमं प्रोक्तं भाद्रे चैवाधमाधमम्।।  
हेमन्ते कृष्यते हेम वसन्ते ताम्ररूप्यकम्।  
धान्यं निदाघकाले तु दारिद्र्यं तु घनागमे।।

कृषिपराशरग्रन्थे दर्शित हलसामग्रीप्रमाणचित्रम्



A wooden plow (verses 112-115). The angle of parts 3 and 7 is changed to make the parts clearly visible.

ईषायुगहलस्थाणुनिर्योलस्तस्य पाशिका।  
अडुचल्लश्च शौलश्च पच्चनी च हलाष्टकम्।।  
पञ्चाहस्ता भवेदीषा स्थाणुः पञ्चवितस्तिकः।  
सार्धहस्तस्तु विर्योलो युगं कर्णसमानकम्।।  
निर्योलः पाशिका अडुचल्लस्तथैव च।

द्वादशाङ्गुलमानौ तु शौलोऽरत्निप्रमाणकः॥  
 सार्द्धद्वादशमुष्टिर्वा कार्या वा नवमुष्टिका।  
 दृढा पञ्चानिका ज्ञेया लौहाग्रा वंशसम्भवा॥  
 आबद्धो मंडलाकारश्च तुः पञ्चाशदंगुलः।  
 योत्रं हस्तचतुष्कं स्यात् रज्जुः पञ्चकरात्मिका॥  
 पञ्च अंगुल्यधिको हस्तो हस्तो वा फालकः स्मृतः।  
 अर्कस्य पत्रसदृशी फालिका तु नवान्गुला॥  
 इयं हि हलसामग्री पराशरमुनेर्मता।  
 सुदृढा कृषकैः कार्या शुभदा सर्वकर्मसु॥  
 एकविंशतिशल्यस्तु विद्धिकः परिकीर्तितः।  
 नवहस्ता तु मदिका प्रशस्ता सर्वकर्मसु॥  
 अदृढायुक्तमाना या सामग्री वाहनस्य च।  
 विघ्नं पदे पदे कुर्यात्कर्षकाले न संशयः॥<sup>१८</sup>

#### उपसंहारः

कृषेरक्षणार्थं बहून् नियमान् बहुनि च साधनानि कृषिपराशराख्ये ग्रन्थे द्रष्टुं शक्नुमो वयम्। तदनुसरन् सर्वोऽपि कृषीवलः योगक्षेमवान् भवति, अनेन च सर्वं सुखं लप्स्यतेति ऋषेराशयः। संस्कृतवाङ्मये बीजसंरक्षणस्य महत्तरं स्थानं विद्यते। अनेन विधिना अनेन चोपयेन कृषिकार्यं समृद्धात् समृद्धतरं भविष्यति शोधसारांशगौरवमयात्। गम्भीरस्यान्वेषणशीलस्य शोधविषयस्य सम्यक् समीक्षणमुपास्यमानञ्च विस्तृते शोधपत्रे भविष्यतीति मे मतिः।

कृषिकार्यं अत्युत्तमम्। कृषिविलेखनकार्यमतिपवित्रं अष्टैश्वर्यसहितम्, सर्वप्राणिकोटिनां जीवनं कृषिः इति मत्वा खननात् हिंसादिदोषयुक्तोऽपि अतिथिनां उपकारार्थं कृषीवलानां रक्षन्ति अतिथिसत्कारं साक्षात् जगत्सम्मानमेव भविष्यति। तथैव समस्तदेवगणसत्कारकर्ता पुरुषोत्तमः अपि भविष्यति। यथा -

कृषिर्धन्या कृषिर्मेध्या जन्तूनां जीवनं कृषिः।  
 हिंसादिदोषयुक्तोऽपि मुच्यतेऽतिथिपूजनात्॥  
 तेनार्चितं जगत्सर्वमतिथिर्येन पूजितः।  
 अर्चितास्तेन देवाश्च स एव पुरुषोत्तमः॥<sup>१९</sup>  
 समपुष्पत्वमासाद्य शीघ्रं फलन्तु निर्भरम्।  
 सुस्था भवन्तु कृषकाः धनधान्यसमन्विताः॥<sup>२०</sup>

वैदिकसंस्कृतवाङ्मये कृषिकर्मोपयोगसमस्तविषयानि, कृषिमहत्त्वं, अन्नमहत्त्वं, ज्योतिषशास्त्ररीत्य कृषिसंबद्धवृष्टिविज्ञानं बीजस्थापनं, वपनविधिं, धान्यकट्टनं, जलमोचनं सेचनं, कृष्युपकरणसाधनानि, सस्यरक्षणमन्त्रबलवृद्धिं च सस्यं लवनं बन्धनं इत्यादीनि विषयानि ज्ञात्वा अनुकृत्य आधुनिककाले

धान्याभिवृद्धिं साधयिष्यन्ति।

क्षयकर अनारोग्यसहितक्रिमिकीटकनाशरसायनिकचर्यान् परित्यक्त्वा प्रकृतिसिद्धगोमय निम्बदोहदक्रियान् अनुकृत्य सस्यवृद्धिं प्राप्य जीववैविद्यविज्ञानमनुसृत्य वातावरणकालुष्यनिर्मूलनाय सर्वे प्रयत्नं कुर्वन्तीति प्राचीनवैज्ञानिक-ऋषिमुनीनां आशयः।

**सन्दर्भाः**

१. भगवद्गीता, ३.१४
  २. कृषिपराशरः, १
  ३. ऋग्वेदः, १०.३४.१३
  ४. कौटिलीयार्थशास्त्रम्, १.२.१
  ५. अमरकोशः, २.१.२
  ६. ऋग्वेदः, १०.१०१.३
  ७. ऋग्वेदः, १.११०.५
  ८. ऋग्वेदः, ४.५७.८
  ९. ऋग्वेदः, १०.१०.४
  १०. ऋग्वेदः, ४.५७.४
  ११. तैत्तिरीयोपनिषद् (भृगु.), २-७
  १२. कृषिपराशरः, ६-७
  १३. कृषिपराशरः ४-५
  १४. कृषिपराशरः, १०
  १५. ऋग्वेदः, १०.१०१.३
  १६. कृष्ण-यजुर्वेदः (तैत्तिरीय-संहिता)।
  १७. कृषिपराशरः, १५७-१५९
  १८. कृषिपराशरः, ११२-१२०
  १९. कृषिपराशरः, ८-९
  २०. कृषिपराशरः, २०३
-

## संस्कृतसाहित्ये दक्षताविकासप्रशिक्षणोपयोगित्वम्

डॉ. रीता पाल\*

### भूमिका

इह जगति मनुष्य सुखमिच्छति न हि दुःखं कदाचन। अपि तु असौ जन्मत एव आदिव्याधिपरिव्याप्तो भवति। अतश्चरकसंहितायामुक्तम् -

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्॥

रोगातस्यापहरत्तारः श्रेयसो जीवितस्य च॥

(चरकसंहिता, सूत्रस्थानम्, १.१५-१६)

एतेनास्यमानवस्य त्रिवर्गेण अभिवर्धनं दुष्करम्। का कथा परमार्तस्य प्राप्तौ। नीरोगस्वस्थशरीरसम्पन्नो मनुष्य एव सुखभोगे भवति समर्थः। अतः शारीरमानसाभ्यां रोगाभ्यां अनभिभूतस्यैव सम्भवति सुखसम्पत्तिः। अस्मादेवकारणात् शक्तो भवति विद्योपार्जने। विद्यात एव जीविकाद्वारेण सम्भवति वित्तोपार्जनम्। तेन च शरीरमानसचिकित्साऽपि सम्भवति। अतश्च सुखौषिणाम् आत्महिताय प्राणयात्रार्थं रोगोपशमनार्थं चिकित्साविज्ञानं आश्रयेत्। सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव चेति। पूर्वोक्तं चरकसूत्रवचनं यथार्थतैव तथ्यमावहति। एवमारोग्यं शिक्षा च मनुष्यमात्रस्य जीवनयात्रायां नितरामुपयुज्येते। विद्याशिक्षातः राष्ट्रे समाजे च सम्पन्नः स्वावलम्बी च भवति जनः। विद्यात एव यथा विनयी प्रज्ञवान् भवति तथैव जीविकार्जनेऽपि भवति समर्थः। विद्यायाः सम्प्रसारणस्वभावप्रवाभादेव शिल्पविज्ञानशिक्षा प्रभवति। एषैव कला शब्देनापि अभिधीयते। इयं हि कला कारुकला चारुकला च द्विविधा। समग्रतः कला चतुःषष्टिविधाः। एतासां विवरणं शुक्रनीतिसारग्रन्थे विवृतमस्ति। एवं विद्यानामपि वेदपुराणादिप्रसिद्धानां द्वात्रिंशत्संख्यकानां सलक्षणं विवरणं तत्रैव ग्रन्थे वैशद्येन व्याख्यातं वर्तते। मनुष्यजीवननिर्वाहार्थं धनार्जनं कृषिखनिजवाणिज्य-विपणनाद्युपायेन सम्भवति इति प्राचीनशास्त्रेषु प्रसिद्धम्। तथा च आदिजीविकार्जनं शिल्पद्वारेण वृत्तिद्वारेण च भवितुमर्हति। परन्तु विद्यासु शिल्पेषु च विज्ञानाभ्यासेन वलेन नैपुण्यमर्जितं भवति। इदमेव कर्मकौशलं दक्षतारूपेण यस्यां कस्यामपि वृत्तौ सुतरामुपयोगि। इदमेव कौशलविज्ञानं सर्वत्र गुणप्रकर्षरूपेण स्वीक्रियते स्वावलम्बी कर्मक्षेत्रे अन्यत्र वृत्तिभोगि कर्मजीविरूपेणापि। कुशलार्थं दक्षशब्दस्य प्रयोगः तैत्तिरीयब्राह्मणेऽपि समुल्लिखितो दृश्यते (तैत्तिरीय ब्राह्मण, २.४.३, २.४.६)। शिल्पशब्दोऽपि तत्र कर्मकौशलार्थं वारद्वयं प्रयुक्त उपलभ्यते (तैत्तिरीय ब्राह्मण २.७.१५)। अतः विद्याभ्यासजातं नैपुण्यं शिल्पकलाभ्यासजातं कौशलविज्ञानं वा जीविकार्जने धनोत्पत्तौ च सांस्कृतिक-समाजजीवनयोः चापि प्राचीनकालतो व्यवहारोपयोगि तथा प्रचलितमासीदिति प्रथितमेव। एतेन शिल्पसौभातिशयवर्धनं शिल्पद्रव्याणां आशूत्पादनं सुचिरस्थायित्वञ्च सम्भवति प्रशिक्षणसाध्यकौशलाभ्यासेनेपि प्रयोतः फलतश्च विस्पष्टं प्रतीयते।

\* अतिथि अध्यापिका-संस्कृतः, रामकृष्णमहाविद्यालयः, कैलाशहरः, ऊनकोटिः, त्रिपुरा

अतोऽत्रास्माकं दक्षताविषयस्य आलोचने उद्योगः सर्वत्रैव 'उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीरिति न्यायात्।

अधुना प्रकृतमनुसरामः

दक्षता नैपुण्यं कौशलमिति समानार्थकानि पदानि। दक्षतापदेन प्रत्युत्पन्नेषु कार्येषु सद्यो यथावत् प्रतिपत्तुं समाधातुम् अनुष्ठातुञ्च समार्थं प्रतीयते। क्षिप्रकारित्वमपि पदस्यास्य तात्पर्यम्। दक्षतापदम् एतदर्थं श्रीमद्भगवद्गीतायाः द्वादशे अष्टादशे च अध्याये प्रयुक्तं दृश्यते यथा -

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।

सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥<sup>१</sup>

दक्षः = उपस्थितेषु ज्ञातव्येषु च सद्य एव ज्ञातुं कर्तुं च समर्थः।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।

दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥<sup>२</sup>

दाक्ष्यम् = दक्षभावः = सहसा प्रत्युत्पन्नेषु कार्येषु अव्यामहेन प्रवृत्तिः।

कामन्दकीयनीतिसारे च पञ्चमसर्गे, अष्टमप्रकरणे पञ्चादशश्लोके दृश्यते यथा -

दक्षता भद्रता दाढ्यं क्षान्तिः क्लेशसहिष्णुता।

सन्तोषः शीलमुत्साहो मण्डयत्यनुजीविनम्॥<sup>३</sup>

दक्षता = कौशलम्। आशुकारित्वम्।

सुचिता त्यागिता शौर्यं समाससुखदुःखता।

अनुरागश्च दाक्ष्यं च सत्यता च सुहृद्गुणाः॥<sup>४</sup>

दाक्ष = कार्यसम्पादने प्रत्युत्पन्नमतित्वं क्षिप्रकारित्वं वा।

कृतशिल्पश्च दक्षश्च प्रज्ञावान् धारणान्वितः।

दृढभक्तिरकर्ता च वैराणां सचिवो भवेत्॥<sup>५</sup>

दक्षः = शीर्षकारी।

दाक्ष्यं शैघ्रं तथामर्षः शौर्यं चोत्साहलक्षणम्।

गुणैरैतैरुपेतः सन् राजा भवितुमर्हति॥<sup>६</sup>

दाक्ष्यम् = कौशलं क्षिप्रकारित्वं वा।

शास्त्रं प्रज्ञा धृतिर्दाक्ष्यं प्रागवल्भ्यं धारयिष्णुता।

उत्साहो वाग्मिन् दाढ्यमापत्क्लेशसहिष्णुता॥<sup>७</sup>

दाक्षम् = कौशलम्।

कौटिलीयार्थशास्त्रम् -

'शौर्यममर्षः शीघ्रता दाक्ष्यं चोत्साहगुणाः।'<sup>८</sup>

दाक्ष्यम् = कौशलम्, शीघ्रकारित्वम् वा।

श्रीहर्षप्रणीतरत्नावलीनाटिकायां दक्षशब्दस्य प्रयोगः प्रथमाङ्के दृश्यते -

‘नाट्ये च दक्षा वयम्।’ (प्रस्तावना, श्लोकः - ५)

दक्षाः = कुशलाः।

कालिदासप्रणीतं कुमारसम्भवस्य प्रथमसर्गस्य द्वितीयश्लोके दृश्यते -

‘मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे।’

दोहदक्षे = दोहननिपुणे / दोहनसमर्थे।

कालिदासप्रणीतं रघुवंशमहाकाव्यस्य द्वादशसर्गे एकादशश्लोके दृश्यते -

‘रन्धान्वेषणदक्षाणां द्विषामामिषतां ययौ।’

दक्षाणाम् = निपुणानाम्।

मनुसंहितायां सप्तमाध्याये -

‘तावतोऽतन्द्रितान् दक्षान् प्रकुर्वीत विचक्षणान्।’<sup>१९</sup>

दक्षान् = चतुरान्।

मनुसंहितायां सप्तमाध्याये अपरश्लोकाः -

‘तेषामर्थे नियुञ्जीत शूरान् दक्षान् कुलोद्गतान्।’<sup>२०</sup>

दक्षान् = कर्मकुशलान्।

‘इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम्।’<sup>२१</sup>

दक्षम् = चतुरम्, अर्थात् कार्यकुशलम्।

‘अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान् देशकालवित्।’<sup>२२</sup>

दक्षः = चतुरः/ निपुणः/ कुशलः तेन कार्यकालं नातिक्रामति अर्थात् क्षिप्रकारीति।

अत्र भिन्नेषु संस्कृतशास्त्रेषु काव्यनाटकनीतिशास्त्रादिषु प्रयुक्तस्य दक्षशब्दस्य आशयः प्रदर्शितः।

दक्षशब्दस्य यथार्थतः तात्पर्यनिरूपणात् अनन्तरं तदाशयावधारकस्य दक्षशब्दस्य विद्यासु तथा कलासु च यथा तात्पर्यम् आवहति तथा विशेषतः कौटिल्याचार्यस्य अर्थशास्त्रम्, कामन्दकस्य नीतिसारं, शुक्राचार्यस्य नीतिसारं, एवमेव मनुसंहितां याज्ञवल्क्यसंहितां च आश्रित्य एक विमर्शः प्रस्तूयते।

दक्षतानिष्ठः गुणप्रकर्षो मानवजीवनयात्रायां नितरामुपयोगी। इयं हि दक्षता मानवस्य चतुर्वर्गसाधिका। मनुष्याणां व्यवहारिकपारमार्थिकजीवने दक्षतायाः प्रभावः सातिशयं बलवान्। विद्याकलादीनां अभ्यासेन यथा मानवचरित्रस्य चारित्र्यवलाधानेन सामाजिकजीवने अध्यात्मजीवने च व्यक्तित्वविकासः प्रजायते तथैव जीवनरक्षणोपायनिर्धारणे धनाद्यर्जने सुतरामुपयुज्यते। अतः वैदिकयुगे आदौ तदुत्तरकाले च विद्यासंख्या तथा कलासंख्या निरन्तरं परिवर्तमाना आसीत्। नीतिशास्त्रेषु विशेषतः राज्ञां शिक्षणीयत्वेन संक्षेपतः चतस्र एव विद्याः समुल्लिखिता दृश्यन्ते। कौटिल्यादिप्रणीतेषु नीतिशास्त्रेषु आन्वीक्षिकी-त्रयी-वार्ता-दण्डनीतिश्चेति चतस्रः विद्या उल्लिखिता। विद्याचतुष्टयेऽस्मिन् बहुविचित्राणां विशेषाणां संग्रह विद्यते बहुविस्तारादीनां विद्याचतुष्टयम्। अन्यत्र संहितादिषु पुराणादिषु च विद्यासंख्या विभिद्यते। कुत्रापि विद्या चतुर्दश, क्वचिच्चत् च षोडश कदाचिद् च अष्टादश इति वेदितव्याः।

याज्ञवल्क्यस्मृतौ आचाराध्याये एवमुक्तं विद्यासंख्याविषये -

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गभिश्चिताः।

वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।।<sup>१३</sup>

रघुवंशमहाकाव्यस्य सञ्जीवनीटीकायाम् उद्धृतोऽयं श्लोकः - “अत्र मनुः

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।

पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश।।”

कालिदासप्रणीतं रघुवंशमहाकाव्यस्य पञ्चमे सर्गे विंशत्येकविंशतिसंख्यकश्लोकद्वये चतुर्दशसंख्यकविद्यानां समुल्लेखः प्राप्यते। यथा -

समाप्तविद्येन मया महर्षिर्विज्ञापितोऽभूद् गुरुदक्षिणै।

स मे चिरायास्त्रिखलितोपचारां तां भक्तिमेवागणयत्पुरस्तात्।।<sup>१४</sup>

निर्बन्धसञ्जातरुषार्थकार्श्यमचिन्तयिन्वा गुरुणाहमुक्तः।

वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति।।<sup>१५</sup>

ब्रह्मपुराणे षोडशसंख्यकविद्यानामुल्लेखो भवति यथा -

‘वेदान्तः पञ्चदशमं विद्या षोडशकं भवेदिति। तथा च विष्णुपुराणे - अष्टादशसंख्यकविद्यानां समुल्लेखो वर्तते। यथा -

अङ्गानि चतरो वेदा मीमांसा न्यायविस्तरः।

पुराणं धर्मशास्त्रं विद्या ह्येताश्चतुर्दशः।

आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चैव ते त्रयः।

अर्थशास्त्रं चतुर्थञ्च विद्या ह्यष्टादशैव ता।।<sup>१६</sup>

शुक्रनीतिसारग्रन्थे चतुर्थाध्यायस्य तृतीयप्रकरणे चतुर्विंशतितमे श्लोके विद्याः द्वात्रिंशत् इति उक्ताः। कलाः अपि चतुःषष्टिसंख्यकः परिगणिताः। यथोक्तम् -

विद्या द्यनन्ताश्च कलाः सख्यातुं नैव शक्यते।

विद्या मुख्याश्च द्वात्रिंशच्चतुःषष्टिः कलाः स्मृताः।।<sup>१७</sup>

यद् यत् स्याद् वाचिकं सम्यक् कर्म विद्याभिसंज्ञकम्।

शक्तो मूकोऽपि यत् कर्तुं कलासंज्ञन्तु तत् स्मृतम्।।<sup>१८</sup>

द्वात्रिंशसंख्यकविद्या यथा -

१. ऋग्वेदः २. यजुर्वेदः ३. सामवेदः ४. अथर्ववेदः। (इति वेदचतुष्टयम्)। ५. शिक्षा ६. कल्पः ७. व्याकरणम् ८. निरुक्तम्। ९. छन्दः १०. ज्यतिषम्। (इति वेदाङ्गानि)। ११. मीमांसा १२. तर्कशास्त्रम् १३. सांख्यदर्शनम् १४. वेदान्तदर्शनम्। १५. योगदर्शनम् १६. इतिहासाः १७. पुराणानि १८. स्मृतयः। १९. नास्तिकमतम् (लोकायत दर्शनम्)। २०. अर्थशास्त्रम् २१. कामशास्त्रम् २२. शिल्पशास्त्रम् २३. अलङ्कारशास्त्रम्। २४. काव्यशास्त्रम् २५. देशभाषा २६. अवसरोक्तिः २७. यावनम् मतम्। २८.

देशादिधर्माः २९. आयुर्वेदः ३०. धनुर्वेदः ३१. गान्धर्ववेदः । ३२. तन्त्रशास्त्रम्।

द्वाविंशविद्यालक्षणानि शुक्रनीतिसारे विद्यन्ते। ४.३.३३-६४ तम श्लोकपर्यन्तम्।

चतुःषष्टिसंख्यककलानामानि यथा -

- |  |  |
|--|--|
| १. नृत्यकला                            | २. वाद्यकला                            |
| ३. वस्त्रकला                           | ४. अलङ्कारकला                          |
| ५. विचित्ररूपाभिव्यक्तिकला             | ६. शय्याविन्यासकला                     |
| ७. पुष्पादिग्रथनकला                    | ८. रञ्जनकला                            |
| ९. रतिकला                              | १०. गान्धर्वकला                        |
| ११. मद्यनिर्माणकला                     | १२. शिरात्रणछेदनकला                    |
| १३. पाककला                             | १४. वृक्षादिरोपणपालनादिकला             |
| १५. प्रस्तरधातुप्रभृतिभस्मीकरणकला      | १६. इक्षुविकारकृतिकला                  |
| १७. धात्वौषधिसंयोगक्रियाज्ञानरूपकला    | १८. धातुसांकर्यपार्थक्यकरणक्रियारूपकला |
| १९. धातुमिश्रिकरणविज्ञानकला            | २०. क्षारनिष्काशनक्रियारूपकला          |
| २१. शस्त्रसन्धानविक्षेपकला             | २२. मल्लयुद्धकला                       |
| २३. बाहुयुद्धकला                       | २४. युद्धकला                           |
| २५. व्यूहरचनाकला                       | २६. गजाश्वादिद्वारेणयुद्धसंयोजनकला     |
| २७. देवतातोषणकला                       | २८. गतिशिक्षाकला                       |
| २९. मृत्कला                            | ३०. काष्ठकला                           |
| ३१. पाषाणकला                           | ३२. चित्रकला                           |
| ३३. धातुकला                            | ३४. तडागजलाशयनिर्माणकला                |
| ३५. प्रासादनिर्माणकला                  | ३६. भूमिसमीकरणकला                      |
| ३७. जल-वायु-अग्नि-संयोगनिरोधकला        | ३८. नौकादियाननिर्माणकला                |
| ३९. सूत्रादिरज्जुकरणकला                | ४०. वस्त्रवयनकला                       |
| ४१. रत्नादिछिद्रादिसाधनक्रियाकला       | ४२. स्वर्णादियाथार्थ्यविद्याकला        |
| ४३. कृत्रिमस्वर्णरत्नादिनिर्माणकौशलकला | ४४. अलङ्कारनिर्माणकला                  |
| ४५. चर्मकला                            | ४६. सीवनकला                            |
| ४७. सन्तरणकला                          | ४८. मार्जनकौशलकला                      |
| ४९. स्नेहपदार्थनिर्माणकौशलज्ञानकला     | ५०. लाङ्गलकर्षणकौशलज्ञानरूपकला         |
| ५१. वृक्षाद्यारोहणकला                  | ५२. सेवाकला                            |
| ५३. परिचर्याकौशलज्ञानकला               | ५४. वंशतृणादिपात्रनिर्माणकला           |

- |                                      |  |
|--------------------------------------|--|
| ५५. काचपात्रादिनिर्माणज्ञानकला       | ५६. सेचनकला                                  |
| ५७. अस्त्रशस्त्रनिर्माणकौशलक्रियाकला | ५८. गजाश्वादिपृष्ठाच्छादननिर्माणकौशलज्ञानकला |
| ५९. शिशुसंरक्षणज्ञानकला              | ६०. शिशुधारणविज्ञानकला ( धात्रीविज्ञान)      |
| ६१. शिशुक्रीडाविज्ञानकला             | ६२. लेखनकौशलविज्ञानकला                       |
| ६३. ताम्बुलरक्षादिविज्ञानकला         | ६४. यन्त्ररूपास्त्रनिपातनकला                 |

एवं चतुःषष्टिसंख्यककलानां कौशलज्ञानं अस्माकं समाजे अधुनापि नितराम् अपरिहार्यम्। अतः एतेषां कलानाम् अर्थात् शिल्पविज्ञानानां नैपुण्यकरणे सग्यक् अवदानं ध्येयम्।

विद्या अनन्ता कला अपि अनन्ता एव। अत्र विद्या वचसा तथा ग्रन्थे लिखितरूपेण निष्पद्यते। अतः सा विद्या वाक्प्रतिपाद्येति। परन्तु यत् शिल्पं कलाशब्देन निगद्यते। तत्तु क्रियाकौशलप्रतिपाद्यम्। अतः कारुशिल्पं चारुशिल्पं च कला द्वैविध्यं प्रसिद्धं वर्तते। एतेषां शिल्पानाम् उपयोगित्वं समाजे संस्कृतिपरिचायकतया तथा धनोत्पादकतया प्रसिद्धम्। संस्कृतिजगति नन्दनजगति तथा धनागमोपायत्वेन धनविद्याविषयतया नितरामेव सर्वेषां दृष्टिं समाकर्षति एतादृशं हि शिल्पकलाचातुर्यम्।

#### उपसंहारः

विद्यासु कौशलं यथा विवर्धते तथैव विद्यानां समुत्कर्षः प्रजायते। विद्या च क्रमेण संख्याधिक्येन विचित्रतया प्रकर्षविवर्धनेन विवर्धते। एवं हि कारुशिल्पे चारुशिल्पे च प्रगतिः दृश्यते। कारुशिल्पानां क्रमविवर्धनेन प्रकर्षविज्ञानेन च क्रियाकौशलं विवर्धमानम् उपलभ्यते। अत्रापि कारुशिल्पानाम् अर्थात् कारुकलानां वैचित्र्याधिक्यात् संख्यातः परिमाणतः प्रकर्षतश्च विवृद्धिः सामाजिकोन्नतेर्मूलं वेदनीयम्। एवमेव चारुकलाकौशलं यथा चित्तविनोदनमूलकं नयनरञ्जकं च तथैव धनोत्पादकमपि ललितकलाप्रदर्शनमाध्यमेन। कलायाम् अस्याम् यथा-यथा दक्षता प्रवर्धते तथा तथैव शिल्पमिदं जनसमाजे राष्ट्रे च समग्रे नान्दनिकं चित्तहारितया धनोत्पत्तिसाधनत्वेन च अवश्यमेव उपयोगि भवेद्। अतः दक्षता विद्यासु शिल्पेषु च सर्वप्रकारेषु सर्वथा समाजस्य राष्ट्रस्य च यथा संस्कृतिविवर्धनी तथा सम्पत्सृष्टिकारिणी धनोत्पादिका च सम्पद्यते। इयं हि दक्षतायाः सुफलम् आस्थेयम्।

#### सन्दर्भाः

- |                              |                                 |
|------------------------------|---------------------------------|
| १. श्रीमद्भगवद्गीता, १२.१६   | २. श्रीमद्भगवद्गीता, १८.४३      |
| ३. कामन्दकीयनीतिसारः, ५.८.१५ | ४. कामन्दकीयनीतिसारः, ३.६.७५    |
| ५. कामन्दकीयनीतिसारः, ४.७.३० | ६. कामन्दकीयनीतिसारः, ४.७.२३    |
| ७. कामन्दकीयनीतिसारः, १.१.२३ | ८. कौटिलीयार्थशास्त्रम्, ६.९.९६ |
| ९. मनुसंहिता, ७.६१           | १०. मनुसंहिता, ७.६२             |
| ११. मनुसंहिता, ७.६३          | १२. मनुसंहिता, ७.६४             |
| १३. याज्ञवल्क्यस्मृतिः, १.३  | १४. रघुवंशम्, ५.२०              |
| १५. रघुवंशम्, ५.२१           | १६. विष्णुपुराणम्, ३.६.२८-२९    |
| १७. शुक्रनीतिसारः, ४.३.२४    | १८. शुक्रनीतिसारः, ४.३.२५       |

## Music, Sound and beyond of these-a discourse based on The Gita

Dr. Sebika Nag\*

The Bhagavad Gita - the holy book of the Hindus - an ancient scripture that assimilates the fundamental truths of life has inspired the world in the past and will continue to instill motivating thoughts in the minds of future generations. The Gita has a universal appeal because it talks about the basic principles of life by focussing on man's deeds (karma), expectations, duties, and above all - the Supreme Truth. And the Supreme Truth is Brahman, which is none but the sound, according to Bhaṭṭhari.<sup>1</sup> In the discourse of *Vākyapadīya*, he accepts several technical terms in this case. The terms are- *śabda*, *sphoṭa*, *dhvani*, and *nāda*. By the term *śabda* or *sphoṭa*, he refers to that inner unity that conveys the meaning. The *dhvanis* are described as all-pervasive and imperceptible particles, which, when amassed by the movement of the articulatory organs, become gross and perceptible sounds and are then called *nāda*. These *nādas* function to suggest the word, *sphoṭa* or *śabda*; because these *nādas*, which are gross and audible, have division and sequences. It is naturally assumed that the suggested word also has parts when it is sequence less and without any change.<sup>2</sup> He offers an illustrative example of reflection in the water. Just as an object reflected in water may seem to have moved because of the water's movement. Thus, the word or *sphoṭa* takes on the properties of uttered speech in which it is manifested.<sup>3</sup>

In the *Bhāṣmaparvan*, from the twenty-fifth chapter, the *Gita* starts its journey. The *Gita* is *śrībhagavatā gītā uccāritā* -that means the message from the divine mouth of Sri Krishna is formed like the music. Now we are concentrating on the commentary '*Praṇavapremapīyūṣa*' of Sri Sitaramdas Omkarnathdev regarding this music because, in his view, the melody or the tune is neither than Brahman. In support of his point of view, he quotes from *Bṛhaddharmapurāṇa*.<sup>4</sup> Here we see, Narada says to Viṣṇu, "My Lord! You are Brahman and the music is also brahman! I wish to see the union of both of you! Please let me realize this through your grace. The

---

\* Assistant Professor, Department of Advaita Vedanta, Traditional Oriental Learning, The Sanskrit College and University, Kolkata, West Bengal.

Lord replied, if the music is tuned in form, then the three *lokas* of the world would be fascinated. The words used in the songs are denoting their meanings; not only just giving the information. So, all the words, letters, when are tuned, then the elixir happens and the realization of *Rasa* is completed. From the fire in *mūlādhāra* of our spiritual anatomy, the *nāda* is generated. And through the navel, this *nāda* gradually is uplifted to the *sahasrāra*. From the navel to the head (*sahasrāra*), there are twenty-two *śrutimanḍalas*. Among them, the first tetra of *śruti* is *ṣaḍaja* (sā), the second trio is *ṛṣabha* (re), next two *śrutis* are *gāndhāra* (gā), next four *śrutis* are *madhyamā* (mā), then four *śrutis* are *pañcama* (pā), next three *śrutis* are *dhaivata* (dhā) and the last two *śrutis* are *niṣada* (ni). Thus, the seven notes are originated.

The twenty-two *śrutis* are Tivrā, Kumudvatī, Mandā, Chandovātī, Dayāvātī, Rajanī, Ratikī, Raudrī, Krodhā, Vajrikā, Prasāriṇī, Prīti, Mārjanī, Kṣiti, Raktā, Sandīpnī, Ālāpinī, Mandantī, Rohiṇī, Ramyā, Ugrā and Kṣobhiṇī. From *ṣaḍaja* to *niṣada*, the seven notes three beatitudes- *ghora*, *mantra*, and *ucca*. Another saying is *ghora* is *udārā*, the *mantra* is *mudārā* and *ucca* is *tārā* in the sense of music. Among these, the fundamental six *rāgas* are Kāmada, Vasanta, Mallār, Vibhāṣa, Gāndhāra, and Dīpaka. And these six *rāgas* have thirty-six *rāgiṇīs* with their attendants. Kāmada has six wives named Māyurī, Toṭikā, Gauḍī, Vārāḍī, Vilolikā and Dhyānaśrī. The lady attendants of this *rāga* are Vāgeśvarī, Sārādī, Śyāmā, Vṛndāvalī, Jayantī and Vajjayantī. And the male attendant is only Paraja. The *rāga* Vasanta has also six *rāgiṇīs*-Kedārī, Kalyāṇī, Sindhurā, Aśvārūḍhā, Sudhārā and Kārṇāṭī. The six lady attendants of them are Śyāmakelī, Devakelī, Mālinī, Kāmkelī, Sambhāvātī and Sambarī. Hillola is the only male attendant of the *rāga* Vasanta. The *rāga* Mallāra has also six wives- Naṭī, Surahaṭṭī, Pāhidī, Cārurūpiṇī, Līlā and Jayajayantī. Cakravākī, Candramukhī, Rasikā, Vilāsikā, Yāminī and Śyāmaghoṭikā are their lady attendants. The *rāga* Vibhāṣa has six wives. They are Rāmakelī, Lalitā, Koḍarā, Kaumudī, Bhairavī and Śarvarī. And Traṃginī, Nāginī, Kiśorī, Hemabhūṣaṇā, Kallolinī and Bhīmanetrā are their lady attendants. Śyāmaghoṭaka is the male attendant of the *rāga* Vibhāṣa. Gandhāra *rāga* has also six better halves- Śrī, Rūpavatī, Gaurī, Dhānasī, Maṃgalā and Gāndharvī. And their lady attendants are Paṭamañjarī, Mañjirā, Padmāvātī, Velāvalī, Bhūpālī and Gandhinī. Gauḍarāja is the male attendant of Gāndhāra. The *rāga* Dīpaka has also six *rāgiṇīs*-Uttarī, Purvikā, Gurjarī, Kālagurjarī, Goṇḍakarī and Mālā. Dīpahastā, Dīpavarṇā, Dīpakarṇā, Pradīpikā, Dīpākṣī and Dīpavaktrā are their lady attendants. Pradīpanābha is only the male attendant of the *rāga* Dīpaka.

All the *rāgas* and *rāgiṇīs* have their images for our meditation. When the singer is playing of a musical tone, then every *rāga* or *rāgiṇī* appear to the singer. All the *rāgas* and *rāgiṇīs* with their attendants are eighty-three in total. And mixing on these *rāgas* and *rāgiṇīs*, various patterns are generated in the world of music. When the note, beat, tempo reach the accurate rhythm of the music, the singer realizes the *parama nāda*, because every name, every word is nothing but *Om̐kāra*. As soon as the singer realizes the actual music, he also realizes that the music is not the singer. That music is not the singer but it is all-pervading to all of the creations. The existence of the music is faithful to the singer. While the singer stops his playing, there is no sign about the music. But this is also deserving that the music is not the singer.

At the very beginning, the *Virāṭ puruṣa* began the first sound or the world's first song-that was Om. And this sound is jingled in seven notes, in seven rhythms, in seven *vyāhṛtis*, in seven *lokas*, in seven wind, seven waves, seven islands, seven mountains, seven elements, and in seven sages. Through this vibration of notes and sounds, the world's fourteen *lokas* were created. And then all the creations started. And according to *Praṇavapremapīyūṣa*, the realization is the singer is *Saccidānandaghana Puruṣottama Om̐kāra* and the music is *Rasamayī Om̐kārārūpiṇī Mahāśakti*. The Singer is not music, but the music is His. And the individual soul is a subtle stroke of this music. In this sequence, *Udārā* is creation, *Mudārā* is stability and *Tārā* is the destruction. And the seven notes of music are originated from the *mūlādhāra* and every *raga* or *rāgiṇī* is worshipped by its *dhyāna* or meditation.<sup>5</sup> As the *Rasa* is revealed in the worship of music, the mind and the sensory organs are gradually melted in the three patterns-*prasārita*, *galita*, and *saṃkucita*. These are the *bhāvas* of music. And in the music, there are nine *rasas* also. Such as in *Śṛṅgāra rasa* Anurāga *bhāva* is created, Utsāha in *Vīrarasa*, Śoka in *Karuṇa rasa*, Vismaya in *Adbhuta rasa*, Krodha in *Raudra rasa*, Bhaya in *Bhayānaka rasa*, Hāsa in *Hāsyā rasa*, Ghṛṇā in *Vībhatsa rasa* and Śama is generated in *Śānta rasa*. Therefore, all the *rasas* are seen in this music and when all these are assimilated into one, the one and only *Rasatama Om̐kāra* appear in this realization of music. This music is *anāhata nāda*, which is ringing constantly in every creation, in every creature -

“na nādena vinā gītaṃ na nādena vinā svarah/  
na nādena vinā jñānaṃ na nādena vinā śivah//  
na nādena vinā rāgas tasmān nādātmakam jagat/  
nādarūpaṃ param jyotir nādarūpī svayaṃ hariḥ//”<sup>6</sup>

The only supreme theory is *nāda Om̐kāra*. And the entire world is

floating in this *nāda*. Omkarnathdev says the atom, the energy, science of cognition, *tamas*, and *tapas* -all are nothing but another name of the sound. He states that *Om̐kāra* or *Praṇava* is all-pervading as Brahman. Even his unique idea<sup>7</sup> provides the eighteen chapters of the Gita are related to the eighteen states of *Om̐kāra* (AUM). There are six states of 'A', six states of 'U', and the six states of 'M'. The following chart is -

Earth	Mūlādhāra	Chapter-1	Arjunaviśādayoga	A
Water	Svādhiṣṭhāna	Chapter-2	Sāṃkhyayoga	Brahma
Fire	Maṇipura	Chapter-3	Karmayoga	Sthulaśārāra
Wind	Anāhata	Chapter-4	Jñānayoga	Jāgrat
Space	Viśuddha	Chapter-5	Karmasannyāsayoga	Vaikharī
Tattvātāta	Ajñā	Chapter-6	Abhyāsayoga	Karma
Earth	Mūlādhāra	Chapter-7	Jñānavijñānayoga	U
Water	Svādhiṣṭhāna	Chapter-8	Akṣarabrahmayoga	Viṣṇu
Fire	Maṇipura	Chapter-9	Rājavidyārā- jaguhayoga	Sukṣma- śārīra
Wind	Anāhata	Chapter-10	Vibhūtiyoga	Svapna
Space	Viśuddha	Chapter-11	Viśvarūpadarśanayoga	Madhyamā
Tattvātāta	Ajñā	Chapter-12	Bhaktiyoga	Bhakti
Earth	Mūlādhāra	Chapter-13	Kṣetrakṣetrañānavibhāgayoga	M
Water	Svādhiṣṭhāna	Chapter-14	Guṇatrayavibhāgayoga	Maheśvara
Fire	Maṇipura	Chapter-15	Puruṣottamayoga	Kāraṇaśārīra
Wind	Anāhata	Chapter-16	Daivāsurasampadyoga	Suṣupti
Space	Viśuddha	Chapter-17	Śraddhātrayavibhāgayoga	Paśyantī
Tattvātāta	Ajñā	Chapter-18	Mokṣayoga	Jñāna

The science of *makārapāda* of *Om̐kāra* is *Prakṛti*, according to him. Now a question can arise that, how does the sound unfold and what is the step of this evolution. Śrī Om̐kāranātha says, when speakers intend to speak something, which should be a meaningful combination, then they wish only for the meaningful word, which can be served their purpose. This will generate a particular endeavor. And from this endeavor, the vibration of *prāṇavāyu* (oxygen) is born in *mūlādhāra*. This vibration is called *Nāda*. *Śrīmadbhāgavata* says that *nāda* was produced from the heart of wholly absorbed in Brahmā.<sup>8</sup> This *nāda* has four states- 1. *Parā*, 2. *Paśyantī*, 3. *Madhyamā* and 4. *Vaikharī*. These four states are also seen in *R̥gvedasamhitā*. Besides this, *Nādavindūpaniṣad* differently says the four states of *Praṇava*.<sup>9</sup> *Skandapurāṇa* has also the statement of *Nāda*.<sup>10</sup> From this vibration of *nāda*, the motionless and non-vibrating *Parā-vāk*, who is ultimately the cause of every sound, appears. From *mūlādhāra*, she comes

to the region of naval and she evolves in *Paśyantī*. In this stage, she sees all the signified meaning of words or the matter of the world. This *Paśyantī-vāk* when comes to heart, then she is *Madhyamā*. Here she stays with the ascertaining meaning of the word. And *Madhyamā-vāk* evolves in *Vaikharī*, at the time of coming into the throat. In this stage one can represent his cognition, thought or idea by his voice. This is the evolution of sound. And when the journey returns to its source then it is called *Yoga* or *Samādhi*.<sup>11</sup> That's why Sri Omkarnathdev is unveiling his views in '*Sudhāra Dhārā*' (Stream of Nectar)-

**“At ‘Anāhata’ you'll get unstruck Divine sound,  
In Divine light, day and night, you'll be drowned.  
By chanting Naam, you will reach 'Paśyantī',  
You'll be gratified, by seeing Almighty.  
Door of 'Suṣumnā' opens, Mantra blends there,  
Praṇava does play and Divine sounds appear.”<sup>12</sup>**

So, the sound is an inevitable medium or vehicle, which is inspired into two ways-at first *sūkṣma* to *sthūla* and secondly *sthūla* to *sūkṣma*. When it is *sthūla*, the *Vaikharī* appears and when it is *sūkṣma*, the *parā-vāk* appears. It is true that, in his *Vakyapadīya*, Bhaṭṭhari also says the *Praṇava* is not contradictory to these philosophical ideologies.<sup>13</sup> And the tantra system also discusses this *nāda*, but in *Abhinavaṇavavāda*, the new is *Parapraṇava* and *Aparapraṇava*. This *Parapraṇava* is *Ātman*, without vibrating any sound and *Aparapraṇava* is the *jīva*, *Jagat*, whatever under the creation. Without sound, the creation; even a subtle vibration cannot occur.<sup>14</sup> In his *Nādatīlāmṛta*, Śrī Omkarnathdev says as long as this world stays then the *sphoṭa* in the name of sound still stays, because this world is condensed form of *Rasatama Śabdabrahman Omkāra*.<sup>15</sup> And this world is nothing else except *nādabrahman*. In this context, we see, when we try to make a sound, the then *praṇava* or *omkāra* is sounded in the heart. When it is an attempt to make a one-syllabic word then also this *praṇava* is uttered. Even in the ringing of any musical instrument, this *praṇava* is also sounded. As long as life will stay in our bodies, so long this *praṇava* will be sounded. Here a question may be arisen-if this happens then why we cannot listen to this sound of *praṇava*. In reply, *Omkāranātha* says, we cannot listen to this sound because we are attracted by the other mundane sounds very much.

In his philosophy, this *praṇava* is the first sound or the first hymn. And another meaning of this is Brahman because the root of Brahman is *Br̥ha*, which means who is making a sound and also the cause of making sound, who enlarges himself and also the cause of enlargement.<sup>16</sup> *Śāntigītā* also

supports this -

**“vyāpakatvād adhiṣṭhānād dehasya ātmeti kathyate/  
br̥ṃhaṇatvād br̥hatvāc ca brahmeti gīyate budhaiḥ//”**

In the creation of word and world, this theory and practice meet each other as he mentions and also suggests chanting the name with different *rāga* and *rāgiṇīs* for attaining the supreme bliss.

And thus, from the uttered sound we may reach to this celestial sound which is full of light and joy -

“The mystic word<sup>17</sup> will find its voiceless sound.  
Thou wilt hear it and sink in infinity.  
Thou wilt lose thyself in the sublime state  
There will be joy and joy-joy without end.”<sup>18</sup>

#### **Reference :**

1. *Vākyapadīya*, Brahmakāṇḍa.
2. Ibid, 1.45, 46.
3. Ibid, 1.47.
4. *Bṛhaddharmapurāṇa*, Middle Part, Chapter- 14.
5. *Praṇavaḥpraṇavapīyūṣa*, pp. 161-166.
6. *Samgītadāmodara*.
7. In the academic world, this idea is called *Abhinavaḥpraṇavavāda*.
8. *Śrīmadbhāgavata*, 12<sup>th</sup> Skandha, 6<sup>th</sup> Chapter, verse- 37.
9. *Nādavindūpaniṣad*, 1.
10. *Skandapurāṇa*, Nāgarakhaṇḍa, 262. 76.
11. *Śrī Omkāranātha racanāvalī*, 10<sup>th</sup> Volume, p. 20.
12. *Stream of Nectar*, verse-3.
13. *Vākyapadīya*, Brahmakāṇḍa, 9.
14. *Brahmasūtra*, *Omkārabhāṣya*, 1. 1. 2.
15. *Śrīśrīnādatilāmṛta*, p. 45.
16. *br̥hi dhvanardhau*.
17. This signifies 'Om'.
18. *Streams of Nectar*, III

#### **Works Cited**

- Bādarāyaṇa. *Śrīmadbhāgavadgītā*. (1996) Ed. with *Praṇavaḥpraṇavapīyūṣa* of Sitaramdas Omkarnath. Kolkata: Sriguru Prakashan.
- Bagchee, Sandeep. (1998). *Nād: Understanding Rāga Music*. Mumbai: Eeshwar.
- Bhartṛhari. (1983). *Vākyapadīya of Bhartrhari*. Ed. K. A. SubramaniaIyer. Delhi : Motilal Banarsidass.
- Bhartṛhari. (1971). *The Vākyapadīya*. Ed. K. Raghavan Pillai. Delhi: Motilal

Banarsidass.

- *Bhāgavatapurāṇa*. (No date). Āryaśāstra Saṃskaraṇa. Kolkata.
  - *Brahmavaivartapurāṇa*. (1953). Pune : Anandashram Mudranalaya.
  - Kinkara Praṇavānanda. (2003). *Sura Laharī*. Kolkata: Sriguru Prakashan.
  - Nagarkar, Samarth. (2013). *Raga Sangeet: Understanding Hindustani Classical Vocal Music*. Bookbaby Publisher.
  - Omkarnath, Sitaramdas. (2017 rpt. ed.). *Stream of Nectar* [Sudhār Dhārā]. Published by Kinkar Samananda, Kolkata: Mahamilan Math.
  - Omkarnath, Sitaramdas. (2006). *Stream of Nectar*. Kolkata: ABJS, Mahamilan Math.
  - Omkarnath, Sitaramdas. (1397 vangābda). Śrīśrīnādalilāmṛta. Kolkata: Śrī Guru Prakāśana.
  - *R̥gvedasaṃhitā*. (1904). Delhi: Nag Publishers.
  - Śārṅgadeva. (1976). *Samgītaratnākara*. Madras (now Chennai): The Adyar Library and Research Centre.
  - Śubhaṅkara. (1960). *San̄gīta Dāmodarah*. Ed. Gaurinath Śāstri & Govindagopal Mukhopadhyaya. Calcutta (now Kolkata): Sanskrit College.
-

## The great tradition of Hospitality in the Rāmāyaṇa era

Suparna Mondal \*

### Abstract :

Rāmāyaṇa is a well known epic in our country. It is also known as *Ādikāvya*. Its author Mahārṣi Bālmiki is also famous as ādikavi. The author has narrated the story of this epic in seven chapters and there are 24000 verses in these seven chapters. To the people of India, Rāmāyaṇa is not just a book, it is a reflection of the society, culture, literature, philosophy, education, conduct justice system etc. of that time.

Hospitality is a very important tradition in Indian society. Indians think that the guest is God himself, to serve the guest means to serve God himself. Indian householders still believe that the greatest benefit of the house is achieved by the hospitality of guests.

This reform of hospitality is a very ancient reform of our country. Even in the age of Rāmāyaṇa, hospitality was known as a very virtuous deed. Reviewing the Rāmāyaṇa, we find in many places of the Rāmāyaṇa the details of hospitality and its greatness. It is not possible to summarize the hospitality as described in the entire Rāmāyaṇa, so we will discuss only two hospitalities. One is the hospitality of *Mahārṣi Vaśiṣṭha* in *Bālakāṇḍa*, and the hospitality of *Mahārṣi Bharadvāja* in *ayodhyākāṇḍa* of Rāmāyaṇa.

**Key words :** Rā - Rāmāyaṇa, Tai U - Taittirīya Upaniṣad.

### Introduction :

Rāmāyaṇa is a well known epic in our country. It is also known as *Ādikāvya*. Its author Mahārṣi Bālmiki is also famous as ādikavi. The author has narrated the story of this epic in seven chapters and there are 24000 verses in these seven chapters. Hence another name of this book is *Caturviṃśati Sāhasrī Saṃhitā*. This book is also known as *Rāmacarita*, *Sītācarita*, *Raghuviracarita*<sup>1</sup> etc. Rāmāyaṇa is very popular among the Indian people. Evidence of this statement can be found in the later composition of Rāmāyaṇa in various provincial languages, Such as

---

\* Research Scholar (Ph.D.), Department of Sanskrit Rabindra Bharati University, Kolkata, West Bengal

Rāmāyaṇa of Kṛttivāsa in Bengali language, Rāmāyaṇa of Tulsīdāsa in Hindi etc. To the people of India, Rāmāyaṇa is not just a book, it is a reflection of the society, culture, literature, philosophy, education, conduct justice system etc. of that time, so every act of this epic, every canto and every verse is very important to everyone.

**Main Body :**

Hospitality is a very important tradition in Indian society. Indians think that the guest is God himself, to serve the guest means to serve God himself. Indian householders still believe that the greatest benefit of the house is achieved by the hospitality of guests.

This reform of hospitality is a very ancient reform of our country. Even in the age of Rāmāyaṇa, hospitality was known as a very virtuous deed. Reviewing the Rāmāyaṇa, we find in many places of the Rāmāyaṇa the details of hospitality and its greatness. It is not possible to summarize the hospitality as described in the entire Rāmāyaṇa, so we will discuss only two hospitalities. One is the hospitality of Mahārṣi Vaśiṣṭha in *Bālakāṇḍa*,<sup>2</sup> and the hospitality of Mahārṣi Bharadvāja in *ayodhyākāṇḍa* of Rāmāyaṇa.<sup>3</sup>

Now a question arise, why I chose these two to have such a description of hospitality. The reason is that both of them are the best sages (*maharṣi*) among the sages. And our all social rules are created by different sages as different times. They are always to be followed. It is their gift that we live our lives according to the rules of the social order. One of the heroes of the Mahābhārata, Yudhiṣṭhira said - *mahājano yena gataḥ sa panthāḥ*.<sup>4</sup> We Indians still believe that the path is where the great people go. So in the context of discussing such an important reform as hospitality, I would like to highlight the hospitality of the two great *maharṣis*.

Let us first look at the hospitality of *Mahārṣi Vaśiṣṭha* as described in *Bālakāṇḍa*. Where king Viśvāmitra and his army came as guests.

.....at a certain time, king Viśvāmitra, assembling his army, set out to range the earth. He passed through many cities and kingdoms and crossed innumerable rivers, mountains and forests, visiting many hermitages till he came to the one belonging to Śrī Vaśiṣṭha.<sup>5</sup>

The environment of this *āśrama* is very pleasant. The gathering of deer and the buzzing of the birds made the place very pleasant. Then king Viśvāmitra and *Mahārṣi Vaśiṣṭha* met.

Beholding the hermitage, the mighty Viśvāmitra filled with joy, bowed with great humility to Śrī Vaśiṣṭha who was engaged in the telling of his rosary.<sup>6</sup>

Śrī Vaśiṣṭha welcomed the king and bade him be seated, and he

having done so was offered the fruits and roots that grew in that place.<sup>7</sup>

Then king Viśvāmitra asked *Maharṣi* Vaśiṣṭha about the *āśrama*. After answering about the *āśrama*, *Maharṣi* Vaśiṣṭha asked the king about his kingdom. And there was very long and polite conversation between these two great humans. Then *Maharṣi* said to the king, you and your entire army please accept my hospitality.

Śrī Vaśiṣṭha said to him smilingly : "O king, although thou hast with thee a large retinue, yet it is my desire to offer thee hospitality, together with the army. Be pleased to accept it. Since thou art a distinguished guest, it is meet that I should do all within my power to entertain thee, therefore, be gracious enough to receive the little I have to offer."<sup>8</sup>

King Viśvāmitra did not want to embarrass the sage in the *āśrama* anymore, so he said seeing you and your kind words are hospitality to me.

King Viśvāmitra answered : O Lord, thy gentle and pleasing words are sufficient entertainment.<sup>9</sup>

But even then *Maharṣi* repeatedly invited the king for his hospitality and the king could not ignore that invitation.

The great sage declined to accept the king's refusal of his offer, and still insisted that he should entertain him.<sup>10</sup>

Then Viśvāmitra said : "be it according to thy pleasure, my Lord, I will do as thou desirest."<sup>11</sup>

*Maharṣi* Vaśiṣṭha then arranged for a proper reception for the guests.

...provided for the needs of all according to the instruction of Śrī Vaśiṣṭha. Sugar cane, sweets of various kinds, honey, crushed barley, wine and other excellent drinks, hot rice in heaps as high as mountains, milk, curry and other fare combining the six tastes and countless other dishes with sweets made of jagari were distributed. Each was wholly satisfied and delighted with the hospitality of Śrī Vaśiṣṭha.<sup>12</sup>

They both are the greatest person. One is strong in austerities and the other is strong in monarchy, yet the manners towards each other are incomparable.

There is a description of other hospitality in *Ayodhyākāṇḍa*, the place is the *āśrama* of sage Bharadvāja. When Rāmacandra is in the forest with his wife Sītā and brother Lakṣmaṇa, Bharata comes to take them back to *Ayodhyā*. Before meeting Rāmacandra, Bharata visited sage Bharadvāja's *āśrama*. Sage Bharadvāja also provided excellent hospitality for Bharata and his army.

Bharata leaves the king's attire, weapons, army and very humbly enters the sage's *āśrama* with sage Vaśiṣṭha.

Bharata, beholding the hermitage of the sage Bharadvāja, leaving his army a league behind and laying aside his weapons and royal apparel, attired in a simple silken garment, proceeded on foot, preceded by his preceptor. Perceiving the sage himself, he left his counselors and followed Śrī Vaśiṣṭha only.<sup>13</sup>

Sage Bharadvāja also stood up to greet. How recognized Bharata in spite of his ordinary attire.

The great ascetic Bharadvāja, beholding prince Bharata approaching, rising from his seat, commanded his disciples to bring the *arghya*. The *muni* advancing to great Śrī Vaśiṣṭha, prince Bharata offered salutation to him, the sage recognizing him as the son of king Daśaratha.<sup>14</sup>

Then sage Bharadvāja asked to Bharata about his kingdom *Ayodhyā*. Bharata also inquired about the sage's physical prowess and the *āśrama*.

...he then enquired respecting their welfare and if all were well in *Ayodhyā*.<sup>15</sup>

In return, Śrī Vaśiṣṭha and Bharata enquired as to the health of the sage, the state of his body, the sacred fire, his disciples, the deer and the birds.

After a small conversation, sage Bharadvāja invited prince Bharata and his accompanying priests, ministers and army to receive hospitality. At first Bharata did not want to accept the hospitality so as not to embarrass the sage, but at the repeated request of the sage along with his ministry and army. Sage Bharadvāja then arranged a divine hospitality with huge food for Bharata and his army.<sup>16</sup>

In both places we see that, these great sages being very humble are repeatedly requesting the person who comes to their *āśram* to receive hospitality. Upaniṣad says - "*atithidevo bhava*."<sup>17</sup> Means, let your guest be a god unto you. Upaniṣad also says - "*śraddhayā deyam*."<sup>18</sup> Means, an offering should be made with honour. We see the reflection of this Upaniṣadic speech in the behavior of sages. Both the sages have done the great work of hospitality with great humility and reverence.

#### **Conclusion :**

From this discussion it is clear that, how great and ancient the culture (*samśkāra*) of hospitality is, even the great sages were eager to do that. We see that it is mentioned in the Upaniṣads and it is equally important in the Rāmāyaṇa era also. Even today there are many people in India who regularly serve meals to their guests. In Indian tradition, not only relatives are our guests, we believed that a beggar also are our guests, actually every persons of this worlds are our guests. Our this tradition explain very

beautifully in one line - "*vasudhaiva kuṭumbakam.*" Through this tradition, people develop a beautiful relationship of mutual harmony. Still today in our country any kind of hospitality is count as a noble work.

**References :**

1. Saṃskṛita Sāhityera Itihāsa, (P.- 53)
2. Rāmāyaṇa, Bālakāṇḍa, (Srga 51-53)
3. Rāmāyaṇa, Ayodhyākāṇḍa, (Sarga 90-91)
4. Mahābhārata, Vanaparva (Adhyāya - 311)
5. *Kadācit tu mahāteja yojayitvā varūthinīm/  
Akṣauhi Nīparivṛtaḥ paricakrāma medinīm//  
nagarāni ca rāṣṭrāṇi saritaśca mahāgīrīm/  
āśramān kramaśo rājā vicarannā jagāma//* (Rā. 1.51.21-22)
6. *taṃ dṛṣṭā paramaprīto viśvāmitro mahāvalaḥ/  
praṇato vinayād viro vasiṣṭhaṃ japatā varam//* ( Rā. 1.52.1)
7. *svāgataṃ tava cetyukto vasiṣṭhena mahātmanā/  
āsanaṃ cāsya bhagavān vasiṣṭo vyādideśa ha//  
upaviṣṭāya ca tadā viśvāmitrāya dhīmate/  
yathānyāyaṃ munivaraḥ phalamūlam upāharat//* (Rā. 1.52.2-3)
8. *ātithyaṃ kartum icchāmi valasyāsya mahāvala/  
tava caivā prameyasya yathārhaṃ sampratīccha//  
satkriyāṃ hi bhavānetāṃ pratīcchatu mayā kṛtām/  
rājastvamatiṭhi śreṣṭhaḥ pūjanīyaḥ prayatnataḥ//* (Rā. 1.52.13-14)
9. *evamukto basiṣṭhena viśvāmitro mahāmatih/  
kṛtamitya bravīd rājā pūjāvākyena me tvayā//*(Rā. 1.52.15)
10. *evaṃ bruvantaṃ rājānaṃ vasiṣṭhaḥ punareva hi/  
nyamantrayata dharmātmā punaḥ punarudāradhīh//*(Rā. 1.52.18)
11. *vādhamityeva gādheyo vasiṣṭhaṃ pratyuvāca ha/  
yathāpriyaṃ bhagavata stathāstu muni puṅgava//*(Rā. 1.52.19)
12. *evamuktā vasiṣṭhena śavalā śatrusūdana/  
vidadhe kāmadhuk kāmān yasya yasyepsitaṃ yathā//  
ikṣūn madhuṃ stathā lājān maireyāṃśca varāsavān/  
pānāni ca mahārḥṇi bhakṣyāṃ śoccāvacānapi//  
uṣṇādhyasyaudanasyātra rāśayaḥ parvatopamāḥ/  
mṛṣṭānyannāni sūpāmśca dadhikulyā stathaiḥ ca//  
nānāsvādu rasānāṅca khāṇḍavānāṃ tathaiḥ ca/  
bhojanāni supūrṇāni gauḍāni ca sahasraśaḥ//*(Rā. 1.53.1-5)
13. *bharadvājāśramaṃ gatvā krośādeva nararābhah/  
janaṃ sarvam avasthāpya jagāma saha mantribhiḥ//*

- padabhyāmeva tu dharmāñjo nyasta śāstra paricchadah/  
vasāno vāsasī kṣaume purodhāya purohitam//  
tataḥ sandarṣane tasya bharadvājasys rāghavaḥ/  
mantriṅstānavasthāpya jagāmānupurohitam//(Rā. 2.90.1-3)*
14. *vasiṣṭhamatha dṛṣṭaiḥ bharadvājo mahātapāḥ/  
sañcacālāsanāt turNaṃ śiṣyānarghyamiti vruvan//  
samāgamyā vasiṣṭhena bharatenābhi vāditaḥ/  
avadhyuta mahātejāḥ sutaṃ daśarathasya tam//(Rā. 2.90.4-5)*
15. *ayodhyāyām vale koṣe mitreṣvapi ca mantriṣu/  
vasiṣṭho bharataścainam papracchaturanāmayam/  
śarīre'gniṣu śiṣyeṣu vṛkṣeṣu mṛgapakṣiṣu//(Rā. 2.90.7-8)*
16. *Rāmāyaṇa*, (2.92.1-83)
17. Tai. U. - 1.11.2
18. Tai. U. - 1.11.3

### ***Bibliography***

- Bandyopadhyay, Dhirendranath. *Samskṛta Sāhityer Itihās*. Kikata : West Bengal State Book Board, 2012 (5<sup>th</sup> rpt. of 2<sup>nd</sup> ed., 1<sup>st</sup> ed. 1988).
  - *Mahābhārata* (with hindi trans.). Dāmodara Sātavalekar(editor). Balsāḍa : Svadhyay Mandala, 1968 (1<sup>st</sup> ed.).
  - *Rāmāyaṇa* (with Bengali trans.). Sanatkumār Bandyopādhyāy(trans.) Gorakhpur : Gita Press, 2015 (1<sup>st</sup> ed.).
  - Swami Gambhīrānanda (ed. and Beng. trans.). *Upaniṣad Granthāvalī* (part 1). Kolkata : Udbodhan Karyalaya, 2001. (rpt. of 7<sup>th</sup> ed. 1962).
  - Swami Gambhīrananda (Eng. trans.). *Eight Upaniṣads*. (with Comm. of Śamkarācārya). Vol, 1. Kolkata : Advaita Ashrama, 2016. (13<sup>th</sup> rpt. of 1<sup>st</sup> ed. 1957).
-

## The Socio-Political World of Ray : Studying *Hirak Rajar Deshe* beyond the Text and within the Text.

Swagata Chatterjee\*

Literature and Cinema make a complex interconnection with each other creating a new lingual and culture identity out of the amalgamation. It can be said that the tradition of adopting literature into cinema is as old as the very art of making cinema. The two share a common cultural and literary identity when we study "the shared identity of the literary source and its cinematic reflex", (Stam and Raengo 258). We can argue that any audio visual medium like cinema, that has its source in literature, creates a new text out of the intertextuality. It is absolutely necessary to understand and study the craft of Satyajit Ray's filmmaking in this context not only because he himself was an author and a film director and gave cinematic expressions to many of his own writings but also that his unparalleled vision and wider dimensions to both his literary texts and cinematic texts. His films often went beyond any particular territory or language and reached up to the universal. He not only expressed his personal faith and beliefs through his films but also used cinema as a medium to comment on the various aspects of society; without making his films propaganda and successfully retaining the aesthetic and entertainment value. Keeping in mind his rich legacy beginning with Upendra Kisore Roy Chowdhury and continuing with his father Sukumar Ray it can be said that it would be impossible for him not to be influenced by the traditional folk culture of Upendra Kisore and more charming yet more complex and experimental language of nonsense of Sukumar. In this context Satyajit's *Goopi- Bagha* Trilogy is of immense importance. *Goopi Gayin Bagha Bayin* (The Adventures of Goopi Bagha) was written by Upendra Kisore in the year 1915. *Goopi- Bagha* trilogy holds an exceptional position since *Goopi- Bagha* perhaps draws its source from the oral tradition yet when Ray used the characters in his cinema he could instantly understand the potential space that he could create in the pretext of fairy tales and voice his opinion on

---

\* Assistant Professor(English), Sankrail Anil Biswas Smriti Mahavidyalaya, Jhargram, West Bengal

contemporary socio-political issues. Though the first part of the trilogy is a tribute to his grandfather, the other two are developed by Satyajit as original screen plays namely *Hirak Rajar Deshe* (The Land of the Diamond King) (1980) and *Goopi Bagha Phire Elo* (The Return of Goopi Bagha) (1992). According to Mary Seton the first biographer of Satyajit Ray:

**Two qualities strongly developed in Satyajit's father and grandfather find renewed expression in him: humour is woven as a natural thread through the texture of all Ray's films ... grandfather's story *Goopi Gyne Bagha Byne*, as expanded by Satyajit, carries the qualities of fantasy and the comic to a more complex level. Ostensibly fairy tales, the duel heroes, two young musicians, bring, by their tricks, an end to the disease of the age-war (298)**

This paper shall especially focus on *Hirak Rajar Deshe* (The Land of the Diamond King) and show how it goes beyond the text and addresses the contemporary socio-political issues and also the influence of Sukumar Ray in the language of cinema. In one of his untitled poems from *Abol Tabol*, Sukumar Ray writes how a child is taken by utter disbelief at anything that is normal. "Have you heard of the place where our old doctor lives? He seems to eat rice with his hand"! "I've heard," the younger one continues, "that he feels hungry if he goes without food, his eyes close if he's too sleepy, when he walks his feet touch the ground, he hears with his ears and sees with his eyes, when he sleeps it seems he keeps his head wards!" (Choudhuri 12) The land of *Hirak* is a place where natural activities are not heard of or rather ruthlessly cut off. *Hirak Rajar Deshe* is more complex and contemporary. The language and pattern draws extensively from Sukumar Ray. The Diamond king is evil and the kingdom is dangerous. He is a modern political totalitarian and one is instantly reminded of *Ekushe Aayin* (Rule of 21).

In Shiva's homeland the rules are quite strange as I can truly attest

If someone slips, and falls by err, police will come to arrest

Your ordeal continues inside of a court room

When judges are ready to fine you a fortune

Twenty- one rupees is the fine you must pay (Chaudhuri 18)<sup>1</sup>

It reminds us of some of the figures in the film, especially the subjugated ones, who are simpletons, farmers or miners; one false step or any question regarding the king's policy can lead to imprisonment and death. It is a satire aimed at the then contemporary government and its dictatorial policies during the emergency period in India that led to wide spread detention of the opposition leaders, the banning of controversial plays and other such various excesses committed by the supporters of the

government. One may relate instantly to the character Charandas; an artist; a singer whose independent song questions the authority in the film: look at the good one/ living in shattered hut/ while the evil rules the throne". (Hirak 30:55-31:03) He is not killed rather the authority orders his hands and feet to be bound and be taken to *jantar mantar* (a special mumbo jumbo room) to be brain washed. In this bizarre scary kingdom "*Hirak Raja Prane mare na/ Garoder Dhar dhare naa/ Shool e choray naa/jyanto poray naaHirak rajye sashti ektai-magaj dholai*" The king doesn't kill/doesn't imprison/Doesn't kill on the thorn/ Doesn't burn alive/In the kingdom of diamonds/ There is but one punishment/Brain wash. (Hirak 1:40:13-1:40:23). The king doesnot follow any medieval system of punishment. He knows to control the mind is a greater victory than punishing the body. Whatever is normal is not a part of the place. It is the bizarre world of *Kumro Potash* (The Pumpkin Grumpkin)where "*jokhon kumro potash hashe thakbe khara ekti thange raanna ghorer pashé*"(The Tenth Rasa 18) though rhythmically charming the poem presents a dangerous world where natural activities are curbed. The common men face the various repercussions of this creature's precarious mood. What is present within this humour is the undercurrent of a tragic vision. So is with Hirak raja. The kingship solely depends on the modern weapon of brain wash. The king prefers complete abolition of education as more knowledge implies less of blind obedience. The ruler reigns with forced hegemony. He wants his subjects to be half-dead men without any free thinking to be ruled over; quite similar to the snakes of "Baburam the snake charmer"(Chaudhuri 18) who don't hiss, Never bite or sting, eat rice and milk and it is easy to bash the heads of such half dead men. Thus the theme moves beyond being a children's text and harks at the adult world of fear and darkness. Satyajit Ray himself said in an interview in 1970 with Karuna Sarkar Ray that "I was so passionately interested in the cinema that I couldn't consider politics apart from the film." Since it was filmed just after the emergency, Nyce declares that :

**It's an angry response to the emergency decreed by Indira Gandhi in 1975-77, in which censorship and police control were severe and intolerable to most Indian intellectuals. The anger is barely masked by the entertainment. In this way, presumably, the film could get by the government censors. (113).**

The motif of fairy tale and use of rhyming dialogues really function here in camouflaging the savage satire that ray aims at the ministry of education when he makes the pupils of a village school recite a parody of well-known proverbs: "he who learns dies of hunger- there is no limit of

knowledge- so it is useless to know." (Hirak 33:45-33:52) In schools, colleges and universities, many students were punished during emergency for protesting against the regime; and this is revealed in the struggle that Udayan Pandit, the village school master carries on, like a revolutionary, with the help of his pupils and Goopi and Bagha. The yes-men of the king irrespective of conscience are a part of the atrocities. This is all together brought out by the poetic language used by the king and his men. The rhythmic use of language brings out instantly the formality as well as conventions and the faceless structure of power since one character is undistinguished from the other. Their rhyming language shows a never ending tension between sense and absence of it or the apparent humour outside brings out potentially the inert cruelty within. It presents a topsy-turvy kingdom of anarchy quite similar to the "Kingdom of Bombaria" (Chaudhuri 14) where the king and his family live an absurd life and his kingship is total mismanagement. Only Udayan and his pupils as free thinkers speak in prose perhaps emphasizing on reason and rationality. *Hirak Rajar Deshe* is an experiment with language. But it is not merely a stylistic experiment rather Satyajit brings out the entire politics of language through this particular style as Meenakshi Mukherjee says "Every stylistic feature contributes to the poetics of fun, but it is simultaneously politics."<sup>2</sup>

*Hirak Rajar Deshe* is an expression of Ray's fascination for music and fairy tales that he inherited from his grandfather and father. Yet he takes his plot beyond these and shows his reaction to the contemporary politics of India. He took the characters out of a popular tale and in each of the plots of his trilogy he puts the characters in situations and issues that are both social and political. Nyce commented about this film that this shall please children and adults alike. "...functioning as it does as serious commentary and pure fantasy" (114) thus keeping in terms with the world of fantasy the evil king and his ministers are brainwashed and the icon of dictatorship (the statue of the king) is pulled down by the king himself.

Thus we find a trajectory from fairy tale to political satire and though many of the characters are the same from the original Gopi Bagha adventure, especially village boys or elders or the police force, the real essence of the story changes. Buffoons are now would be rulers; and their journey of merry making is replaced by the desire to know, explore and learn. Against the backdrop of victory of good over evil, what remains important is the vision of a stark reality within what is apparently the world of children. This is a task given complete justice through the medium of visual art without denying its debt to literature.

This paper finally concludes with Cooper's observation in *The Cinema of Satyajit Ray between Tradition and Modernity*:

**It would have been worthwhile to examine how different these films are reported to be and an adequate theoretical framework to see what interesting insights they have to offer about Bengal and India, both through their mythical recreation of history as well as all the veiled allusions made to contemporary India. (14)**

#### Notes

1. The article uses primarily Sukanta Chaudhuri's translations of Sukumar Ray's *Abol Tabol*.
2. Satyajit Ray in an interview. This quote is taken from Meenakshi Mukherjee.

#### Works Sited

- Chaudhuri, Sukanta (trans.). *The Select Nonsense of Sukumar Ray*. By Sukumar Ray, intro by Satyajit Ray. Oxford University Press, Oxford. 1987.
  - Heynman, Michael and Sumanyu Satpathy et al. *The Tenth Rasa: An Anthology of Indian Nonsense*. New Delhi, Penguin Paperback. 2007.
  - *Hirak Rajar Deshe*. Dir. Satyajit Ray. Perf. by Soumitra Chatterjee, Utpal Dutt. Dist-Govt. of West Bengal. 1980.
  - Mukherjee, Meenakshi. "Politics and Children's Literature : A Reading of Haroun and the Sea of Stories". *A Review of International English Literature*, 29:1 (1998). Print.
  - Nyce, Ben. *Satyajit Ray : A Study of His Films*. N. Y: Greenwood Press, 1988. Print.
  - Roy, Karuna.S. "The Artist in Politics: From an interview with Satyajit Ray in Kolkata [Calcutta] May 1970." *The Drama Review* 15: 2(1971), 310. Print.
  - Seaton, Marie. *Portrait of a Director Satyajit Ray*. London: Dobson Books LTD, 1971. Print.
  - Stam Robert and Raengo Alexander. *Literature and Film: a Guide to the Theory of Film Adaptation*. Malden, Mass. Blackwell. 2006.
-

## Importance of The *Sannyāsopaniṣad*

Sangeeta Mandal\*

### Introduction :

Upaniṣads (ups) represent the highest peak of Indian culture. They are considered as the source of all later Indian philosophical doctrinal developments. But this theory is applicable for only ten or thirteen main or principal ups which are called earlier ups and they are *apauruṣeya*. But there are hundreds of ups, which are generally considered later and *pauruṣeya*, do possess immense value. They are called as sectarian and mostly derivative due to their philosophical content. So, it is important to examine whether there is any worthwhile purpose or whether they possess any spiritual value or whether these later ups contribute any substantive to Indian life and culture. So, in the proposed topic we will try to examine the contents of *Sannyāsopaniṣad*.

### Teachings of the principal Upaniṣads :

First, we all know something about the main ups. The terminal part of the Vedas is known as the ups. Ups are generally regarded as the sources of the all later Indian philosophical thoughts and developments. The real beauty of the ups consists of the philosophy of spiritual monism which they teach. Also, the beauty lies in the manner in which that teaching is given. Reality is exposed to be non-dual and this reality is identified with the soul or Atman higher than which there is nothing. Not only is the non-duality of the self-affirmed, but also the plurality of things is declared to be ultimately un real. *Bṛhadāraṇyakopaniṣad* says, 'from death to death he goes who sees plurality here as it were'.

The ups are not any systematic agreement on philosophy as there are not the writings of any single composer. The feelings of the seers are recorded in the ups. There is a directness about their teachings and an authenticity born of first-hand experience in highest reality.

It is said that, ups are the concluding portions of the *Veda*. *Veda + anta* = *Vedānta* i.e. end of the *Veda*. The expression is significant in the sense that the teaching of the ups represents, the aim or goal of the *Veda*. The Sanskrit word *anta* may be used to mean both 'terminus' and 'aim'. The

---

\* M.Phil, Dept. of Sanskrit, Rabindra Bharati University, Kolkata, West Bengal

etymological meaning of the term *Upaniṣad* is 'to sit or to go (*sad*) close by (*upa*) devotedly (*ni*)'. It is indicative of the manner in which the doctrines embodied in the ups were learned at first by students in small conclaves sitting near their respective teachers (*gurus*). As the ups are regarded as teaching of the highest truth, they could be imported only to those who were competent pupils could be only a few at any given time. So, the meaning 'secret' came to be attached to the term *Upaniṣad* and it is in the sense that we find the expression used in the ups themselves.

There are two kinds of knowledge according to ups - higher knowledge (*parāvidyā*) and lower knowledge (*aparāvidyā*). *Aparāvidyā* consists of all the empirical sciences and arts. Even the four Vedas are included in the category of *Aparāvidyā*. On the other hand, *Parāvidyā* or supreme wisdom is knowledge of the self. But this type of knowledge is not be confused with what you ordinarily refer to as knowledge. So, it may be said that the self is unknowable. Then the question arises, how can one speak intelligible of self-knowledge? The *Bṛhadāraṇyakopaniṣad* teaches the significant of the term knowledge with reference to the self. The self is unknowable, not because it is unknown, but because it is the basis of all knowledge. The *Kenopaniṣad* teaches the same doctrine. The *Taittirīyopaniṣad* declares that the words and mind turn back, not being able to attain it. The self is to be comprehended also in the *Kathopaniṣad*. This is the true wisdom. The ups tell us to quest this knowledge from a competent teacher who is not only learned but also in grab of the plenary experience.

The knowledge of self is the supreme knowledge which is referred to in the ups as Brahman and Atman. These two words are central to the Upanisadic philosophy. 'Brahman' probably meant at first 'to burst forth' or 'to grow'. Lastly it signifies the ground of the universe of the source of all existence, that which has burst forth into the universe, or that from which the universe has grown. The other word 'Atman' might have been 'breath'. The remarkable discovery, which the Upanisadic sages created, was that the two are one and same - the Atman is Brahman. This doctrine of the unity is the greatest teachings which the *Upaniṣad* have made the thought of the world.

#### **Name of the Atharvavedic Upaniṣads :**

One interesting point to note here that among the 108 Ups, counted in the *Muktikopaniṣad* (*Śuklayajurvedīya up.*) majority of them are attached either to the *Atharvaveda*(AV) or *Black-Yajurveda* (YV). Though there is difference of opinion regarding their affiliation.<sup>1</sup>

The ups of the AV have been divided into various sections according

to their subjects like -

- a. **Pure *Vedānta***
- b. ***Yoga***
- c. ***Śiva***
- d. ***Viṣṇu* and**
- e. ***Sannyāsa*.**<sup>2</sup>

To discuss the main issue of the topic, it is to be kept in mind that the authors of the later ups passionate on including the populace, what was a subordinate moto of the AV-literature, that may be a point of its increasing number of ups, propounded different paths of *Bhakti*, *Jñāna*, *Yoga*, *Sannyāsa* etc for the attainment of solvation. And in principle thus, they do not differ from earlier ups. The main differences lies with the thought of the sages to link among the different paths.

**a. Pure *Vedānta*.**

In the AV, a number of ups deal with the theories of *Vedānta*, to say, knowledge of Brahman, origin of matter of life, the way in attaining Brahman. Śāṅkara, Rāmānuja and Mādhava are chief propagators of the *Vedānta* theory according in their own fashion. The ups in this class include-

- |                          |                                      |
|--------------------------|--------------------------------------|
| 1. <b><i>Muṇḍaka</i></b> | 2. <b><i>Māṇḍūkya</i></b>            |
| 3. <b><i>Praśna</i></b>  | 4. <b><i>Ātma</i></b>                |
| 5. <b><i>Garbha</i></b>  | 6. <b><i>Prāṇāgnihotra</i></b>       |
| 7. <b><i>Piṇḍa</i></b>   | 8. <b><i>Sarva-upaniṣatsāra</i>.</b> |

Out of these ups first three are included in the earlier group.

**b. *Yoga* :**

In the AV, we get larger number of ups on *yoga*. The word '*yoga*' comes from the "yuj" means 'to join'. In spiritual sense, *yoga* is that process by which a human spirit is brought into sentient conversation with or merged into divine spirit *saṁyogo yoga ityukto jīvātmaparamātmanoh* (*Maitrāyanī up.* VI.25).<sup>3</sup> In Patañjalis *Yogasūtra - yogaścittavṛttinirodhaḥ*. It is a methodical process of attain perfection. *Yoga* is the study of body, mind and soul. of the five *Bindu* ups of the AV, the chief teaching of the ups of controlling the mind and senses for the attainment of Atman, dwelling in the heart of man, to be revealed only yogins by supersensual meditation.<sup>4</sup> Some *Yoga* ups are -

- |                              |                             |
|------------------------------|-----------------------------|
| 1. <b><i>Brahmavidyā</i></b> | 2. <b><i>Kṣurikā</i></b>    |
| 3. <b><i>Cūlikā</i></b>      | 4. <b><i>Nādabindu</i></b>  |
| 5. <b><i>Brahmabindu</i></b> | 6. <b><i>Amṛtabindu</i></b> |

7. *Dhyānabindu*
8. *Tejabindu*
9. *Yoga-śikhā*
10. *Yogatattva*
11. *Hamsa*

c. *Śiva* :

*Śiva* is one of the great gods of the Hindu threesome; *Brahmā*, *Viṣṇu* and *Maheśa*. *Śiva* represents, the earliest and the most general impression of nature on man. *Śiva* in the *liṅga* form is the concrete form of *Śiva*, often worshipped in the temples of *Śiva*. The injunctions regarding the making of a *Śiva-liṅga* are given in detail in the *Śivopaniṣad* and this *Śiva* is not different from Brahman. Some *Śiva* ups are -

1. *Atharvaśira*
2. *Atharva-śikhā*
3. *Nīlarudra*
4. *Kālāgnirudra*
5. *Kaivalya*.

d. *Viṣṇu* :

*Viṣṇu* is so called because he pervades all the world. The etymological meaning thus, signifies his omnipresence. All the qualities with which the indescribable Brahman is described to *Viṣṇu* and thus he is exalted to the position of the Brahman. Names of the ups which are included in this class-

1. *Mahā*
2. *Nārāyaṇa*
3. *Ātmavodha*
4. *Nṛsimhapūrvatāpanīya*
5. *Nṛsimhottara-tāpanīya*
6. *Rāmapūrvatāpanīya*.

Now our main focus is on the *Sannyāsopaniṣad* -

e. *Sannyāsa Upaniṣad* :

The most important of the AV ups are the *Sannyāsa Upaniṣad*. In the Vedic period, three āśramas were wellknown - *Brahmacarya*, *Gārhaṣṭhya* and *Vānaprastha*. Even at the period of earlier ups, three āśramas were only known and P.V. Kane notices that the fourth āśrama i.e. *Sannyāsa* specially comes in the *Jāvālyupaniṣad*.<sup>5</sup> P. Deussen opins that the separation between 3<sup>rd</sup> & 4<sup>th</sup> āśramas were not distinctly marked in early ups (*Sixty Upaniṣads of The Veda*, p. 367). The word '*Sannyāsayoga*' appears first in the *Muṇḍakopaniṣad*(3.2.6)<sup>6</sup> where we get the distinct difference between 3<sup>rd</sup> and 4<sup>th</sup> order of life *Sannyāsa* is a way to solvation and various rules to be observed. T. R. Chintamani<sup>7</sup> Dikshit gives a list of 17 ups on *Sannyāsa* with a commentary by *Brahmayogin*. These are -

1. *Avadhūta*
2. *Ārunya*
3. *Kaṭharudra*
4. *Kuṇḍika*
5. *Jābāla*
6. *Turīyātītāvadhūta*
7. *Nāradaṣarivṛājaka*
8. *Nirvāna*

- |                        |                                   |
|------------------------|-----------------------------------|
| 9. <i>Parabrahma</i>   | 10. <i>Paramahamsaparivrājaka</i> |
| 11. <i>Paramahansa</i> | 12. <i>Brahma</i>                 |
| 13. <i>Bhikṣuka</i>    | 14. <i>Maitreyya</i>              |
| 15. <i>Yājñavalkya</i> | 16. <i>Śātyāyanīya</i>            |
| 17. <i>Samnyāsa.</i>   |                                   |

From where we get enormous information on different aspects of a sannyasin. It refers to various rites, rituals, initiation and different types of *Sannyāsa*, aim of *Sannyāsa*, so on and so forth.

*Sannyāsas* mentioned in the ups -

- Vairāgya sannyāsa*
- Jñāna sannyāsa*
- Jñānavairāgya sannyāsa*
- Karma sannyāsa*

The term comes from (*sam-nyas+ghan*) *Yonukrameṇa samnyasyati sa sannyasto bhavati* (*Sannyāsa up.*). According to this up., a person can take recluses even after his second order of life i.e. *Gārhashtyāśrama*. Even when it refers to *Karma sannyāsī*, then clearly mention that when a person after completing *Brahmacarya*, *Gārhashtya* and *Bānaprasthya*, out of *vairāgya*; takes recluses, he is *Karma sannyāsī*.<sup>8</sup> *Vairāgya sannyāsa* normally comes out of being disgusted with worldly pleasures. *Jñāna sannyāsa* is one which is resorted to by a person who has studied various branches of knowledge, *sādhana catuṣṭayasampanna* and knowing everything meaningless. When *jñāna* & *vairāgya* is both take place to a person and leaving everything only keeps up his body for renunciation, it is *jñānavairāgya sannyāsa*.

Again six types of Sannyasins are mentioned there in detail - *Kutīcaka*, *Vahūdaka*, *Haṁsa*, *Paramahansa*, *Turīyātīta* and *Avadhūta* (passage- 23).<sup>9</sup>

However, now we will discuss about two of the 17 ups which are Atharvanic ups -

#### *Nāradaṣarivrājakoṇiṣad* :

This is bigger in size and it deals with the nine commandments of Nārada to the ācāryas like Śaunaka. 1<sup>st</sup> command is on *Videhamukti*, 2<sup>nd</sup> on 44 saṁskāras of human being starting from *garbhādhāna*. 3<sup>rd</sup> is *adhikārī* and *anadhikārī* of *sannyāsa*.<sup>10</sup> Wishful person is not eligible for *sannyāsa*(3.13) as *vitṛṣṇā* is the primary cause of recluse. In the 4<sup>th</sup> command, *Parivrājaka dharma*, *Yati dharma*, *Āśramānusārī sannyāsa*, feature of *Paramahansa*, four types of *Sannyāsa*, mentioned earlier, are depicted in detail here. Six types of sannyasins are mentioned in the 5<sup>th</sup> command. 6<sup>th</sup> command deals with

the way of renunciation. In the 8<sup>th</sup> command, we get a detail description on *praṇava* (*Om*).<sup>11</sup> Each letter is a symbol of Brahma there. Command 9<sup>th</sup>, is on *Brahmasvarūpa* (13 verses depict, the character of Brahma).

Even a few versions like - *tatra ko mohaḥ kaḥ śoka ekatvamanuṣāyataḥ* or *aṇoraṇyān mahato mahīyān* are verbaton to prime ups. It ends with *kaivalyaprāpti*.

#### **Paramahamsopanīṣad :**

It does not differ much from *Nāradaṣarivṛājakoṣanīṣad*. Here we get the features of *parivṛājaka*, six types of sannyasins, Brahman, *praṇava* etc.

#### **Conclusion :**

From the stylistic point of view, these ups are composed both in prose and verse. They gather or refer from earlier ups or *Gītā*. One interesting thing is that the content does not vary too much from one up. to another. But the importance of these ups is enormous, as in earlier ups, we donot have sufficient materials on *sannyāsa*, what is important part of Indian ascetic life. Thus, those who wants to know about the Indian *sannyāsa* system and their variety, can get enough material from these ups.

#### **End Notes & References**

1. The list of Paul Deussen and Yogiraj Basu, differs.
2. source - Paul Deussen, *Sixty Upanīṣads Of The Veda*.
3. In this regard *Gītā* says, *yogaḥ karmasu kauśalam*.
4. *Minor Upanīṣads*, P.28
5. *History of Dharmaśāstra*, voll II, p. 422
6. Also, in the *Jābālopanīṣad*, IV.I, *brahmacaryaṁ samāpya grhīṭ grhī bhūtvā vanī bhavet vanī bhūtvā pravrajat*.
7. *The Sannyāsa Upanīṣad*, the book published from Adyar Library, in 1929, edited by T. R. Chintamani Dikshit.
8. *Brahmacaryaṁ samāpya grhī bhūtvā vānaprasthāśramametya vairāgyābhāvepi āśramakramānusāreṇa yaḥ saṁnyasyati sa karmasannyāsi* (*Sannyāsoṣanīṣad*, text, 22).
9. *sannyāsaḥ ṣaḍvidho vhavati kutīcakahūdakahaṁsaparamahāmsaturīyātītā-vadhūtāśceti*.
10. *Ṣaṇḍḥ patitōṅgavikalāḥ straiṇo badhirōarbhako mūkaḥ pāṣaṇḍāścakrī, liṅgī, vaikhānasaharadvijau, bhṛtakādhyāpakāḥ śīpiviṣṭōnagniko vairāgyavantīṭye te na sannyāsarhāḥ*. (*Nāradaṣarivṛājaka up.*, command, 3.1).
11. *Omiti Brahma Omīyekākṣaramantaḥ praṇavamī viddhi. Sa cāṣṭadhā bhidyate*. (*Nāradaṣarivṛājaka up.*, command, 8.2).

#### **Bibliography**

- *A Critical Study of the Later Upanīṣads*- S. G. Desai, Bharatiya Vidya Bhavan, Mumbai, 1996

- *A History of Indian Philosophy* (vol. I) - S. N. Dasgupta, Cambridge University Press, London, 1951
  - *History of Dharmaśāstra* (Voll. 11), part 1 - P. V. Kane, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1974
  - *Minor Upaniṣads* - ed. Swami Madhavananda, Advaita Ashrama, Kolkata, 1988
  - *Sannyāsa Upaniṣads* - (Hindu Scriptures on Asceticism and Renunciation), Translated with introduction and notes by Patrick Olivelle, Oxford University Press, 1992
  - *Sixty Upaniṣads of the Veda* - Paul Deussen, MLBD, Delhi, 1980
  - *Studies in the Upaniṣads* - Gobindagopal Mukhopadhyaya, Sanskrit college, Kolkata, 1960
  - *The Earlier and Later Upaniṣads : A Comparative Study* - Mrinalini Vivek Monohar, Bharatiya Kala Prakashan, New Delhi, 2011
  - *The Sannyāsa Upaniṣads* - ed. T. R. Chintamani Dikshit, Adyar Library, 1929
  - *Upaniṣad Granthāvalī* - ed. Swami Gambhirananda, Udvodhana Karyalaya, Kolkata, 2014
  - *Upaniṣad Saṁgraha* - ed. J. L. Shastri, MLBD, Delhi, 1670
  - *Vedamīmāṃsā* (1<sup>st</sup> part) - Anirvan, Sanskrit College, Kolkata, 1991
  - *Veder Paricaya* - Yogiraj Basu, Pharma KLM Pvt. Ltd., Kolkata, 2013
-

## आचार्यरामानन्द और उनकी शिष्य-परम्परा की सामाजिक समरसतापरक दृष्टि : एक समीक्षा

कान्ता फुलवरिया\*, डॉ. आशुतोष पारीक\*\*

### शोधसारांश

आचार्य रामानन्द और उनकी संत परम्परा ने तत्कालीन समाज में सामाजिक समरसता के लिए अभूतपूर्व कार्य किया है। तत्कालीन समाज की विकट परिस्थितियों में निश्चित रूप से संतों ने जो उपदेश दिए, वे कुरीतियों, भेदभावों, जातिगत दुराभावों, ऊँच-नीच व अशिक्षा पर गहरी चोट करने वाले थे। आचार्य रामानन्द के द्वारा लिखित ग्रन्थों, सम्प्रदाय में प्रसिद्ध उपदेशों, प्रसिद्ध शिष्य परम्परा के ग्रन्थों तथा आचार्य के द्वारा आचरित व्यवहारों के समावलोकन से सामाजिक समरसता का जो अनुभव हुआ है, वह ही यथामति प्रस्तुत किया गया है। ये समरसता के विचार वर्तमान समाज के लिए भी संजीवनी के समान हैं।

**बीज शब्द (Key Words) :** सामाजिक समरसता, प्रपत्ति, समभाव, सम्प्रदाय, परम्परा, स्वीकार्यता, वर्णाश्रम, सफलता।

### प्रस्तावना

प्रत्येक कालखण्ड की यह प्रमुख समस्या रही है कि समाज में समरसता कैसे स्थापित की जाए? जब सामाजिक समरसता नष्ट हो जाती थी, अर्थात् बली निर्बल को ग्रसने लगता था, परस्पर वैमनस्य चरम पर हो जाता था, चारों दिशाओं में अत्याचार का नग्न-ताण्डव होने लगता था, तब तात्कालिक परिस्थिति का नियन्त्रण करने हेतु अथवा समरसता स्थापित करने के लिए ही ईश्वर का या महापुरुषों का प्रादुर्भाव होता रहा है। ठीक इसी प्रकार लगभग तेरहवीं शताब्दी में मुगलों के अत्याचार से त्रस्त सामाजिक भेदभाव, ऊँच-नीच, शोषक-शोषित, तेरा-मेरा जैसे अनेकानेक आधारों पर विभिन्न वर्गों में विभाजित समाज को एक सूत्र में बाँधने के लिए प्रयागराज में श्रीपुण्यसदन एवं श्रीमती सुशीला के गृह में एक बालक का जन्म हुआ, वही आचार्य रामानन्द थे। जिन्होंने उस भीषण स्थिति का सामना किया और विभिन्न वर्गों में बँटे हुए समाज को एक करने का सम्पूर्ण प्रयत्न किया और बहुत सफल भी हुए। आचार्य रामानन्द के द्वारा सामाजिक समरसता स्थापित करने हेतु किए गये प्रयत्नों का एक अवलोकन उनके ग्रन्थों, उपदेशों और परम्परा के परिप्रेक्ष्य में यहाँ पर किया गया है।

### शोधालेख के उद्देश्य

१. आचार्य रामानन्द की वैचारिक पृष्ठभूमि से समाज को जोड़ना।

\* शोधार्थी, संस्कृत विभाग, महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर, राजस्थान

\*\* सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग, सम्राट पृथ्वीराज चौहान राजकीय महाविद्यालय, अजमेर, राजस्थान

२. आचार्य के द्वारा सामाजिक समरसता स्थापित करने के लिए किए गए प्रयत्नों को समाज के समक्ष लाना।
३. 'हम सभी एक हैं तथा एक मार्ग के अधिकारी हैं।' इस विचार का समाज में प्रसार करना।
४. कोई ऊँचा नहीं है, कोई नीचा नहीं है, सभी समान हैं तथा आचरणों से महान् हो जाते हैं, इन बातों से अवगत कराना।
५. सामाजिक समभाव स्थापित करना।

#### सामाजिक समरसता : एक अवलोकन

भारत वर्ष की संस्कृति के प्रधान अङ्ग के रूप में संत परम्परा एक सुदृढ स्तम्भ है। संतों के द्वारा समय-समय पर प्रत्येक आपत्ति-विपत्ति काल में भारतीय संस्कृति, संस्कार, धर्म की मर्यादाओं, आचार, व्यवहार, वर्णाश्रम धर्म, शिक्षा इत्यादि का संरक्षण तथा अभिवर्धन किया जाता रहा है। प्रत्येक कालखण्ड में किसी न किसी महापुरुष ने समाज को नई दिशा प्रदान की है। भारतवर्ष की संत परम्परा भी वैदिक विरासत है। वेदविहित सिद्धान्तों को आत्मसात् कर संतों ने जीवन के अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति हेतु विभिन्न मार्गों का साक्षात्कार किया है। साक्षात्कार मार्ग को लेकर ही विभिन्न मत-सम्प्रदायों की स्थापना की गई है, जिनका आश्रय लेकर मानव अपने अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करता है। मानव जीवन के लक्ष्य के रूप में चार पुरुषार्थों का प्रतिपादन भारतीय दर्शन व शास्त्रों ने किया है। चाणक्य नीति कहती है - 'धर्मार्थकाममोक्षेषु यस्यैकोऽपि न विद्यते। जन्म-जन्मनि मर्त्येषु मरणं तस्य केवलम्।'<sup>१</sup> अर्थात् जो मनुष्य इन चार पुरुषार्थों में से एक को भी सिद्ध न कर सका, उसका मर्त्यलोक में बारम्बार जन्म लेना मात्र मरने के लिए ही होता है। पुरुषार्थ सिद्धि के लिए ही शास्त्रों व महापुरुषों द्वारा मार्ग बताये गये हैं। इन्हीं मार्गों से संस्कृति व समाज का निर्माण होता है तथा समाज में समरसता स्थापित होती है। यही बात गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस में कही है - सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती। सभी मानव परस्पर प्रेम करते हैं तथा वेद विहित मार्ग का आश्रय लेकर अपने-अपने धर्म का आचरण करते हैं। समाज में समरसता की स्थापना करने हेतु संतों ने सतत् प्रयत्न किए हैं। जब भारत भूमि आक्रान्ताओं से व्यथित थी, तब उसी कालखण्ड में लगभग १३०० ईसवी के आस-पास आचार्य रामानन्द का जन्म हुआ। यह सम्प्रदाय द्वारा अनुमानित है, जन्म समय के विषय में मतभेद है। मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन के महान् संत के रूप में विख्यात हैं - स्वामी रामानन्द। इनके विषय में अत्यन्त प्रसिद्ध उक्ति है - द्रविड़ भक्ति उपजौ लायो रामानन्द।<sup>२</sup> उत्तर भारत में भक्ति के प्रचार का श्रेय स्वामी रामानन्द को जाता है। आचार्य रामानन्द के द्वारा वैष्णवमताब्जभास्कर, आनन्दभाष्य इत्यादि ग्रन्थ लिखे गए। आनन्दभाष्य के प्रारम्भ में आचार्य का परिचय लिखा है कि आनन्दभाष्यकार जगद्गुरुरामानन्दाचार्य जी का अवतार माघ कृष्ण सप्तमी विक्रम संवत् १३५६ में अतिसमृद्ध वशिष्ठ गोत्रीय विप्रवर शुक्ल-यजुर्वेद की वाजसनेयिशाखाध्यायी कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार प्रयागराज उत्तर प्रदेश में हुआ।<sup>३</sup> आचार्य के पिता का नाम पुण्यसदन तथा माता का नाम सुशीला था। आचार्य के विषय में आगमोक्ति है 'रामानन्दः स्वयं रामः प्रादुर्भूतो महीतले'<sup>४</sup> अर्थात् आचार्य रामानन्द भगवान् श्रीराम के अवतार हैं। आचार्य ने समाज के सभी वर्गों के लिए उद्घोष किया है - 'सर्वे प्रपत्तेरधिकारिणः सदा।'<sup>५</sup> मानवमात्र के लिए चार पुरुषार्थ ही लक्ष्य हैं जिनमें मोक्ष पुरुषार्थ प्रमुख एवं अन्तिम है। मोक्ष पुरुषार्थ की प्राप्ति के विषय में आचार्य ने प्रमुख

कारण भगवान् की प्रपत्ति को माना है। प्रपत्ति में सभी का अधिकार है, अर्थात् भगवान् की शरणागति सबको सुलभ है। बलहीन, बलवान्, ज्ञानी, मूर्ख, उच्च कुल, निम्न कुल कैसा भी हो सभी का प्रपत्ति में अधिकार है, अर्थात् जीवमात्र प्रपत्ति का अधिकारी है। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त आचार्य का सिद्धान्त है। स्वयं आनन्दभाष्य ग्रन्थ में विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के विषय में लिखा है -  
**एवञ्चाखिलश्रुतिस्मृतीहासपुराणसामञ्जस्याद् उत्पत्तिबलाच्च विशिष्टाद्वैतमेवास्य  
 ब्रह्ममीमांसाशास्त्रस्य विषयो न तु केवलाद्वैतम्।**<sup>६</sup> आचार्य रामानन्द ने सम्पूर्ण भारतवर्ष में एकता और समरसता की स्थापना केवल उपदेशों से नहीं की है अपितु अपने आचरण में करके प्रस्तुत किया है। आचार्य ने अखिल समाज को सुसंगठित करने के लिए समाज के सभी वर्गों से एक-एक शिष्य को अपनाया है तथा जिसे भी अपनाया, वह प्रत्येक व्यक्ति एक महान् संत एवं समाज को मार्ग दिखाने वाला महापुरुष हुआ। आचार्य के प्रमुख द्वादश अत्यन्त प्रसिद्ध शिष्य हुए हैं। ये सारे शिष्य दिव्य संत हुए तथा इन्होंने समाज में समरसता की स्थापना अपने व्यवहार, आचरण, उपदेश तथा साहित्य से की। प्रसिद्ध उन महापुरुषों के नाम हैं - अनन्तानन्दाचार्य, भावानन्दाचार्य, पीपाचार्य, सेन नाई, धन्ना, नाभादास, नरहर्यानन्द, सुखानन्द, कबीरदास, रैदास, सुरसुरानन्दाचार्य, पद्मावती इत्यादि अनेक शिष्यों के द्वारा समाज में समरसता स्थापित करते हुए उद्घोष किया। आचार्य ने 'जाँति पाँति पूँछै नहि कोई। हरि को भजै सो हरि का होई।'<sup>७</sup> वस्तुतः विषमतापूर्ण उस काल में जो कार्य आचार्य ने किया है वह अपने आप में अद्भुत है और अनुकरणीय है। आचार्य रामानन्द के शिष्यों के विषय में नाभादास जी विरचित भक्तमाल का पद्य कुछ इस प्रकार है -

श्री रामानन्द रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जगतरन कियो।  
 अनन्तानन्द कबीर सुखा सुरसुरा पद्मावति नरहरि।।  
 पीपावामानन्द रैदास धना सेन सुरसरि धरहरि।।  
 औरो शिष्य प्रशिष्य एकते एक उजागर।  
 विश्वमंगल आधार सर्वानन्द दशधा के आगर।।  
 बहुत काल वपु धारि कै प्रनत जनत को पार दियौ।।  
 श्री रामानन्द रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जगतरन कियो।।<sup>८</sup>

रामानन्द सम्प्रदाय विरक्तों का सम्प्रदाय है अर्थात् सब कुछ परित्याग कर श्रीराम जी की अनन्य शरणागति ही सम्प्रदाय का लक्ष्य है। प्रसिद्ध चतुःसम्प्रदाय में रामानन्द सम्प्रदाय अन्यतम है। इसके बावन द्वारे हैं। सम्पूर्ण जीवों में वैदिक मार्ग की स्थापना एवं भेदभाव रहित सामाजिक समरसता तथा जीवन की सारता हेतु आचार्य द्वारा उपदेश किया गया है। आचार्य सगुण के उपासक थे, किन्तु उनके शिष्यों में संत रैदास ने तथा संत कबीरदास ने निर्गुण भक्ति का आश्रय लिया। संत रविदास (रैदास) की प्रसिद्ध उक्ति है-  
 'मन चंगा तो कठौती में गंगा।'<sup>९</sup> जिसका मन पवित्र है, उसके हृदय में ईश्वर का निवास है। संत रविदास ने कर्म की प्रधानता बताते हुए कहा है - 'रविदास जन्म के कारन, होत न कोउ नीच। नर कूँ नीच करि डारि है, ओछे करम की कीच।'<sup>१०</sup> कोई भी प्राणी जन्म से नीच नहीं होता है, बल्कि उसके कर्म ही उसको नीच बना देते हैं। संत तुलसीदास ने साहित्य से समाज को उन्नत बनाने हेतु अद्भुत बारह ग्रन्थ

लिखे हैं जिनमें रामचरितमानस अनुपम है तथा जन-जन के हृदय में रामचरितमानस निवास करते हुए सांसारिक व्यवहार की शिक्षा देता है। इन्होंने लिखा है - 'सीय राम मय सब जग जानी। करहुँ प्रनाम जोरि जुग पानी।।'<sup>११</sup> जीवमात्र में ईश्वर का साक्षात्कार कर रहे हैं संत तुलसीदास। ब्रह्माण्ड के सभी जीव एक समान हैं। कोई भी नीच नहीं है। कोई भी ऊँचा नहीं है। सभी समान हैं। सभी समान आदर के अधिकारी हैं तथा सभी को सभी का आदर करना चाहिए, यह उद्घोष है सामाजिक समरसता स्थापित करने का। इतना ही नहीं अपितु सारा समाज सुखी हो ऐसा ही प्रयत्न राजा को करना चाहिए इस विषय में तुलसी दास जी लिखते हैं - जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी।।'<sup>१२</sup> अर्थात् जिस राजा के राज्य में प्रजा दुःखी रहती है, वह राजा नरक का अधिकारी होता है अर्थात् नरक में जाता है। इस बात संकेत कर रहे हैं संत तुलसीदास जी कि राजा का प्रथम कर्तव्य है कि समस्त प्रजा को समान भाव से सुखी रखे तथा प्रजारञ्जन ही राजा का प्रमुख कर्तव्य है। इसी प्रकार आचार्य रामानन्द के अन्यतम शिष्य संत कबीरदास ने सामाजिक समरसता की अद्भुत स्थापना की है। संत कबीरदास कहते हैं- हिन्दू कहै मोहि तुरक प्यारा, तुरक कहै रहमाना। आपस में दोउ लरि मरै मरम न कोउ जाना।।'<sup>१३</sup> अन्तिम तत्त्व में एकत्व है, इसी तथ्य की ओर संकेत किया है संत कबीर ने। यह नहीं चाहते समाज में वैमनस्य रहे। अखण्ड समाज में सर्वत्र समरसता की स्थापना का उपदेश दिया है। कबीरदास जी सामाजिक समरसता स्थापित करने हेतु किम्वा वास्तविक तत्त्व का उपदेश करने हेतु बहुत कुछ कहा है। वे साखियों के माध्यम से कह रहे हैं - जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान। मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान।।'<sup>१४</sup> ज्ञान की महत्ता को स्थापित कर रहे हैं कबीरदास जी। वस्तुतः ज्ञान का महत्त्व प्राचीन वैदिक वाङ्मय भी स्वीकार करता है। वैदिक वाङ्मय का उद्घोष है - 'ऋते ज्ञानान्मुक्तिः।'<sup>१५</sup> इस तरह कहीं न कहीं रामानन्द सम्प्रदाय के आचार्यों ने सरल व सरस भाषा में अत्यन्त उपयोगी तथा शास्त्र सिद्धान्तों से अनुमत बात को बड़ी ही आसानी से समाज में पहुँचाया है। साहित्य समाज का दर्पण है, इस बात की चरितार्थता सम्पूर्ण रामानन्द सम्प्रदाय के संतों के द्वारा विरचित साहित्य में विद्यमान है। सभी ने कुछ उपदेश देकर अथवा साहित्य की संरचना कर समाज को महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। इस तरह यह निर्विवाद तथ्य है कि आचार्य रामानन्द की सम्पूर्ण संत परम्परा सामाजिक सौहार्द तथा समरसता की स्थापना हेतु समर्पित है। यह भी विद्वानों का अनुभव है कि रामानन्द सम्प्रदाय का सामान्य मानवीय हेतु जो व्यवहार तथा मार्गदर्शन है वह सभी के द्वारा अनुकरणीय है। निश्चित ही आचार्य रामानन्द के उपदिष्ट मार्ग का आश्रय लेकर सम्पूर्ण समाज एक सूत्र में आबद्ध हो सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है। तत्कालीन विषम परिस्थिति में सामाजिक सौहार्द, प्रेम, सामरस्य की स्थापना करना चुनौतीपूर्ण था, किन्तु आचार्य ने किया और आज भी समाज को उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग की आवश्यकता है, जिससे एक सभ्य समाज का निर्माण हो सके। जहाँ पर सभी परस्पर प्रेम करने वाले हों, जहाँ उच्च निम्न की भावना का स्थान न हो, जहाँ पर वैमनस्य न हो, जहाँ ईर्ष्या, द्वेष, पाखण्ड न हो। इस प्रकार के सुसंस्कृत समाज की संरचना का आधार आचार्य का दर्शन है, ऐसा ही अनुभव है।

#### निष्कर्ष-

आचार्य रामानन्द की संत परम्परा में आचार्य रामानन्द से प्रारम्भ कर जितने भी संत महापुरुष हुए हैं, सभी ने अपने उपदेशों से सामाजिक समरसता का ही वरण किया है। सामाजिक समरसता केवल उपदेशों

तक ही सीमित नहीं रही, अपितु उन सभी महापुरुषों के आचरणों में भी प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हुई है। सभी महापुरुषों ने जाति-पाँति, ऊँच-नीच का भेदभाव मिटाते हुए एक सुन्दर, सभ्य, सद् व्यवहार युक्त, सामञ्जस्यपूर्ण, सुखी, हर्षोल्लास से परिपूर्ण, परस्पर नीति-प्रीति से युक्त समाज के निर्माण पर बल दिया है तथा तदर्थ अहर्निश प्रयत्न भी किया है। वर्तमान समय में भी रामानन्द सम्प्रदाय सर्वत्र उपदिष्ट सिद्धान्तों का पालन करते हुए अहर्निश समाज की एकता, अखण्डता और सामाजिक समरसता के लिए प्रतिबद्ध है। निष्कर्षशः यह कहा जा सकता कि इन महापुरुषों द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का आश्रय लेकर एक सर्व सद्गुणों से परिपूर्ण समाज का निर्माण हो सकता है। अतः इन महापुरुषों के द्वारा सुझाए गए मार्ग से एक सभ्य, सुसंगठित, सौमनस्य, सामञ्जस्य, समरसतापूर्ण समाज के विनिर्माण हेतु इनके द्वारा उपदिष्ट मार्ग का आश्रय अवश्य लेना चाहिए। इति शम्।।

### सन्दर्भ-सूची

१. चाणक्य नीति, ३.२०
२. सम्प्रदाय में प्रसिद्ध अभ्युक्ति।
३. आनन्दभाष्य के संक्षिप्त परिचय शीर्षक में, प्रकाशक, डॉ. राघवाचार्य वेदान्ती, जगद्गुरु अग्रदेवाचार्य श्रीजानकीनाथ बड़ा मन्दिर, रेवासा (सीकर), सन् २०१६
४. आगमोक्तिः।
५. श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर, ४.५०
६. आनन्दभाष्य, १.१.१
७. सम्प्रदायोक्तिः।
८. नाभादास, भक्तमाल, छप्पय ३१, पृष्ठ सं. २८८
९. शुकदेव सिंह, संत रविदास वाणी, राधाकृष्णन् प्रकाशन, नई दिल्ली।
१०. रविदास के दोहे, संत रविदास रत्नावली, प्रभात प्रकाशन, सन् २००८
११. रामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा- ७
१२. श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा- ७०
१३. कबीर के दोहे, प्रकाशक, डायमन्ड पॉकेट बुक, सन् २०१७
१४. साखियाँ कबीरदास विरचित।
१५. शुक्लयजुर्वेद, ३९.१८

### सहायक ग्रन्थ-सूची

- सम्पूर्ण चाणक्य नीति, प्रकाशक, ई-बुक, सन् २०२१
- आनन्दभाष्यम्, प्रकाशक, डॉ. राघवाचार्य वेदान्ती, जगद्गुरु अग्रदेवाचार्य श्रीजानकीनाथ बड़ा मन्दिर, रेवासा (सीकर), सन् २०१६
- श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर, प्रकाशक, जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्मारक सेवा सदन न्यास, श्रीमठ काशी।
- रामानन्द दर्शन दीपक, प्रकाशक, जगद्गुरु रामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.), सन् २०१३

- संत रविदास वाणी, राधाकृष्णन् प्रकाशन, नई दिल्ली।
  - कबीर के दोहे, प्रकाशक, डायमन्ड पॉकेट बुक, सन् २०१७
  - रामचरितमानस, प्रकाशक, गीताप्रेस गोरखपुर, सन् २०००
  - श्रीरामस्नेहधर्मप्रकाश, प्रकाशक, आचार्य पीठ, श्रीरामधाम सीथल, सीथल, श्रीआनन्दाश्रम, बीकानेर, सन् १९३१
  - चतुःसम्प्रदाय दिग्दर्शन, प्रकाशक, जगद्गुरु अग्रदेवाचार्यपीठ, श्रीजानकीनाथ बड़ा मन्दिर, रेवासा धाम, सीकर, (राजस्थान), सन् २०१३.
  - श्रीमठ स्मारिका, प्रकाशक, पञ्च गङ्गाघाट वाराणसी, सन् २०१३
  - श्रीमद्भगवद्गीता, प्रकाशक, गीताप्रेस गोरखपुर, सन् १९९०
  - श्रीमद्भागवत महापुराण, प्रकाशक गीताप्रेस, सन् २००३
  - सर्वदर्शन संग्रह, प्रकाशक, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, २००४
  - डॉ. सियारामदास नैयायिक, भ्रान्तिगिरि भङ्ग, श्रीमणिराम प्रकाशन, श्रीवामदेव आश्रम, प्रमोदवन, अयोध्या, सन् १९९८
  - डॉ. शिवसागर त्रिपाठी, वेदान्तसार, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर, सन् २०१०
  - पं. मोतीलाल जोशी, रामानन्द सौरभ, राजस्थान संस्कृत साहित्य सम्मेलन, सन् २०१०
  - शुक्लयजुर्वेद, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, २०१३
  - रामकिशोर शर्मा, कबीर ग्रन्थावली, लोक भारती प्रकाशन, २००६
-

## जैनदर्शन में प्रामाण्यवाद

जया सिंह\*

जैन दर्शन के अनुसार चैतन्य जीव का सारतत्त्व है और चैतन्य की अभिव्यक्ति दो प्रकार की होती है- दर्शन और ज्ञान।<sup>१</sup> दर्शन में सूक्ष्म विवरण नहीं रहता, ज्ञान में रहता है। दर्शन एक साधारण बोध है जबकि ज्ञान धारणात्मक बोध है। ज्ञान दो प्रकार का होता है- यथार्थ और अयथार्थ। जो ज्ञान सही एवं निर्णायक है वह यथार्थ है तथा जिसमें संशय, विपर्ययादि होता है वह अयथार्थ ज्ञान है। संशयादि से रहित यथार्थ ज्ञान ही 'प्रमाण' है। प्रमा का सामान्य लक्षण इस प्रकार है - 'तद्वृत्ति तत्प्रकारकानुभवः प्रमा' जो वस्तु जैसी होती है उसको वैसे ही जानना 'प्रमा' है। करण का अर्थ साधकतम है। एक अर्थ की सिद्धि के लिए अनेक सहकारी होते हैं, किन्तु उन समस्त सहकारियों को करण नहीं कह सकते। 'करण' वह कहलाता है जिसका व्यापार फल की सिद्धि में विशेष रूप से उपकारक होता है। जैसे गन्ने के छीलने में हाथ और चाकू दोनों चलते हैं पर करण चाकू ही है। गन्ने को छीलने का निकटतम सम्बन्ध चाकू से है। हाथ साधक है और चाकू साधकतम है।

प्रमाण के सामान्य लक्षण के सम्बन्ध में दार्शनिकों में विवाद नहीं है। किन्तु करण के सम्बन्ध में एकमत नहीं है। नैयायिक सन्निकर्ष और ज्ञान दोनों को प्रमाण मानते हैं,<sup>२</sup> किन्तु जैन दर्शन ज्ञान को प्रमाण मानता है।

आचार्यों ने प्रमाण की अनेक परिभाषाएँ दी हैं। जैन दृष्टि से निर्णायक ज्ञान प्रमाण की आत्मा है। आचार्य विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में कहा है कि - पदार्थ का यथार्थ निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है।<sup>३</sup> यह प्रमाण का लक्षण पर्याप्त है। अन्य सभी विशेषण व्यर्थ हैं। तथापि परिभाषा के पीछे जो अनेक विशेषण लगे हैं उनके प्रमुख कारण हैं -

१. दूसरों के प्रमाण लक्षण से अपने लक्षण को अलग करना।
२. दूसरों के लाक्षणिक दृष्टिकोण का निराकरण करना।
३. बाध का निराकरण।

न्यायावतार में आचार्य सिद्धसेन ने स्व और पर को प्रकाशित करने वाले अबाधित ज्ञान को प्रमाण कहा है।<sup>४</sup> जैन दृष्टि से ज्ञान 'स्व अवभासि' है।<sup>५</sup> उसका स्वरूप ज्ञान ही है। ज्ञान अचेतन और जड़ प्रकृति का विकार नहीं है अपितु आत्मा का गुण है।<sup>६</sup> विपर्ययादि कहीं प्रमाण न हो जाए इसलिए बाधविवर्जित विशेषण का प्रयोग किया है। इस प्रकार सिद्धसेन ने उस समय में प्रचलित प्रमाण के लक्षणों से जैन प्रमाण लक्षण को पृथक् किया है।

जैन न्याय के प्रस्थापक अकलंक ने प्रमाण के लक्षण में 'अनधिगतार्थक' और 'अविसंवादि' दोनों

\* शोधच्छात्रा, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

विशेषण का प्रयोग किया है<sup>१७</sup> और कहीं 'स्वपरावभासक' विशेषण का भी समर्थन किया है।<sup>१८</sup> आचार्य अकलंक का अनुकरण करते हुए आचार्य माणिक्यनन्दी ने कहा कि स्व और अपूर्व अर्थ का निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है।<sup>१९</sup> इस लक्षण में सिद्धसेन और समन्तभद्र द्वारा स्थापित तथा अकलंक द्वारा विकसित जैन-परम्परा का संकलन किया गया है। वादिदेव सूरि ने स्व-पर-व्यवसायि ज्ञान को प्रमाण माना है।<sup>२०</sup>

परवर्ती काल में जैन दर्शन में दो धाराएँ प्रवाहित होने लगीं। दिगम्बराचार्य ग्रहीतग्राही धरावाहिक ज्ञान को प्रमाण नहीं मानते, जबकि श्वेताम्बर आचार्य उसे प्रमाण मानते हैं। दिगम्बर आचार्य विद्यानन्द ने स्पष्ट कहा है कि 'स्व और पर का निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है चाहे वह ग्रहीतग्राही हो, अथवा अग्रहीतग्राही।'<sup>२१</sup> आचार्य हेमचन्द्र ने लक्षणसूत्र का परिष्कार ही नहीं किया, अपितु उन्होंने अपनी मौलिक कल्पना और सूक्ष्म तर्कदृष्टि से ऐसी परिभाषा का निर्माण किया जो जैन प्रमाण लक्षण का अन्तिम परिष्कृत रूप कहा जा सकता है। उनका मत है - 'अर्थ का सम्यक् निर्णय प्रमाण है।'<sup>२२</sup>

अर्थ की दृष्टि से मौलिक मतभेद न होने पर भी सभी दिगम्बर और श्वेताम्बर आचार्यों के प्रमाण लक्षण में शाब्दिक भेद हैं, जो विचारों के विकासक्रम का प्रतीक है।

प्रमाण के उपर्युक्त लक्षणों का अवलोकन करने से सहज ही ज्ञात होता है कि ज्ञान और प्रमाण में अभेद है। ज्ञान का अर्थ सम्यग्ज्ञान है। ज्ञान स्वप्रकाशक होकर ही किसी पदार्थ को ग्रहण करता है। जैन दर्शन में ज्ञान को स्वपरप्रकाशक कहा गया है। जिस प्रकार दीपक घटादि पदार्थों को प्रकाशित करने के साथ-साथ अपने को भी प्रकाशित करता है। उसको प्रकाशित करने के लिए दूसरे दीपक की आवश्यकता नहीं होती वह स्वयं प्रकाशरूप होता है। इसी प्रकार ज्ञान भी प्रकाशरूप है, जो स्वप्रकाशन के साथ-साथ अर्थ को भी प्रकाशित करता है। जैन दार्शनिकों ने निश्चयात्मक ज्ञान को प्रमाण कहा है। वही ज्ञान प्रमाण हो सकता है जो निश्चयात्मक हो, व्यवसायात्मक हो, निर्णायक हो तथा सविकल्प हो।

प्रमाण के भेद-प्रभेदों पर चिन्तन करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि प्रमाण का फल क्या है? 'प्रमाणमीमांसा' में प्रमाण का मुख्य प्रयोजन अर्थप्रकाश बताया गया है।<sup>२३</sup>

अर्थ का सम्यक् स्वरूप समझने के लिए प्रमाण का ज्ञान अनिवार्य है। प्रमाण-अप्रमाण के विवेकाभाव में अर्थ के यथार्थ व अयथार्थ स्वरूप का परिज्ञान नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञान से निवृत्ति है। सभी ज्ञानों का यही साक्षात् फल है। पर परम्परा फल सभी ज्ञानों का एक नहीं है, केवलज्ञान का फल सुख और उपेक्षा है और अवशेष ज्ञानों का फल ग्रहण-बुद्धि और त्याग-बुद्धि है।<sup>२४</sup> जैन दर्शन के प्रमाणों की संख्या के विषय में तीन मत हैं - अनुयोग द्वार सूत्र में प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान इन चार प्रमाणों का उल्लेख है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने न्यायावतार में प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण माने हैं। उमास्वाति ने 'तत्त्वार्थसूत्र' में, वादिदेव सूरि ने 'प्रमाणनयतत्त्वालोक'<sup>२५</sup> में तथा आचार्य हेमचन्द्र ने 'प्रमाणमीमांसा' में प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो प्रमाण माने हैं। जो ज्ञान यथार्थ है उसे ही प्रमाण कहा गया है। जैन दृष्टि से सभी प्रमाण प्रत्यक्ष और परोक्ष में समा जाते हैं। अन्य दर्शनों की तरह जैन दर्शन भी प्रत्यक्ष को प्रमाण मानता है। अनुमान, आगम और उपमान ये सभी परोक्षान्तर्गत हैं। अर्थापत्ति अनुमान से भिन्न नहीं है, अभाव प्रत्यक्ष का ही एक अंश है। वस्तु, भाव और अभाव उभयात्मक है। दोनों का ग्रहण प्रत्यक्ष से ही होता है।

जैन दर्शन के प्रामाण्य विषयक सिद्धान्त का स्पष्ट उल्लेख सम्भवतः सर्वप्रथम विद्यानन्द ने

‘प्रमाणपरीक्षा’ नामक ग्रन्थ में किया है।<sup>१६</sup> इनके अनुसार ज्ञान का प्रामाण्य अभ्यासदशा में स्वतः सिद्ध होता है और अनभ्यास दशा में परतः होता है। इसके अनन्तर माणिक्यनन्दी ने भी अपने ‘परीक्षामुख’ नामक ग्रन्थ में ‘तत्प्रमाण्यं स्वतः परतश्च’<sup>१७</sup> इस प्रकार जैनदर्शन के प्रामाण्य सम्बन्धी सिद्धान्त का उल्लेख किया है। प्रभाचन्द्र के ‘न्यायकुमुदचन्द्र’ तथा ‘प्रमेयकमलमार्तण्ड’; परीक्षामुख की टीका दोनों ही ग्रन्थों में भारतीय दर्शन के प्रायः सभी सिद्धान्तों का सरल और स्पष्ट वर्णन है। फलतः जैनदर्शन के प्रामाण्यवाद सम्बन्धी मन्तव्य को जानने के लिए भी यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उत्तरकालीन आचार्यों में हेमचन्द्र सूरि ने प्रमाणमीमांसा में अत्यन्त संक्षिप्त किन्तु विशद् रूप में जैन दर्शन के प्रामाण्यवाद का निरूपण किया है। इस सिद्धान्त का सारांश है – अर्थक्रियाज्ञान तथा अभ्यासदशापन्न ज्ञान और अनुमान इनके प्रामाण्य का निश्चय स्वतः होता है। परन्तु अनभ्यास दशापन्न ज्ञान तथा शाब्दज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय परतः होता है।

(क) अर्थक्रिया ज्ञान तथा अभ्यासदशापन्न ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य – हेमचन्द्र सूरि ने प्रमाणमीमांसा वृत्ति में कहा है<sup>१८</sup> कि प्रामाण्य का निश्चय कहीं स्वतः ही हो जाता है, जैसे- अभ्यासदशापन्न अपनी हथेली आदि का ज्ञान है, क्योंकि हम बार-बार अपनी हथेली आदि को देखने के अभ्यासी हो जाते हैं। हथेली के ज्ञान में भ्रान्ति आदि का अवसर नहीं रहता और उस ज्ञान के प्रामाण्य में शंका नहीं होती, इसलिए अभ्यासदशापन्न ज्ञान स्वतः प्रमाण होता है। इसी प्रकार जलादि में जब स्नान तथा जल पीने से पिपासा की शान्ति इत्यादि अर्थक्रिया-विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वह भी स्वतः प्रमाण होता है।

(ख) अनुमान का स्वतः प्रामाण्य – हेमचन्द्रसूरि का कथन है कि सभी अनुमान ज्ञान स्वतः प्रमाण होते हैं। अनुमान में किसी प्रकार के संशय या भ्रान्ति आदि की शंका नहीं हो सकती, क्योंकि वह तो अविनाभावी लिंग से उत्पन्न होता है। लिंग का ज्ञान उसके हुए बिना नहीं हो सकता और वह लिंग या व्याप्य अपने साध्य; व्यापक के बिना नहीं हो सकता। इस प्रकार नियत हेतु से होने के कारण अनुमान ज्ञान में भ्रान्ति की आशंका ही नहीं हो सकती, अतः अनुमानज्ञान स्वतः प्रमाण होता है।<sup>१९</sup>

(ग) अनभ्यासदशापन्न ज्ञान का परतः प्रामाण्य – जो प्रत्यक्ष ज्ञान अभ्यासदशापन्न नहीं होता, अर्थात् प्राथमिक ज्ञान होता है, उसके प्रामाण्य का निश्चय किसी दूसरे ज्ञान से ही हुआ करता है। वही ज्ञान प्रमाण होता है, जो अर्थ में नियत होता है अर्थात् जैसा अर्थ है वैसा ही होता है। क्योंकि प्रथम ज्ञान का अर्थ के साथ नियत होना निश्चित नहीं होता, इसलिये उसकी यथार्थता स्वतः निश्चित नहीं की जा सकती। हेमचन्द्र सूरि ने उसके प्रामाण्य का ग्रहण कराने वाले तीन साधनों का उल्लेख किया है। उनमें प्रथम है – ‘तद्विषयक संवादक ज्ञान’ जब किसी व्यक्ति को श्रोत द्वारा यह ज्ञान होता है कि ‘यह वीणा का शब्द है’ फिर वह उस वीणा को आँखों द्वारा भी देख लेता है तो यहाँ नेत्रज्ञान के संवाद से श्रोत्रज्ञान का प्रामाण्य निश्चित हो जाता है। द्वितीय साधन है ‘अर्थ क्रिया-ज्ञान’, यथा – किसी व्यक्ति को ‘यह जल है’ ऐसा ज्ञान होता है, धूप और पिपासा से व्याकुल हुआ वह उस जल को लेने के लिए प्रवृत्त होता है वहाँ उसे जल प्राप्त होता है, उस जल से स्नान, पान आदि कार्य करके उसके संताप और पिपासा की शान्ति हो जाती है। इतने मात्र से ही वह कृतकृत्य हो जाता है फिर वह तपन और पिपासा की शान्ति के अनुभव की परीक्षा नहीं करता, इसलिए यह अर्थक्रिया ज्ञान स्वतः प्रमाण है। तृतीय साधन है ‘उस अर्थ के अविनाभावी अन्य पदार्थ का

ज्ञान', जैसे किसी व्यक्ति ने दूर से देखा कि यह जल है, किन्तु उसे अपने ज्ञान में संशय हो गया फिर उसने वहाँ कमल खिले देखे या जलपक्षी बैठे देखा अथवा मेंढकों की ध्वनि सुनी तो उसने निश्चय किया कि यहाँ अवश्य जल है। यहाँ अविनाभावी अर्थ के ज्ञान से जल-ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय होता है।

अनभ्यासदशापन्न ज्ञान का परतः प्रामाण्य मानने में अनवस्था-दोष नहीं होता, क्योंकि ये तीनों प्रकार के ज्ञान जिनसे प्रथम ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय होता है, स्वतः प्रमाण माने गये हैं।<sup>१०</sup>

(घ) शाब्दज्ञान का परतः प्रामाण्यः - हेमचन्द्रसूरि के अनुसार शाब्दज्ञान दो प्रकार का होता है - दृष्टार्थक और अदृष्टार्थक।

(क) जिस शब्द का बोध्य अर्थ इस लोक में दिखा देता है वह शाब्दज्ञान दृष्टार्थक है। उसका अर्थ के साथ नियत सम्बन्ध जानना कठिन है, क्योंकि कभी शाब्दज्ञान के अनुसार अर्थ की प्राप्ति होती है, कभी नहीं भी होती है। इसलिए ऐसे शाब्दज्ञान की प्रामाणिकता का निश्चय अन्य ज्ञान के संवाद से हुआ करता है। जैसे - किसी साधारण जन अनाप्त ने कहा कि 'इस वन में शेर है'। यह सुनने वाले व्यक्ति को उसके ज्ञान की यथार्थता का निश्चय नहीं हुआ, किन्तु वन में जाकर उसने सिंह की गर्जना से अथवा दूर से देखकर 'यहाँ सिंह है' ऐसा जान लिया। इस द्वितीय ज्ञान के संवाद से प्रथम ज्ञान की प्रामाणिकता का निश्चय हो जाता है।

(ख) जिस शब्द का बोध्य-अर्थ इस लोक में नहीं उपलब्ध होता, वह अदृष्टार्थक है, जैसे मुक्ति, स्वर्ग आदि विषयक वचन। ऐसे शब्दज्ञान के प्रामाण्य के निश्चय की प्रक्रिया यह है कि प्रथम तो किसी वक्ता के वचन से उत्पन्न होने वाले चन्द्रग्रहण इत्यादि विषयक ज्ञान का संवाद के द्वारा प्रामाण्य-निश्चय कर लिया जाता है, जिस समय उसने चन्द्रग्रहण इत्यादि बताया था, उसी समय उसकी प्राप्ति से उसके वचन की यथार्थता मान ली जाती है। फिर उसका जो वचन अदृष्टार्थ विषयक होता है, उसकी प्रामाणिकता आप्त होने के कारण ही मान ली जाती है उसमें अन्य ज्ञान के संवाद की अपेक्षा नहीं रहती। इस प्रकार शब्द से उत्पन्न होने वाले सभी ज्ञानों का परतः प्रामाण्य होता है।<sup>११</sup>

### सन्दर्भ

१. सर्वदर्शनसंग्रह, अर्हत् दर्शन, पृ. ४४
२. न्यायभाष्य, १.१.३
३. तत्त्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं मानमितीयता।  
लक्षणेनगतार्थत्वात्त्यर्थमन्यद्विशेषणम्॥ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१०.७४
४. 'प्रमाणं स्वपराभासिज्ञानं बाधविवर्जिततम्।' न्यायावतार।
५. स्यादवादमञ्जरी, कारिका ११
६. वही, कारिका १५
७. प्रमाणमऽविसंवादिज्ञानम्।
८. उक्तञ्च- सिद्धं यन्नपदापेक्षं सिद्धौस्वपररूपयोः तत्प्रमाणं ततौनान्यदाविकल्पमचेतनम्।  
न्यायविनिश्चयटीका, पृ. ६३
९. स्वपूर्वार्थं व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्। परीक्षामुख, १.१.१

१०. स्वपरव्यवसायिज्ञानं प्रमाणम्। प्रमाणनयतत्त्वालोक, १.२
  ११. ग्रहीतमग्रहीतं वास्वार्थयदिव्यवस्यतितन्त्रालोकेनशास्त्रेषु, विजहातिप्रमाणताम्। श्लोकवाखतक १.१०
  १२. 'सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्।' प्रमाणमीमांसा, १.१.२
  १३. 'फलमर्थप्रकाशः।' प्रमाणमीमांसा, १.१.३४
  १४. 'प्रमाणस्य फलं साक्षादज्ञानविनिवर्तनम्। केवलस्य सुखेपेक्षं, शेषस्यादानहानधीः।।' न्यायावतार, २८
  १५. 'तद्विभेदं प्रत्यक्षं च परोक्षं च।' प्रमाणनयतत्त्वालोक, २११
  १६. 'प्रामाण्यं तु स्वतःसि (मभ्यासात्यपरतो न्यथा।)' प्रमाणपरीक्षा, पृ. ६३१
  १७. परीक्षामुख, १.१.३
  १८. 'प्रामाण्यनिश्चयःक्वचित्स्वतःयथाभ्यासदशापन्नेस्वकरतलादिज्ञाने, स्नानापानावगाहनोदन्यो-  
पशमादावर्थ-क्रियानिर्भासेवाप्रत्यक्षाने।' प्रमाणमीमांसावृत्ति, १.१.८
  १९. प्रमाणमीमांसावृत्ति, १.१.८
  २०. वही।
  २१. वही।
-

## राज्य की उत्पत्ति : भारतीय दर्शन के परिप्रेक्ष्य में

डॉ. विश्वामित्र वैष्णव\*

### सारांश

“राज्य परिवारों एवं ग्रामों का समूह है जिसका उद्देश्य पूर्ण एवं आत्मनिर्भर जीवन की उपलब्धि है।”<sup>१</sup> मैक्सवेबर यह कहते हैं कि राज्य एक ऐसा मानव समुदाय है जो निर्दिष्ट भू-भाग में भौतिक बल के विधि सम्मत प्रयोग के एकाधिकार का दावा करता है। गार्नर के अनुसार राज्य ऐसे लोगों का समुदाय है जो साधारणतया बड़ी संख्या में हो, जिनका एक निश्चित भू-प्रदेश पर स्थायी अधिकार हो, बाहरी नियंत्रण से स्वतंत्र या लगभग स्वतंत्र हो और जिनकी एक संगठित सरकार हो तथा जिसकी आज्ञाओं का पालन अधिकांश जनता स्वभाव से करती हो। हीगल कहते हैं कि राज्य पृथ्वी पर ईश्वर का अवतरण है। उपर्युक्त प्रायः सभी विषयों पर आवश्यक सामग्री उपलब्ध है। लेकिन प्राचीन युग से आज तक यह सिद्ध हो गया है कि राज्य के बिना जीवन नहीं है राजनीतिशास्त्र मानवजीवन का अंग है। अरस्तु के अनुसार मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और राज्य प्रकृति की रचना है और मनुष्य प्रकृति से राजनीतिक प्राणी है। राज्य के उदय, प्रकृति, उद्देश्य, कार्य, आवश्यकता, महत्त्व की व्याख्या प्राचीन से आधुनिक समय का अनिवार्य विमर्श रहा है। चाहे पूर्वी विचार दर्शन हो या पाश्चात्य दर्शन हो। हम जानते हैं कि वर्तमान राज्य की अवधारणा १६४८ की वेस्टफेलिया की सन्धि पर आधारित है कि दुनिया सम्प्रभु राज्यों से बनी है और सम्प्रभु राज्यों में बँटी हुई है और राज्य सामाजिक व्यवस्था के व्यवस्थित होने की शर्त है। प्रस्तुत शोध का मुख्य लक्ष्य इस व्यवस्थित राज्य की उत्पत्ति के स्रोत को जानना है वह भी भारतीय चिंतन एवं दर्शन के संदर्भ में यद्यपि राज्य की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त, सामाजिक समझौता, ऐतिहासिक, विकासवादी तथा मार्क्सवादी जैसे सिद्धान्त प्रचलित हैं।

**मुख्य शब्द** - राजनीतिक प्राणी, सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक समझौता सिद्धान्त, ऐतिहासिक सिद्धान्त, विकासवाद, मार्क्सवाद।

### राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त - एक परिचय

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्त प्रचलित हैं जिनमें प्रमुख रूप से दैवीय सिद्धान्त, शक्ति अथवा बल सिद्धान्त, पैतृक-मातृक सिद्धान्त, सामाजिक समझौता, ऐतिहासिक, विकासवादी तथा मार्क्सवादी जैसे सिद्धान्त हैं। यह स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में धर्म और राजनीति में निकटता थी। इसी कारण विश्व में प्रचलित सभी धर्मों के ग्रन्थों आदि सभी में अधिकांशतः राजनीतिक सत्ता का मूल देवताओं का वरदान या आशीर्वाद माना गया है। शक्ति सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति का एक अन्य सिद्धान्त है जो यह मानता है कि युद्ध राजा को उत्पन्न करता है और समस्त राजनीतिक समाजों का मूल सफल युद्ध में होता है।

\* सहायक आचार्य, राजनीति विज्ञान, राजकीय कन्या महाविद्यालय सरवाड़, अजमेर, राजस्थान

वाल्टेयर स्वयं यह कहते हैं कि प्रथम राजा एक भाग्यशाली योद्धा था। राज्य की उत्पत्ति का पितृसत्तात्मक अथवा पैतृक सिद्धान्त अथवा पितृ-प्रधान सिद्धान्त यह मान कर चलता है कि राज्य का विकास परिवार से हुआ है। परिवार ही विकसित होते-होते राज्य बन गया राज्य परिवारों का समूह और परिवार अपने मुखिया-परिवार के सबसे बड़े पुरुष पिता के मार्ग निर्देशन में चलते रहे हैं। मातृसत्तात्मक सिद्धान्त परिवार का विकास मातृसत्तात्मक मानता है राज्य के विकास का कारण परिवार ही है और परिवार में माता की सत्ता प्रमुख होती है। राज्य की उत्पत्ति आदिमकालीन व्यक्तियों के बीच हुए समझौते या समझौतों का परिणाम है राज्य की उत्पत्ति की आवश्यकता पीड़ित, संघर्षशील आदि लोगों के बीच हुए समझौते के परिणाम है यद्यपि यह कल्पना पर आधारित है। राज्य का विकासवादी सिद्धान्त यह मानता है कि राज्य का ऐतिहासिक विकास हुआ है और इसी क्रम में राज्य की उत्पत्ति का यह ऐतिहासिक सिद्धान्त या विकासवादी सिद्धान्त है इसके अन्तर्गत सामाजिक प्रेरणा, रक्त सम्बन्ध, धर्म, शक्ति, आर्थिक गतिविधियाँ और राजनीतिक चेतना प्रमुख तत्त्व हैं जो कि वास्तव में मान्य भी हैं।

### राज्य की उत्पत्ति के संबंध में भारतीय चिंतन

राज्य की उत्पत्ति के संदर्भ में मनुस्मृति से यह सहज अनुमान होता है कि मनु ने राज्य की दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है मनु का यह मत है कि इस संसार में राज्य के न होने पर बलवानों के डर से प्रजाओं में व्याप्त असुरक्षा के कारण, संपूर्ण संसार की रक्षा के लिए ईश्वर ने राजा की सृष्टि की।<sup>२</sup> यह स्पष्ट है कि मनु ने राज्य की उत्पत्ति के स्थान पर राजा की उत्पत्ति का उल्लेख किया है। इस तथ्य से यह व्यक्त होता है कि मनु ने प्रसंग के अनुसार राजा और राज्य को पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयुक्त किया है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि मनु शासक के रूप में राजा और एक संप्रभु संस्था के रूप में राज्य के मध्य कोई सैद्धांतिक भेद नहीं करते। मनु ने राज्य की उत्पत्ति से पूर्व की भयावह अवस्था की कल्पना करके यह स्पष्ट कर दिया है कि एक संप्रभु संस्था के रूप राज्य के अस्तित्व में आने से मानव समुदाय शासक एवं शासित के रूप में विभक्त हो जाता है।<sup>३</sup> शासक की दैवीय उत्पत्ति का संकेत देते हुए मनु ने कहा है कि ईश्वर ने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और कुबेर का सारभूत नित्य अंश लेकर राजा की सृष्टि की।<sup>४</sup> मनु का कथन है कि समस्त देवों के नित्य अंश से रचित होने के कारण राजा तेज से सब जीवों को अभिभूत करता है।<sup>५</sup> मनु के अनुसार यह राजा देखने वाले के नेत्र तथा मन को सूर्य के समान संतप्त करता है, अतः पृथ्वी पर कोई भी इसे देखने में समर्थ नहीं है।<sup>६</sup> मनु के इन कथनों का यह स्पष्ट अर्थ है कि राजा जिस सत्ता का प्रतिनिधित्व करता है, उसे मनुष्यों द्वारा चुनौती नहीं दी सकती। इस अर्थ में वह संप्रभु शक्ति का प्रतीक है। मनु ने स्पष्ट किया है कि राजा अपनी सत्ता में अग्नि, आयु, सूर्य, यम, कुबेर और इन्द्र आदि की शक्ति को प्रतिबिंबित करता है, अतः उसका प्रभाव अक्षुण्ण है।<sup>७</sup>

मनुस्मृति के उपर्युक्त प्रसंगों से ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त प्रसंगों में मनु ने राजा शब्द का राज्य के अर्थ में प्रयोग किया है। अतः राजा के साथ दिव्य शक्ति के संयोग द्वारा मनु यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि राज्य की शक्ति का अतिक्रमण करना किसी भी व्यक्ति के लिये संभव नहीं है, क्योंकि इसके गंभीर दुष्परिणाम हो सकते हैं। मनु ने चेतावनी दी है अग्नि असावधानी से उसे स्पर्श करने वाले व्यक्ति को ही जलाती है, किन्तु राजाग्नि चिर-संचित धन-संपदा सहित कुल को ही जला देती है। मनु ने राजा शब्द को राज्य के संस्थागत अर्थ में प्रयोग करते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि शक्ति व प्रभाव वस्तुतः शासन के पद

पर बैठे हुए व्यक्ति का नहीं, अपितु राज्य सत्ता का है। मनु का कथन है कि साधारण मनुष्य मानकर राजा के पद पर प्रतिष्ठित बालक का भी कोई व्यक्ति अपमान न करे, क्योंकि यह वस्तुतः मनुष्य के रूप में स्थित दैवी शक्ति का ही प्रतिनिधि है।<sup>८</sup>

मनु ने राज्य की उत्पत्ति की प्रक्रिया का व्यवस्थित विवेचन नहीं किया है। राज्य की उत्पत्ति के प्रसंग में ईश्वरीय हस्तक्षेप का संकेत मनु के इस आग्रह को व्यक्त करता है कि जनता की गतिविधियों के उद्देश्यपूर्ण नियंत्रण का विचार सामान्य मानवीय विवेक की तुलना में उच्चतर व श्रेष्ठतर है। शासन के मूल विचार की श्रेष्ठता को ही मनु ने दिव्यता के रूप में परिभाषित कर दिया है। यह ध्यान देने योग्य है कि मनु ने राज्य की उत्पत्ति के संबंध में जिस दिव्यता का संकेत दिया है, वह पाश्चात्य विचारकों द्वारा प्रतिपादित डिवाइन राइट ऑफ दि किंग राजा की दिव्य सत्ता की धारणा का समरूप नहीं है। मनु शासन की निरंकुशता का समर्थन नहीं करते। मनु द्वारा राज्य संस्था के साथ जो जो दिव्यता संयुक्त की गई है, वह राज्य-सत्ता की दिव्यता है, राजा की नहीं। मनु ने राजा को केवल ऐसे अभिकर्ता के रूप में चित्रित किया है जो निर्धारित उद्देश्यों के लिये दिव्य सत्ता का समय-विशेष पर उपयोग करता है।<sup>९</sup>

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि मनुस्मृति राज्य की उत्पत्ति के संबंध में दिव्यता का उल्लेख तो करती है, किन्तु इस उल्लेख मात्र को दैवीय उत्पत्ति के व्यवस्थित सिद्धान्त की संज्ञा दिया जाना उचित नहीं है। वस्तुतः मनुस्मृति में राज्य की सत्ता को अति मानवीय व दिव्य मानते हुए, इस दिव्यता को शासक के लोककल्याणकारी दायित्वों को पवित्रता के रूप में परिभाषित कर दिया गया है।<sup>१०</sup> ऐसा प्रतीत होता है कि मनु ने राज्य के दैवीय उत्पत्ति के विचार को अंततः राज्य की प्रकृति के संविदा सिद्धान्त के रूप में परिवर्तित कर दिया है।

कौटिल्य ने राज्य की उत्पत्ति के समझौतावादी सिद्धान्त का संकेत दिया है। अर्थशास्त्र में उपलब्ध वर्णन के अनुसार संसार में अराजकता विद्यमान रहने की स्थिति में, भयंकर दुखों और निरंतर असुरक्षा की भावना से पीड़ित होकर जनसमुदाय ने मनु के समक्ष उपस्थित होकर उनसे राज-पद को धारण करने, तथा संप्रभु शक्ति के उपयोग के माध्यम से प्रजा के आचरण को नियन्त्रित और नियमित करने की प्रार्थना की। प्रजा ने मनु को आश्वासन दिया कि इसके प्रतिफल में जनता शासन के प्रति सदैव आज्ञाकारिता का भाव धारण करेगी, तथा निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार अपनी आय और अर्जित सम्पदाओं में से निश्चित भाग कर के रूप में राजा को प्रदान करेगी, ताकि उसे राजकीय दायित्वों को पूरा करने के लिये साधन उपलब्ध हो सकें।<sup>११</sup>

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि कौटिल्य राज्य को एक प्राकृतिक संस्था, या दैवीय उत्पत्ति का परिणाम नहीं मानते। राज्य की उत्पत्ति के कौटिल्य द्वारा किये गये विवेचन में दो तथ्य अंतर्निहित हैं।

१. राज्य मानवीय प्रयत्नों का परिणाम है, तथा मनुष्यों ने स्वयं राज्य की सत्ता को अपनी सुरक्षा और कल्याण के लिये स्वीकार किया है।

२. लोगों द्वारा राज्य के बाध्यकारी नियंत्रण को अपनी सुरक्षा और कल्याण के हित में स्वीकार करने के प्रस्ताव को स्वीकार कर लेने के परिणाम स्वरूप राज्य की उत्पत्ति हुई है। अतः यह स्पष्ट है कि कौटिल्य ने आधुनिक अनुबंधवादी विचारकों की तरह ही राज्य को सामाजिक अनुबंध का परिणाम माना है।<sup>१२</sup>

कौटिल्य ने राज्य से पूर्व की अवस्था का जो चित्रण किया है वह हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था से मिलता-जुलता है कौटिल्य ने कहा है कि उस अवस्था में मत्स्य न्याय प्रचलित था। इस स्थिति में औचित्य का नहीं, अपितु भौतिक शक्ति का बोलबाला था। ऐसे किसी संस्था के अभाव में जो दुर्बलों की रक्षा कर सके, दुर्बलों को बलवानों द्वारा पीड़ित किया जाता था।<sup>१३</sup> किन्तु राज्य की उत्पत्ति के विषय में हॉब्स और कौटिल्य के विवेचन में महत्वपूर्ण अन्तर भी विद्यमान है। हॉब्स ने राज्य से पूर्व की अवस्था को प्राकृतिक अवस्था माना है, जिसमें न राज्य था, न समाज और न ही उचित-अनुचित में भेद करने के लिये कोई मापदण्ड ही थे। कौटिल्य ने राज्य से पूर्व की अवस्था को प्राकृतिक अवस्था नहीं, अराजक अवस्था कहा है। इसका अर्थ यह है कि कौटिल्य ने यह नहीं माना कि उस अवस्था में समाज का भी अस्तित्व नहीं था। कौटिल्य और हॉब्स के दृष्टिकोण के मध्य अन्तर का महत्व राज्य की प्रकृति के विवेचन में परिलक्षित होता है। हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था में समाज या औचित्य के मापदण्डों का भी अस्तित्व में आने से पूर्व ही विद्यमान किन्हीं मापदण्डों को लागू करने के लिये नहीं उत्पन्न हुआ, अपितु औचित्य के मापदण्ड पहली बार राज्य द्वारा ही निर्धारित किये गये। इस प्रकार हॉब्स के अनुसार राज्य की शक्ति अनियंत्रित है, क्योंकि राज्य के बिना औचित्य के कोई मापदण्ड ही नहीं सकते थे। इसके विपरीत कौटिल्य ने स्पष्टतः प्रतिपादित किया है कि राज्य धर्म के द्वारा प्रजा के व्यवहार को नियंत्रित करता है। इस प्रकार धर्म राजकीय शक्ति के प्रजा पर प्रयोग की स्वाभाविक मर्यादा है। यह महत्वपूर्ण है कि कौटिल्य राज्य को धर्म का सृजनकर्ता नहीं अपितु धर्म का संरक्षक मानते हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि राज्य के एक संस्था के रूप में उत्पन्न होने से पहले भी, धर्म नैतिक मूल्यों, औचित्य के मापदण्डों तथा मानवीय आचरण के उपयोगी सिद्धान्तों के रूप में अस्तित्व में था। उस समय समस्या केवल यह थी कि धर्म को लागू करने वाली कोई संस्था नहीं थी। इस स्थिति के कारण मत्स्य न्याय प्रचलित हो गया था, तथा धर्म-बल की अपेक्षा, भौतिक बल लोगों के जीवन को प्रभावित करने लगा था। लोगों ने एक अनुबंध द्वारा राज्य की रचना करके धर्म की नैतिक शक्ति को ऐसा भौतिक अवलम्ब प्रदान कर दिया कि उसे दुष्ट, आततायी व समाज-कंटक चुनौती नहीं दे सके। अतः कौटिल्य ने राज्य की उत्पत्ति के प्रसंग में यह स्पष्ट कर दिया है कि राज्य एक निश्चित प्रयोजन को पूरा करने के लिए अस्तित्व में है। अतः वह प्राकृतिक संस्था नहीं है। कौटिल्य के अनुसार राज्य का उद्देश्य प्रजा की सुरक्षा व उसके कल्याण को सुनिश्चित करना है। कौटिल्य ने ज्ञान या विद्या की विभिन्न शाखाओं के विवेचन के प्रसंग में यह स्पष्ट किया है कि राज्य-संस्था का उद्देश्य, व्यक्तियों के लौकिक और पारलौकिक, नैतिक व भौतिक उद्देश्यों की पूर्ति तथा उनके मध्य न्याय-सम्मत संतुलन को बनाए रखना है। इन प्रयोजनों की पूर्ति सही ढंग से, आन्वीक्षिकी से निर्देशित होकर ही की जा सकती है। इस प्रकार कौटिल्य जनता के सर्वाङ्गीण कल्याण तथा समाज में न्याय के सिद्धान्तों को लागू करने को राज्य के अस्तित्व का मुख्य आधार मानते हैं।<sup>१४</sup>

शुक्रनीति में राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन नहीं किया गया है। राज्य की उत्पत्ति के विषय में शुक्रनीति से पहले के ग्रन्थों में व्यक्त किये गये सिद्धान्तों का न तो इस ग्रन्थ में समर्थन किया गया है और न ही खण्डन। संपूर्ण ग्रन्थ में मात्र एक श्लोक ऐसा है जिसे राज्य की उत्पत्ति से संबंधित माना जा सकता है। एक स्थान पर ग्रन्थ में कहा गया है कि प्रजाओं से अपना वार्षिक कर, वेतन के रूप में स्वीकार करने से स्वामी के रूप में स्थित राजा को ब्रह्मा ने प्रजाओं के पालनार्थ सेवक बनाया है।<sup>१५</sup> वस्तुतः

यह श्लोक भी राज्य की उत्पत्ति के व्यवस्थित सिद्धान्त को नहीं अपितु शासक की स्थिति को व्यक्त करता है। ग्रन्थ में राज्य की उत्पत्ति के प्रश्न की प्रायः उपेक्षा की गई है। शुक्रनीति में राज्य को अनिवार्य संस्था माना गया है। राज्य की अनिवार्यता को प्रमाणित करते हुए शुक्र ने व्यक्त किया है कि राज्य एक स्वाभाविक संस्था है। ग्रन्थ में कहा गया है कि इस संसार के अभ्युदय का आधार राज्य है। राज्य की तुलना इस प्रसंग में चन्द्रमा से करते हुए यह व्यक्त किया गया है कि जिस प्रकार चन्द्रमा समुद्र की वृद्धि का कारण है, उसी प्रकार राज्य लोगों के अभ्युदय का मूल आधार है। राज्य को भौतिक सुरक्षा के लिए नहीं, अपितु प्रजा के नैतिक उत्थान के लिए भी उत्तरदायी माना है।<sup>१६</sup>

महाभारत के शांतिपर्व में राजा की दैवी उत्पत्ति का संकेत मिलता है जब संसार में मात्स्य-न्याय का बोलबाला हुआ तब ईश्वर ने शांति, व्यवस्था न्याय और सुरक्षा कायम करने के लिए धर्म की स्थापना की और उसके साथ विराजस नाम के राजा की उद्भावना की। मत्स्य न्याय की स्थिति में सभी मनुष्यों की रक्षा करने के लिए ईश्वर ने राजा की नियुक्ति की है।

### राज्य की उत्पत्ति के सन्दर्भ में पाश्चात्य दर्शन

राज्य की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त की कल्पना यूरोपीय और भारतीय दोनों परंपराओं में मिलती है, हालांकि इन दोनों में निहित संदेश भिन्न-भिन्न हैं। इनके अलावा, यहूदी धर्मग्रंथों में स्वयं ईश्वर को राजा माना गया है। प्राचीन मिश्र की परंपरा में भी राजा को सूर्य देवता का पुत्र माना गया है और जैसा कि चीन में भी सम्राट को स्वर्ग-पुत्र के रूप में सराहा गया है। यूरोप में दैवी सिद्धान्त का संबंध राजतंत्र से है। शासक की सत्ता इतनी ऊँची है कि वह अपने कार्यों के लिए संसार की किसी सत्ता के प्रति उत्तरदायी नहीं, बल्कि वह केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है जिसका संकेत अनेक धर्म ग्रन्थों में भी मिलता है। सर राबर्ट फिल्मर अपनी चर्चित कृति पैट्रियार्का १६८० में इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं।

यूरोपीय परंपरा के अनुसार राज्य की उत्पत्ति बल प्रयोग से हुई है। अर्थात् जिस मनुष्य ने अपनी अजेय शक्ति से दूसरों को पराधीन बनाया, वही सबसे पहले राजा बना। यूरोपीय विचार भी राज्य की उत्पत्ति को युद्ध माना है जर्मनी विद्वान् ओपेनहाइमर, आस्ट्रियाई समाज शास्त्री गुंफ्लोविच तथा अमरीकी विद्वान् स्मॉल और वार्ड के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। भारत में बल-प्रयोग सिद्धान्त को दूसरे ही रूप में प्रस्तुत किया गया है। दंड का अर्थ है डंडा जो दूसरों को वश में करने, उन पर अपना आदेश चलाने और उन्हें अपने नियंत्रण में रखने की शक्ति का प्रतीक है यही कारण है कि यहाँ राजनीति को दंडनीति और राजा को दंडधर कहा गया है। मनुस्मृति के अनुसार दंड ही राजा है और वह सृष्टि का नियामक है। आचार्य मनु, शुक्र और कौटिल्य ने लिखा है कि दंड के भय से ही संसार धर्म का पालन करता है जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन और संपत्ति को सुरक्षित अनुभव करता है। दंड ने सारे संसार को जीत रखा है, लेकिन दंड की स्थापना धर्म की रक्षा के लिए हुई है। अतः उसे अधर्म या अत्याचार का साधन नहीं बनाया जा सकता है।<sup>१७</sup>

अनुदारवादी विचारक राज्य को ऐसी संस्था मानते हैं जिसे सब मनुष्यों या उनके समूहों ने मिलकर अपनी हित और लाभ के लिए बनाया है। यह विचार राज्य के यंत्रीय सिद्धान्त के साथ जुड़ा है। सामाजिक अनुबंध या सामाजिक समझौते का सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति के बारे में ऐसी परिकल्पना को व्यक्त करता है। अग्रेंज विचारक टॉमस हॉब्स, जॉन लॉक, रूसों, स्पेंसर, जॉन रॉल्स और राबर्ट नॉजिक महत्त्वपूर्ण

विचारक हैं।

राज्य की उत्पत्ति का विकासात्मक एवं ऐतिहासिक सिद्धान्त राज्य को अन्य मानव संस्थाओं की तरह ऐतिहासिक विकास का परिणाम मानता है। इसके अनुसार राज्य न तो कोई दैवी संस्था है, न बल-प्रयोग का परिणाम है, न ऐसा साधन है जिसे मनुष्यों ने सोच-विचारकर और मिल-जुलकर एक साथ बना डाला हो। वास्तव में राज्य मनुष्य के सामाजिक जीवन के क्रमिक विकास का स्वाभाविक परिणाम है। मनुष्य ने राज्य का आविष्कार नहीं किया बल्कि उसने अपने सामाजिक जीवन को संगठित करने की प्रक्रिया में धीरे-धीरे संगठन के जो विविध रूप विकसित किये हैं, उन्हीं में से राज्य अपने-आप विकसित हुआ है। जैसे मनुष्यों ने अपनी भाषा का आविष्कार नहीं किया बल्कि आपस में बोलते-बोलते उन्होंने शुरू-शुरू में कुछ ऐसे शब्द और वाक्य निश्चित किए जिनका वे समाज अर्थ लगाते थे, फिर उन्हें प्रयुक्त करते-करते उन्होंने पहले-पहल सामाजिक संगठन के कुछ रूप अपनाए, और फिर उनमें से राज्य का विकास हुआ। मनुष्य ने राज्य का सृजन नहीं किया बल्कि राज्य का वर्तमान रूप युग-युगांतर तक चलने वाले ऐतिहासिक परिवर्तनों की लंबी श्रृंखला का एक सिरा है। इस दृष्टिकोण के अनुसार न तो राज्य की उत्पत्ति के किसी विशेष समय का पता लगाया जा सकता है, न किसी विशेष कारण का। यह विभिन्न तत्त्वों के प्रभाव से युग युगांतर के दौरान अपने वर्तमान रूप में विकसित हुआ है। जिनमें स्वजन समूह, धर्म, युद्ध और राजनीतिक चेतना की विशेष भूमिका रही है। विभिन्न लेखकों ने ऐतिहासिक और मानव वैज्ञानिक प्रमाणों के आधार पर उपर्युक्त तत्त्वों की भूमिका को स्पष्ट करते हुए राज्य की उत्पत्ति का भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक विवरण दिया है। परन्तु उदारवादी और मार्क्सवादी विचारकों ने इस विषय को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखा है। आर. एम. मैकाइवर और और फैडिक एंगेल्स महत्त्वपूर्ण हैं।<sup>१८</sup> मार्क्सवादी राजनीति-सिद्धान्त यह मानकर चलते हैं कि राज्य कोई प्राकृतिक संस्था नहीं है जो सामाजिक जीवन की अनिवार्य शर्त रही हो। इसके विपरीत, राज्य एक ऐसी संस्था है जिसकी उत्पत्ति एक विशेष परिस्थिति में हुई और उसकी स्पष्ट छाप इसमें देखने को मिलती है। राज्य की उत्पत्ति न तो किसी नैतिक उद्देश्य की सिद्धि के लिए हुई है, न मनुष्यों की इच्छा की पूर्ति के लिए। यह न तो उच्च विवेक की अभिव्यक्ति है, न उच्च इच्छा की इसके विपरीत, राज्य एक ऐसी संस्था है जो एक वर्ग के द्वारा दूसरे वर्ग के दमन और शोषण के लिए स्थापित की जाती है।

### निष्कर्ष

राज्य की दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त को अब कहीं मान्यता नहीं दी जाती है, क्योंकि यह केवल धार्मिक विश्वास का विषय है, तर्क या प्रमाणों पर आधारित नहीं है यूरोप में इसका दुरुपयोग कर कई शासक अत्याचारी हुए। इस संदर्भ में भारतीय परंपरा अधिक युक्तिसंगत है, क्योंकि इसमें राजा का दैवी अधिकार वहीं तक मान्य है जहाँ तक राजा स्वयं अपने कर्तव्य का पालन करता है। यह सिद्धान्त प्रजा को अपने अत्याचारी राजा को हटाने का अधिकार देती है। बल प्रयोग सिद्धान्त भारत में दूसरे रूप में प्रस्तुत किया गया है। यहाँ बल प्रयोग के विचार को दंड की संज्ञा दी गई है। बल प्रयोग के आधार पर राज्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त आज के युग में मान्य नहीं है, हालांकि मार्क्सवादी विचारधारा के अंतर्गत इसे संशोधित रूप में स्वीकार किया जाता है। मार्क्सवादी राज्य की उत्पत्ति में आर्थिक शक्ति के प्रयोग को प्रमुखता देते हैं। बल प्रयोग का यूरोपीय सिद्धान्त राज्य-शक्ति को नंगी तलवार की ताकत से तोलता है। यह मान सकते हैं कि राज्य की उत्पत्ति में सैन्य शक्ति का भी हाथ भी रहा है, क्योंकि किसी बड़े समुदाय को नियंत्रित करने

के लिए इस शक्ति का प्रयोग जरूरी है। सामाजिक समझौते का सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति की जो व्याख्या देता है उससे उदारवादी मान्यताओं की पुष्टि तो होती है परन्तु यह सिद्धान्त कई दृष्टियों से युक्तियुक्त नहीं है। मुख्यतः इसकी आलोचना ऐतिहासिक, कानूनी और दार्शनिक या तार्किक आधार पर की जाती है।

वस्तुतः राजनीतिक चिंतन के इतिहास में सामाजिक समझौते का सिद्धान्त उस ऐतिहासिक मोड़ पर प्रस्तुत किया गया जब सामंती व्यवस्था दम तोड़ रही थी और पूंजीवादी व्यवस्था अपने पाँव जमा रही थी। राज्य की उत्पत्ति के विषय में विकासात्मक सिद्धान्त वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय और मानव वैज्ञानिक साक्ष्य के आधार पर राज्य की निर्माण प्रक्रिया का पता लगाता है। जहाँ राज्य की उत्पत्ति के अधिकांश अन्य सिद्धान्त-जैसे कि दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त, बल प्रयोग का सिद्धान्त और सामाजिक सुरक्षा का सिद्धान्त कोरी कल्पना पर आधारित है, प्रस्तुत सिद्धान्त वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित है, इसलिए यह अधिक युक्तियुक्त और विश्वसनीय है, परन्तु विकासात्मक सिद्धान्त के समर्थक भी राज्य की उत्पत्ति का कोई सर्वसम्मत विवरण नहीं दे पाएँ हैं, जैसा कि वैज्ञानिक विवरण में होना चाहिए।

### सन्दर्भ

१. अरस्तु -पॉलिटिक्स।
२. मनुस्मृति, ७.३
३. पृ. सं. ३, प्रो. मधुकर श्याम चतुर्वेदी, प्रमुख भारतीय राजनीतिक विचारक।
४. तथैव
५. मनुस्मृति, ७.३
६. मनुस्मृति, ७.८
७. उपर्युक्त एवं, पृ. सं. ४, प्रो. मधुकर श्याम चतुर्वेदी, प्रमुख भारतीय राजनीतिक विचारक।
८. कौटिल्य अर्थशास्त्र, प्रथम अधिकरण, चतुर्थ अध्याय, १७ से १८।
९. पृ. सं. ५, प्रो. मधुकर श्याम चतुर्वेदी, प्रमुख भारतीय राजनीतिक विचारक।
१०. पृ. सं. ६२, प्रो. मधुकर श्याम चतुर्वेदी, प्रमुख भारतीय राजनीतिक विचारक।
११. पृ. सं. ६०, ६२ और ६५, प्रो. मधुकर श्याम चतुर्वेदी, प्रमुख भारतीय राजनीतिक विचारक।
१२. उपर्युक्त, पृ. सं. ६० एवं ६२
१३. कौटिल्य अर्थशास्त्र, प्रथम अधिकरण, चतुर्थ अध्याय १७ से १८।
१४. ओमप्रकाश गाबा, राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा।
१५. शुक्रनीति, १.६५
१६. शुक्रनीति, ११.६६
१७. ओमप्रकाश गाबा, राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा।
१८. ओमप्रकाश गाबा, राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा, पृ. सं. २०२

## प्राचीन भारत में आभूषण परम्परा का विकास

अंकिता मीना\*

### सारांश

सौन्दर्य के प्रति मानव की अनुरक्ति और अभिरुचि अनेक रूपों में अभिव्यक्त होती है। इससे शरीर सज्जा के लिए किया गया शृङ्गार सम्मिलित है। यह आभूषण शृङ्गार का एक फलक लिये हुए है। सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में आभूषणों का शृङ्गारिक मोह जितना भारत में दिखाई देता है उतना विश्व के अन्य प्रदेशों में नगण्य है। भारत में मानव द्वारा आभूषण धारण करने के प्रमाण प्रागैतिहासिक युग से ही प्राप्त होते हैं। न केवल प्रागैतिहासिक काल वरन् वैदिक काल, महाकाव्य काल, जनपद काल, उत्तर मौर्यकाल, कुषाण काल, गुप्त एवं उत्तर गुप्तकाल में हमें निरन्तर आभूषणों की जानकारी मिलती है। ये आभूषण कैसे थे? इनका स्वरूप क्या था? ये कौन-कौन सी धातु से बनाये जाते थे? वर्गों के अनुसार इनका विभाजन क्या था? इन सब बातों को जानने व समझने का प्रस्तुत शोधपत्र में प्रयास किया गया है। विभिन्न कालखण्ड में ये शरीर के किस भाग में पहने जाते थे इसकी मीमांसा की गयी है।

संकेताक्षर : आभूषण, पुरातात्विक साक्ष्य, साहित्य, धातु आदि।

### प्रस्तावना

आभूषणों का मनुष्य के जीवन के चार प्रमुख पक्षों - शक्ति, समृद्धि, धर्म एवं स्वास्थ्य से निकट का सम्बन्ध है। पारिवारिक सुख-शान्ति में वृद्धि हेतु इन्हें धारण करना एवं मानव जीवन के प्रमुख संस्कारों से इनका सम्बन्ध आभूषणों के महत्त्व को सहज ही अभिव्यक्त करता है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में कहा गया है-

रेखा व वर्तना चैव भूषणं वर्णमेव च, विज्ञेय मनुजश्रेष्ठचित्रकर्मसु।

रेखा प्रशसन्त्याचार्या वर्तना च विचक्षणा, स्त्रियोभूषमिच्छन्ति वर्णाढ्यमितरे जनः।।

अर्थात् चित्र में विद्वान् पुरुष रेखा व वर्तना ढूँढते हैं। सामान्य जन तेज रङ्गों की प्रशंसा करते हैं, जबकि स्त्रियोचित रुचि वाले व्यक्ति का ध्यान अङ्कित चित्र में पहने हुए आभूषणों की ओर सर्वप्रथम जाता है। यह सन्दर्भ इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि आभूषण मनुष्य के मानसिक और आत्मिक विस्तार एवं सतत् विकासशील सौन्दर्याभिरुचि को बहुत सूक्ष्मता से रेखांकित करते हैं। आभूषण शारीरिक अलङ्करण मात्र नहीं है वरन् यह मनुष्य के भाव लोक को सुघड़, सहज, मौलिक और मूर्तरूप में सामाजिक चेतना एवं स्वीकृति के साथ प्रकट करने का रचनात्मक उपक्रम भी है।

मनुष्य का आभूषणों के प्रति आकर्षण ५००० वर्ष पूर्व प्राग्वैदिक काल से ही विद्यमान रहा है। भारत में स्त्री-पुरुष दोनों के द्वारा प्राचीन काल से ही आभूषण धारण किये जाते थे। यहाँ विभिन्न कालखण्डों में आभूषणों की विकास यात्रा का निम्नलिखित रूप से विस्तृत विवेचन किया जाना अपेक्षित है।

\* शोधार्थी, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, राजस्थान

सभ्यता के प्रारम्भिक चरणों में स्वयं को अलंकृत करने के लिए मनुष्य ने विभिन्न प्रकार के पुष्प-पत्रों, अस्थियों, मनकों आदि का प्रयोग आभूषण के रूप में किया गया है। मेहरगढ़ के नवपाषाणिक शवाधानों में विभिन्न पुरावशेषों के साथ शंख-सीप के मनकों के हार, प्रस्तर व अस्थि की लटकनियाँ एवं पॉजैब के साथ ही नीलमणि के मनके तथा नवपाषाणिक स्तर के प्रथम काल से ताम्र मनके की प्राप्ति प्रागैतिहासिक संस्कृति में आभूषणों के प्रयोग का स्पष्ट प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। इनके साथ ही दक्षिण भारतीय नवपाषाणिक पुरास्थल टेक्कलकोटा से स्वर्ण-कर्णाभूषणों की प्राप्ति स्वर्णाभूषणों के प्राचीनतम प्रयोग को इंगित करता है।

परवर्ती काल में सैन्धव सभ्यता के विविध पुरास्थलों हड़प्पा, मोहनजोदड़ों, अल्हादीनों, लोथल, धौलावीरा, कुणाल, माण्डी आदि से स्वर्ण एवं रजत के साथ ही शंख, सीप, पकी मिट्टी एवं मनकों से निर्मित आभूषणों के प्रमाण समाज में आभूषणों के सामान्य प्रचलन एवं वृहद् प्रयोग को स्पष्ट करते हैं। इन आभूषणों का अंकन तदयुगीन मृण्यमूर्तियों में भी पहचाना जा सकता है। तत्कालीन स्त्री-पुरुष दोनों ही स्वयं को आभूषणों से अलंकृत करते थे पर पुरुष आकृतियों में तुलनात्मक दृष्टि से कम आभूषण दिखायी देते हैं।<sup>१</sup> मनकों की लम्बी-लम्बी लड़ियों से बने विभिन्न रूप वाले आभूषण इस काल के प्रमुख आभूषण थे। सभ्यता के उत्खनन से चाँदी के पात्र में रखे हुए आभूषण भी प्राप्त हुए हैं। इनमें एक हार भी है उसके सामने की ओर अगेट पत्थर के सात लटकन सोने के एक मोटे तार की सहायता से लटके हुए हैं (चित्र सं.- १)। इन प्रमाणों के साथ अब हम इतिहास के ऐसे कालखण्ड में प्रवेश करते हैं, जबकि हमारे पास वेदों के रूप में तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक इतिहास की जानकारी के लिए लिखित साहित्य उपलब्ध है।

वैदिक साहित्य में अलंकरण तथा आभूषण के लिए विभिन्न शब्दों का प्रयोग हुआ है, जो इनकी लोकप्रियता के संकेत देते हैं। ऋग्वेद में अलंकरण के लिए 'अरंकृत'<sup>२</sup> 'भूषतु'<sup>३</sup>, 'आभूषण' के लिए 'चित्र'<sup>४</sup>, 'अनूक'<sup>५</sup> तथा स्वर्णाभूषण धारण करने वाले के लिए 'हिरण्य'<sup>६</sup> शब्दों का प्रयोग किया गया है।

वैदिक साहित्य में स्वर्ण एवं रजत के विविध नाम हिरण्य, हरित, जातरूप आदि प्रयुक्त हुए हैं। स्वर्ण एवं रजत के साथ ही आभूषण निर्माण में रत्न<sup>७</sup> मुक्ता<sup>८</sup> (कृश, समुद्रज) वैदुर्य मणि<sup>९</sup> और हाथी दाँत<sup>१०</sup> आदि का भी प्रयोग होता था। आभूषण निर्माण में इनके साथ मनकों का भी प्रचुर प्रयोग हुआ है। वैदिक ग्रन्थों में आभूषण बनाने वाले स्वर्णकार का भी उल्लेख मिलता है। स्वर्णकारों के लिए ऋग्वेद में 'सुकमणि' और वाजसनेयी संहिता में 'हिरण्यकार' शब्द आया है। मनके बनाने वाले को 'मणिकार'<sup>११</sup> और मनके पिरोने वाले को 'रज्जु सर्जन' कहा गया है। वैदिक साहित्य में तत्कालीन समाज में प्रचलित विभिन्न प्रकार के आभूषणों के नामोल्लेख यथा 'ओपश' (शिरोभूषण), 'निष्क' (ग्रीवाभूषण), 'खादि' (पादाभूषण), 'मणिग्रीव', 'रुक्म वक्षसः' आदि प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद में देवी से कामना करते हुए कहा गया है कि वह हमें कान में सोने के आभूषण पहने हुए तथा गले में मणियों को धारण किये हुए सुन्दर पुत्र प्रदान करें-

हिरण्यकर्ण मणिग्रीवमर्णस्तत्रो विश्वे वरिवस्थन्तु देवाः।

अर्यो गिरः सद्य आ जम्मुषीरोस्त्राश्चकन्तूभयेष्वस्मे।।

पुरुषों के आभूषणों में 'स्त्रज', 'स्तूप', 'शिप्र', 'शृङ्ग'<sup>१२</sup> एवं शिरोभूषणों में 'कुरीर' एवं 'ओपष'<sup>१३</sup> आदि नाम मिलते हैं।

उत्तरवर्ती कालों में आभूषणों के प्रयोग एवं प्रचलन के साथ आभूषण-निर्माण कला व्यवसाय के रूप में प्रतिष्ठित होता है। महाकाव्य कालीन उच्च वर्ग 'स्वर्ण मुकुट', 'काँचनी सिरसा' नामक आभूषण धारण करते थे।<sup>१४</sup> मज्झिमनिकाय में स्वर्ण निर्मित आभूषणों में **पट्टिक**, **कुण्डल**, **गीवेय्यक** (गले का हार) और **सुवण्णमाल** (स्वर्ण की माला) का उल्लेख मिलता है।<sup>१५</sup> केयूर भुजा पर धारण किया जाने वाला आभूषण,<sup>१६</sup> हथभरण हाथ का आभूषण<sup>१७</sup> और अंगुलिमुद्रिक अंगूठी थी।<sup>१८</sup>

मौर्यकालीन आभूषणों का ज्ञान प्राप्त करने में साहित्य की अपेक्षा मूर्त सामग्री अधिक सहायक रही है। इस दृष्टि से मौर्यकालीन मृण्मूर्तियों एवं पाषाण-प्रतिमाओं का विशेष महत्त्व है। इसके अतिरिक्त मेगस्थनीज ने ब्राह्मणों द्वारा गृहस्थ जीवन में अंगुलियों और कानों में सोने के आभूषण धारण करने का उल्लेख किया है।<sup>१९</sup> कौटिल्य ने केवल गले में पहने जाने वाले आभूषणों का ही वर्णन किया है। कई लड़ियों वाले भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार के ये आभूषण मुक्ता अथवा अन्य रत्नों में बनाये जाते थे।

आभूषण सम्बन्धी ज्ञान प्रदान करने की दृष्टि से यक्ष और यक्षिणियों की पाषाण-प्रतिमायें विशेष महत्त्व की हैं। इनमें दीदारगंज यक्षी मूर्ति सर्वप्रमुख है (चित्र, सं. २)।<sup>२०</sup> अन्य आकृतियों में बेसनगर यक्षी परखम (मथुरा) यक्ष एवं पटना के समीप से प्राप्त यक्ष आकृतियाँ मुख्य हैं। परखम यक्ष-मूर्ति में सात लड़ियों वाली एक विशेष प्रकार की माला दिखायी देती है।<sup>२१</sup> पटना की यक्ष आकृति (चित्र, सं. ३)<sup>२२</sup> में कलाई पर कंगन तथा बाहु पर कसा भुजबन्ध दिखायी देता है। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार "इन मूर्तियों के सिर पर पगड़ी, कानों में भारी कुण्डल, गले में भारी कंठा, छाती पर चपटा तिकोना हार तथा बाहुओं पर भुजबंद है।"

शुंगकालीन आभूषण सुरुचिपूर्ण होते थे। तदयुगीन कलाङ्कनों में प्रारम्भिक यक्ष-यक्षिणी प्रतिमाओं तथा भरहुत, साँची आदि केन्द्रों से प्राप्त कला-निर्देशनों में बहुविध प्रकार के आभूषणों का अंकन विविधता के साथ हुआ है। इनमें शिरोभूषण के रूप में रत्नजालकों, ललाटिका, कर्ण प्रदेशों में वप्र-प्रकार कुण्डल, ग्रीवा में चटाईदार श्रृंखला, मनके के हार एवं ग्रैवेयक, भारी कड़े एवं पादाभूषण के रूप में इसी प्रकार के भारी वलय का अंकन भरहुत के चुलकोका देवता, सुदर्शना यक्षी (चित्र, सं. ४) एवं चन्द्रा यक्षी (चित्र, सं. ५), साँची की शालभंजिका (चित्र, सं. ६), गजलक्ष्मी आदि प्रतिमाओं में देखे जा सकते हैं। भरहुत की चुलकोका देवता तथा चन्द्रा यक्षी भी कई लड़ियों वाली मेखला से सज्जित है।<sup>२३</sup>

सातवाहन युग के आभूषण शुंग युग के आभूषण से बहुत कुछ मिलते हैं लेकिन उनमें अंतर भी आ जाता है। सातवाहन युग के आभूषण के बारे में हमें प्रचुर सामग्री साँची और भाजा के अर्द्धचित्रों और अजन्ता की गुफा संख्या १-१० तक के भित्ति चित्रों से मिलती है। मथुरा और कौशाम्बी की मिट्टी की मूर्तियों से भी तत्कालीन आभूषणों पर प्रकाश पड़ता है। मथुरा, कौशाम्बी और वसाड में इस युग की मिट्टी की स्त्री मूर्तियाँ गहने पहने हुए मिली हैं। ये मिट्टी की मूर्तियाँ शुंगकाल की कही जाती हैं पर ध्यान देने से पता चलता है कि यह ई. पू. पहली शताब्दी की है लगता है इनके वंश पर शकों का प्रभाव पड़ा है पर गहने भारतीय हैं। कौशाम्बी से मिली हुई एक ऐसी ही अखंडित मूर्ति है जो अब इंडियन इंस्टिट्यूट म्यूजियम ऑक्सफोर्ड में है।

**कुषाण काल** में मौर्य-शुंग काल की तुलना में परिष्कार तथा सादगी की ओर अधिक रुझान दिखाई देता है। इस काल में सोने का अधिक उपयोग किया जाता था तथा इसे 'हिरण्य' और 'स्वर्ण' कहा जाता था। सोने और चाँदी में प्रायः 'रत्न' अथवा जवाहरात को जड़ा जाता था। इनमें जमरुद, अकीक लाजवर्द, जामनी, तामड़ा, मूँगा तथा मोती सम्मिलित थे। नीलम, पुखराज, हीरे तथा लहसुनिया विभिन्न तरीकों से जड़े जाते थे, अथवा लड़ियों में पिरोए जाते थे, तथा इन्हें आभूषणों के रूप में पहना जाता था।

बाजूबंद को 'केयूर' तथा कंगनों को 'बलय' के रूप में जाना जाता था। कर्णफूल कुंडल, शिरोभूषण, अंगुठियाँ आदि आभूषणों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। पाषाण मूर्तियों में स्त्रियाँ कानों में भारी कुण्डल तथा लटकते हुए झुमके जैसा आभूषण पहने हैं। पुरुष आकृतियाँ अधिकांशतः भारी कुण्डल पहने दिखायी देते हैं।<sup>२४</sup> सिरकप से एक कर्णाभूषण मिला है जिसके दोनों भाग कांटे की सहायता से एक-दूसरे से जुड़े हैं (चित्र, सं. ७)। 'मेखला' अथवा कमरबंद विशेष रूप से रत्न जटित होते थे। इनके साथ केवल स्त्रियों द्वारा 'नुपुर' या पॉजेब पहनी जाती थी। ये पूर्वकाल की अपेक्षा सादा और हल्की होती थी। मस्तक आभूषण जैसे 'सितारा' और 'बिंदी' जो मौर्य-शुंग काल में दिखाई देते हैं, इस काल में गायब है।

गुप्त काल तक आकर आभूषणों के विविध प्रकार और अनेक रूप विकसित हो गये थे। तदयुगीन अंगविज्जा, बृहत्संहिता, अमरकोश आदि साहित्यिक साक्ष्यों तथा विभिन्न कला केन्द्रों से प्राप्त कला निदर्शनों में आभूषण संबन्धी सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। बृहत्संहिता में सोने, चाँदी के आभूषणों में प्रयुक्त बाइस मणियों का उल्लेख प्राप्त होता है। अमरकोश में मुकुट, किरिट, चूड़ामणि एवं शिरोरत्न आदि नाम पुरुषों के शिरोभूषण के रूप में उल्लिखित हैं।<sup>२५</sup> कालिदास के अनुसार उज्जैन के महाकाल मंदिर में नृत्य करती हुई नर्तकियों के चमरों के दण्ड रत्न जड़ित थे।

गुप्तयुगीन अनेकानेक मूर्तियों में कई लड़ियों की करधनियाँ प्रदर्शित की गयी है। इनसे सुमधुर ध्वनि निकलने के कारण संभवतः इसे किंकणी भी कहा जाता था। अजन्ता की गुहा संख्या -२ में स्त्री चित्र के विविध आभूषण देखे जा सकते हैं। झांसी स्थित देवगढ़ की विष्णु मूर्ति किरिट, मुकुट, कुण्डल, हार, केयूर, कटक, वनमाला आदि अनेक अलङ्कारों से सज्जित है। कौशाम्बी से प्राप्त एक खण्डित मस्तक पर एक अर्द्धमुकुट का अंकन है।<sup>२६</sup>

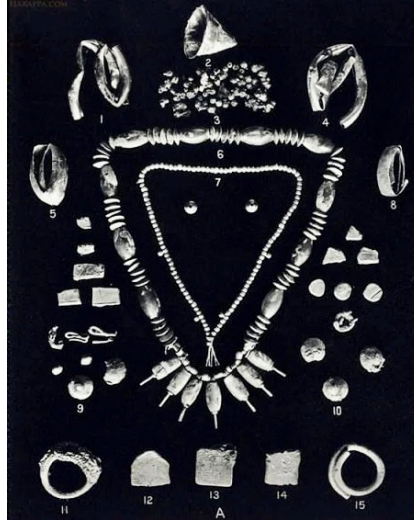
साम्राज्यवादी गुप्तों के पतनोपरान्त कलाङ्कनों में आभूषण प्रदर्शन की अतिशय प्रवृत्ति मिलती है। इस कालखण्ड के शिल्प देह के आवरण के रूप में प्रयुक्त वस्त्र गौण हो गये, किन्तु उन्मुक्त प्रदर्शित देहयष्टि के सौन्दर्य को द्विगुणित करने के लिए आभूषण पूरी कलात्मकता के साथ प्रदर्शित है जिनकी पहचान अधिकांशतः तत्कालीन साहित्यिक सन्दर्भों से भी होती है।

हर्षचरित में हर्ष द्वारा पहने गये आभूषणों की सूची में शिरोभूषण के रूप में तीन आभूषण अरुण चूड़ामणि, मुण्डमाला व शिखण्डाभरण और कानों में कुंडल व अवतंस, ग्रीवा में शेषहार, भुजाओं में जड़ाऊ केयूर आदि का उल्लेख हुआ है। सामंतों द्वारा भी प्रायः राजा के समान आभूषण धारण करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

रत्नावली में कहा गया है कि शुभ और मंगल को व्यक्त करने के लिए मांगलिक आभूषण भी पहने जाते थे। लालान्तिक, पुलकबंध, तिलकबिन्दु आदि विभिन्न प्रकार के आभूषण उस समय प्रचलित थे।

नवीं सदी के अरब लेखकों सुलेमान और अबूजैद ने भी भारतीय स्त्री-पुरुष के अलङ्कारों का विवरण दिया है। अबूजैदल लिखता है कि भारतीय शासक आभूषणों में रत्नों की सज्जा के शौकीन थे और राजा के जयमाल की कीमत दो लाख दीनार थी।<sup>२७</sup> अरब यात्री अलबरूनी ने लिखा है कि स्त्रियाँ कानों में कुण्डल हाथों में चूड़ियाँ, हाथ की ऊँगलियों में स्वर्ण की अंगूठियाँ और पैरों की ऊँगलियों में छल्ले पहनती हैं। क्षेमेन्द्र ने आभूषणों के लालच में एक स्त्री की हत्या का उल्लेख किया है।<sup>२८</sup> आभूषण निःसंदेह विपत्ति के समय एक महत्त्वपूर्ण आर्थिक आधार भी थे।

**निष्कर्ष-अतः स्पष्ट है कि प्रारम्भिक युग से छठी शताब्दी ई. तक आभूषणों के प्रयोग की एक विस्तृत परम्परा प्राप्त होती है। इस कालावधि में शक, कुषाण, पार्थियन आदि विभिन्न विदेशी जातियों के सांस्कृतिक तत्त्वों का भारतीय संस्कृति में जो सम्मिश्रण हुआ उसका प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रभाव न सिर्फ तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक एवं सामाजिक जीवन पर पड़ा, अपितु वेशभूषा एवं आभूषणों पर इसकी स्पष्ट छाप परिलक्षित होती है। इनके प्रभाव वश इस समय आभूषणों में नवीन अभिप्रायों के प्रयोग के साथ ही आभूषण निर्माण एवं सज्जा की कुछ नवीन विधियों का ज्ञान भारतीय स्वर्णकारों को हुआ। इसमें धातु तारों की सज्जा ( फिलग्री ), स्वर्ण बून्दों का प्रयोग ( ग्रेन्यूलेशन ) मार्शल के अनुसार पश्चिमी विधियाँ थी। इस प्रकार छठी शताब्दी ई. तक विकास की विभिन्न अवस्थाओं से होते हुए सातवीं शताब्दी ई. तक लगभग आभूषण कला एक लम्बी विकास यात्रा के पश्चात् स्थिर स्वरूप को प्राप्त करती है। वास्तविक अर्थों में आभूषणों का उन्मुक्त एवं सार्थक निरूपण अधिक यान्त्रिक एवं शैलीगत विभिन्नता के साथ गुप्तकाल के पश्चात् हुआ। गुप्तकालीन मूर्तियों में कलाकार ने भावाभिव्यक्ति को अलङ्करण पर प्रधानता दी। इसकी तुलना में गुप्तोत्तरकालीन कलाकार ने आभूषणों का प्रचुर मात्रा में प्रदर्शन किया है परिणाम स्वरूप तद्युगीन कला निदर्शनों में विविध आभूषणों के अनेक प्रकार देखे जा सकते हैं जिनकी पहचान अधिकांशतः तत्कालीन साहित्यिक सन्दर्भों से भी होती है।**



चित्र सं. १ कण्ठाभूषण, मोहनजोदड़ो सैन्धव सभ्यता



चित्र सं. २ दीदारगंज यक्षी, पटना, मौर्यकाल



चित्र सं. ३ यक्ष-पटना, मौर्यकाल



चित्र सं. ४ सुदर्शना यक्षी, भरहुत, सुंगकाल



चित्र सं. ५ चन्द्रा यक्षी, भरहुत, शुंगकाल



चित्र सं. ६ शालभंजिका, पटना, शुंगकाल



चित्र सं. ७ कर्णाभूषण तक्षशिला ( सिकप ), कुषाणकाल

सन्दर्भ-सूची

१. मार्शल, जॉन, मोहनजोदड़ों एण्ड इण्डस सिविलाइजेशन, खण्ड- ३, लंदन, १९३१, फ. ९४, आ. ११
२. ऋग्वेद १.२.१, ८.६७.३ यही अरंकृत शब्द सम्भवतः आगे चलकर अलंकृत हो गया।
३. तदैव, ८.९०.१
४. तदैव, १.१७.७, १.१७.३, १.६६.१, ८.१०.१३
५. तदैव, ५.३३.९
६. ए. ए. मैकडॉनल एण्ड कीथ, वैदिक इण्डेक्स (१९५८, दूसरा संस्करण मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली)

खण्ड-२, पृ. ५०५

७. ऋग्वेद, १.२०.७, १.३५.७, अथर्ववेद, ५.१.७, ७.१५.४, शतपथ ब्राह्मण, १२.४.७
८. ऋग्वेद, १.३५.४, ७.१८.२३, अथर्ववेद, ४.१०.१-५; ऐतरेय ब्राह्मण १.१४
९. षड्विंश ब्राह्मण, ५.६.२
१०. ऋग्वेद, १.६४.७
११. चन्द्र रायगोविन्द, वैदिक युग के भारतीय आभूषण, वाराणसी, १९६५, पृ. ४०-४१
१२. तदैव, पृ. १४-१६, मैकडॉनल तथा कीथ, वैदिक इण्डेक्स, वाराणसी, १९५८, खण्ड-२, पृ. ४८५
१३. मैकडॉनल तथा कीथ, तदैव, खण्ड-१, पृ. १२४
१४. महाभारत, पूना संस्करण ४.८.२२
१५. यदि पट्टिकाय यदि कुण्डलाय यदि गीवेय्यकाय यदि सुववण्णमालाय तं चस्स अत्थं अनुभीति, मज्झिमनिकाय-३, ४०.२.१७
१६. उपासक, सी. एस., डिक्शनरी ऑफ अर्ली बुद्धिस्ट मोनोस्टिक टर्म्स, सन्दर्भ, 'केयूर'
१७. तदैव, सन्दर्भ 'हन्थाभरण'।
१८. तदैव, सन्दर्भ 'अंगुलिमुच्छिक'।
१९. मेक्रिन्डल, जे. डब्ल्यू, एन्शियन्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राईण्ड वाई मेगस्थनीज ऐण्ड एरियन, कलकत्ता १९२६, पृ. ९९
२०. बैकोफर, एल., अर्ली इण्डियन स्कल्पचर, पेरिस, १९२१, १९८३, फ. ९
२१. सरस्वती, एस. के., ए सर्वे ऑफ इण्डियन स्कल्पचर, कलकत्ता, १९५७, फ. ८, अ. ४४
२२. बैकोफर, एल., तदैव, फ. १०
२३. कर्निधम ए., स्तूप ऑफ भरहुत, वाराणसी, १९६२ फ. २३, आ. ३, फ. २२, आ. ३
२४. बैकोफर, एल. तदैव, फ. ८५
२५. मण्डलचाय मुकुट किरिट पुनपुसकम।  
चूडामणि शिरोरत्न तरत्नो हारमध्यमः॥  
अमरकोष, (सम्पा. रामनाथ, ए. ए.) द्वितीय काण्ड, मनुष्य वर्ग, पृ. ४२६-२७.
२६. तिवारी, पुष्पा, प्राचीन भारतीय आभूषण, इलाहाबाद, १९९२, पृ. ४८
२७. इलियट एण्ड डाउसन, इण्डिया एज टोल्ड बाई हिज ओन हिस्टोरियन्स, भाग- २, पृ. ११
२८. मोतीचन्द्र, क्षेमेन्द्र और उनका समाज, प्रयाग, १९८४, पृ. १७९

## प्राचीन राजस्थान में मृण्मूर्ति कला का अध्ययन (प्रारम्भ से ६वीं शताब्दी ई. तक)

जयप्रकाश कुमावत\*

### प्रस्तावना

राजस्थान कलाओं का केन्द्रवर्ती प्रदेश रहा है। यहाँ के संसाधन कलाओं के सृजन व साहचर्य के आधार बने हैं। इस प्रदेश की कलाओं ने आज ही नहीं हजारों वर्ष पहले भी लोगों को आकर्षित किया है। मिट्टी शिल्प का इतिहास भी उतना ही पुराना है जितना की मानव सभ्यता का। यजुर्वेद, अथर्ववेद तथा शतपथ ब्राह्मण में कुम्हारी कला का उल्लेख हुआ है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी पूजन के लिए कुम्भकार द्वारा मिट्टी की नाग प्रतिमा बनाने का वर्णन है। नारद पुराण व गणेश पुराण में गणेश की मृण्प्रतिमा बनाने का उल्लेख है। हरिवंश पुराण में मधु-कैटभ की मिट्टी की प्रतिमाओं का जिक्र है। मार्कण्डेय पुराण में दुर्गा की मिट्टी की मूर्ति का उल्लेख है। महाभारत काल में उल्लेख है कि द्रोण के शिष्य एकलव्य ने अपने गुरु की मिट्टी की मूर्ति बनाकर उसकी पूजा की। बुद्धघोष ने मिट्टी की कला को 'पोत्थक रूप' कहा है। मृच्छकटिक नाटक का नाम मिट्टी की गाड़ी के आधार पर रखा गया है। आश्वलायनसूत्र में लिखा है कि नाग-बलि के अवसर पर लकड़ी तथा मिट्टी के नाग सिर बनाकर उसकी एक वर्ष तक पूजा की जाती थी। पाषाणकाल में मृण्मूर्तियाँ बहुत कम देखने को मिलती हैं।

संकेताक्षर - मृण्मूर्तियाँ, मुहरें, अलंकृत मनके, मृण्मय, खिलौनें।

### प्राक् सैन्धव तथा सैन्धव कालीन मृण्मूर्तियाँ

इस काल की मृण्मूर्तियाँ प्राक् सैन्धव स्थलों तथा विकसित सैन्धव स्थलों से प्राप्त हुई हैं। प्राक् सैन्धव मृण्मूर्तियाँ कालीबंगा के प्रथम काल, शेरपुरा (हनुमानगढ़), बिन्जौर (गंगानगर), बरोर (गंगानगर), सोथी (हनुमानगढ़), नोहर (हनुमानगढ़) आदि पुरास्थलों से प्राप्त हुई हैं। सैन्धव मृण्मूर्तियाँ कालीबंगा के द्वितीय काल (हनुमानगढ़), गंगानगर के तरखान वाला डेरा तथा चक-८६, सोथी, नोहर, आदि पुरास्थलों से प्राप्त हुई हैं।

कालीबंगा से मिट्टी के मनके, मुहरें, खिलौनें, चूडियाँ, अंगूठियाँ, मृण्मय छिद्रयुक्त पहिये, मिट्टी के पासे, मृण्मय टाईल्स के टुकड़े, मृण्मय बड़ी नलिकाएँ, छिद्रयुक्त खिलौने, दूध पिलाने के मिट्टी के कप, मृण्मय मानव शीश, मृण्मय चार्जिंग बुल, मृण्मय बिल्ली, मिट्टी की अलंकृत गेंदे, मृण्मय ईंटे, मृण्मय छिन्न केक, मृण्मय शिवलिङ्ग, मृण्मय तराजू आदि प्राप्त हुये हैं।<sup>१</sup>

तरखान वाला डेरा से मृण्मय पुरुष, मृण्मय मनके, गेंदे, जानवरों की आकृतियों के खिलौने, कान

\* शोधार्थी, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, राजस्थान

के आभूषण, बच्चों को पानी व दूध पिलाने के बर्तन आदि प्राप्त हुये हैं। इसके अलावा चक-८६ से भी मिट्टी की मृण्मूर्तियाँ व खिलौने प्राप्त हुये हैं।<sup>२</sup>

#### गैरिक मृद्भाण्ड संस्कृति की मृण्मूर्तियाँ

नोह (भरतपुर), जोधपुरा (जयपुर), गणेश्वर (सीकर), नंदलालपुरा (जयपुर) आदि से इस संस्कृति की मृण्मूर्तियाँ मिली हैं।

#### ताम्रपाषाण कालीन मृण्मूर्तियाँ

राजस्थान के ताम्रपाषाण कालीन प्रमुख पुरास्थलों में उदयपुर के आहड़, बालाथल, गिलूण्ड, गणेश्वर (सीकर), मर्मी (चित्तौड़गढ़) आदि से प्रमुख मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

आहड़ संस्कृति की प्रमुख विशेषता मृण्मय बैल है, जिन्हें 'बनासियन बुल' की संज्ञा दी गई है। इसके अलावा आहड़ से मिट्टी के मनौती कुण्ड, खिलौने, मिट्टी के अलंकृत मनके, मैल उतारने के झावे आदि प्राप्त हुये हैं।<sup>३</sup>

गिलूण्ड से प्राप्त मृण्मूर्तियों में लम्बे सींगों वाला कूबड़दार बैल प्रमुख है।

मर्मी (चित्तौड़गढ़) से भी बैलों की मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

#### चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति की मृण्मूर्तियाँ

नगर (टोंक), नोह (भरतपुर), जोधपुरा (जयपुर), सुनारी (झुंझुनू), चक-८६ (गंगानगर) आदि से इस संस्कृति की मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

#### मौर्यकालीन मृण्मूर्तियाँ

मौर्यकालीन मृण्मूर्तियाँ रंगमहल (गंगानगर), बैराठ (जयपुर), नगर (टोंक), सांभर (जयपुर), नगरी (चित्तौड़गढ़), रैढ़ (टोंक), नोह, सुनारी, आंगूचा, आहड़ के द्वितीय काल, गिलूण्ड आदि से प्राप्त हुई हैं।

राजस्थान की मौर्यकालीन मृण्मूर्तियों में रैढ़ (टोंक) से प्राप्त मातृका की नग्न प्रतिमा, घुमावदार सींगों वाला मेंढा तथा नगरी (टोंक) से मृण्मय बंदर तथा भौंकते हुये कुत्ते की मृण्मूर्ति मिली है।

आंगूचा (भीलवाड़ा) से मातृकाशीश मिला है इसके अलावा एक खण्डित नग्न पुरुष की आकृति मिली है। यह खण्डित नग्न पुरुष की मृण्मूर्ति लगभग चौथी शताब्दी ई. पू. की है।

#### शुंग-कुषाणकालीन मृण्मूर्तियाँ

राजस्थान में शुंग-कुषाणकालीन मृण्मूर्तिकला के उदाहरण बैराठ (जयपुर), सांभर (जयपुर), रैढ़ (टोंक), नगरी (चित्तौड़गढ़), नोह (भरतपुर), आंगूचा (भीलवाड़ा), सुनारी, आहड़, रंगमहल आदि से मिलते हैं। यहाँ से प्राप्त मातृका प्रतिमाएं अपना विशेष स्थान रखती हैं। इनमें आभूषण और साज-सज्जा आकर्षित करने वाली हैं। इस काल की एक यक्षिणी प्रतिमा जयपुर संग्रहालय में संरक्षित है। नगर (टोंक) से प्राप्त महिषासुर मर्दिनी की मृण्मूर्ति को चतुर्भुज स्वरूप में दर्शाया गया है। देवी के इस फलक का काल प्रथम शताब्दी ईस्वी माना गया है। नगर (टोंक) से एक गणेश मृण्मूर्ति भी मिली है।<sup>४</sup>

सांभर (जयपुर) से यक्ष-यक्षिणी की मृण्मूर्तियाँ मिली हैं इसके अलावा एक सुराही का मृण्मय अलङ्कृत हैण्डल मिला है तथा डमरू लिये शिव, अश्वारूढ़ सूर्य, महिषासुरमर्दिनी आदि की मृण्मूर्तियाँ

मिली है।

रंगमहल (गंगानगर) से एक कलात्मक दीपक प्राप्त हुआ है जिसके किनारे पर दो पुरुषों की आकृतियाँ बनी हुयी है। रंगमहल से ही सिर विहीन पुरुष की मृण्मूर्ति मिली है। यह प्रतिमा पालथी मारे हुये बैठी है तथा इसके हाथ में एक वृताकार वस्तु है, जिसमें स्वास्तिक का चिह्न बना हुआ है।<sup>६</sup>

भरतपुर जिले के नोह से कुषाणकालीन नारी की प्रतिमा मिली है, प्रतिमा के स्तन बड़े आकार के हैं, कानों व गले में आभूषण हैं। इसके अलावा नोह से त्रिभंगी मुद्रा में नारी प्रतिमा, स्त्री-पुरुष युग्म आदि की मृण्मूर्तियाँ मिली है।

टोंक के रैढ़ व नगर से कुषाणकालीन सुंदर मिट्टी के हैण्डल मिले हैं।

### गुप्तकालीन मृण्मूर्तियाँ

डॉ. एल.पी. टेस्पीटोरी सन् १९१४ ई. में भारत आये और सन् १९१५ में उन्हें बीकानेर के तत्कालीन महाराजा गंगासिंह द्वारा इस क्षेत्र के ऐतिहासिक एवं हस्तलिखित ग्रंथों के सर्वेक्षण का कार्य सौंप दिया गया। यहीं से इस क्षेत्र की पुरासम्पदा के खोजकार्य का सूत्रपात हुआ। टेस्पीटोरी ने हनुमानगढ़ व सूरतगढ़ क्षेत्र में प्राचीनकाल में बहने वाली सरस्वती तथा दृषद्वती (धग्घर) नदियों के तट पर स्थित कालीबंगा, नगर, आंगूचा का तृतीय काल, नगरी, रंगमहल, बड़ोपल, मुण्डा, पीर सुलतान की थेड़ी, भद्रकाली, भंवर थेड़ी, दुलमाणी, सरदारशहर, धोकल थेड़ी तथा माणक थेड़ी आदि एक दर्जन से भी अधिक प्राचीन स्थलों का सर्वेक्षण किया तथा इस दौरान उन्होंने अनेक मृण्मूर्तियाँ खोजी।<sup>७</sup> जिनमें महत्त्वपूर्ण मृण्मूर्तियाँ निम्न हैं-

१. हाथी- सन् १९१७ में खुदाई से प्राप्त मुण्डा क्षेत्र से मिला मिट्टी का हाथी २०.३०×२२.९० से.मी. आकार का है, जो कि गुप्तकाल का माना गया है।

२. मानवधड़ - सन् १९१७ में पीरसुलतान की थेड़ी से प्राप्त मानवधड़ जिसका आकार २७.९०×१५.२० से.मी. है, यह भी गुप्तकालीन मृण्मूर्ति है।

३. अप्सरा- इस गुप्तकालीन मृण्मूर्ति का आकार ९६.५०×२५.४० से.मी. है, यह १९१७ में पीरसुलतान की थेड़ी से मिली है।

४. स्त्री-धड़ - सन् १९१७ में बड़ोपल से प्राप्त इस गुप्तकालीन स्त्री धड़ का आकार ३०.५०×२७.९० से.मी. है।

५. सिंह शीर्ष- मुण्डा से गुप्तकालीन सिंहशीर्ष का आकार १०.२० से.मी. है।

६. अलंकृत ईंट- सन् १९१७ में सूरतगढ़ से मिली गुप्तकालीन इस अलंकृत ईंट का आकार ९६.५०×२५.४० से.मी. है।

७. महिषासुरमर्दिनी- सन् १९१७ में भद्रकाली क्षेत्र से प्राप्त इस गुप्तकालीन मृण्मूर्ति का आकार २०.२३×०७.६० से.मी. है।

८. प्रणयी प्रतिमा- सन् १९१७ में बड़ोपल से प्राप्त गुप्तकालीन मृण्मूर्ति का आकार ३०.५०×३५.६० से.मी. है।

९. शिव- गुप्तकालीन इस त्रिनेत्र जटाजूटधारी शिव प्रतिमा का आकार ११.४०×८.९० से.मी. है।

१०. गणेश- गंगानगर क्षेत्र से सन् १९१७ में मिली इस गणेश मृण्मूर्ति का आकार २२.९०×१०.२० से.मी. है।

११. अभिलेखयुक्त मुहर- हनुमानगढ़ के ढलिया स्थान से मिली इस मिट्टी की मुहर का आकार ३.१० से.मी. है तथा इस मुहर का समय ५वीं शताब्दी ई. माना गया है।

१२. गरुड़- पीर सुलतान की थेड़ी से प्राप्त इस मृण्मूर्ति का आकार १९.६०×२७.९० से.मी. है, जो कि गुप्तकालीन है।

१३. आवक्ष महिला- सन् १९१७ में बड़ोपल से प्राप्त इस नारी मृण्मूर्ति को चिन्तन मुद्रा में दिखाया गया है। वस्त्राभूषणों से सुसज्जित इस नारी मृण्मूर्ति का आकार ३०.४८×२१.५० से.मी. है, जो कि गुप्तकालीन है।

१४. गोवर्धनधर- सन् १९१७ में रंग महल से प्राप्त इस मृण्मूर्ति का आकार ३०.५०×२५.४० से.मी. है, जो कि गुप्तकालीन है।

१५. दानलीला- सन् १९१७ में रंगमहल से प्राप्त इस मृण्मूर्ति का आकार ३१.८०×२५.४० से.मी. है, जो कि गुप्तकालीन है।

१६. अजैकपाद- सन् १९१७ में रंगमहल से प्राप्त इस मृण्मूर्ति का आकार ३३×२०.३० से.मी. है, जो कि गुप्तकालीन है।

१७. उमा-माहेश्वर- सन् १९१७ में रंगमहल से प्राप्त इस मृण्मूर्ति का आकार ३६.८०×२२.९० से.मी. है, जो कि गुप्तकालीन है।

१८. मेंढे का सिर- मुण्डा से प्राप्त गुप्तकालीन इस मृण्मूर्ति का आकार ५.१० से.मी. है।

१९. अभिलेखयुक्त प्रतिमा आधार- मुण्डा क्षेत्र से प्राप्त इस अभिलेख युक्त प्रतिमा आधार पर यशोदाकृति अंकित है। इसका आकार ८.९०×१५.२० से.मी. है।

२०. चक्रपुरुष- रंगमहल से सन् १९१७ में प्राप्त इस गुप्तकालीन मृण्मूर्ति का आकार ३३×१७.८० से.मी. है।



मुण्डा से प्राप्त मेंढे



बड़ोपल से प्राप्त प्रणयी प्रतिमा



बड़ोपल से प्राप्त पुरुष



उमा-माहेश्वर (रंगमहल)



अलंकृत ईंट (सूरतगढ़)



मुण्डा से प्राप्त सिंह



गणेश मृण्मूर्ति, गंगानगर



विष्णु, पीलीबंगा



महिषासुरमर्दिनी, भद्रकाली



कालीबंगा के मृण्मय अलंकृत कंगन



कालीबंगा की मृण्मय चूड़ियाँ



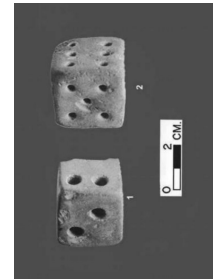
कालीबंगा का मृण्मय सांड



कालीबंगा का मृण्मय केक



आहड़ की मृण्मय मूर्तियाँ



कालीबंगा के मृण्मय पासे

### निष्कर्ष

उपर्युक्त साक्ष्यों से स्पष्ट है कि मृण्मूर्तियों से प्राचीन संस्कृति पर प्रकाश पड़ता है। मृण्मूर्तियाँ किसी भी काल की पूजा पद्धति पर प्रकाश डालने का यंत्र हैं। उत्खनन में मिली विभिन्न मृण्मूर्तियों में मातृदेवी, इन्द्र-इन्द्राणी, मिथुन मृण्मूर्तियाँ, डमरू लिए शिव, महिषासुरमर्दिनी तथा अश्वारूढ़ सूर्य आदि प्रमुख हैं इनसे उस समय के धर्म के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। कई मृण्मूर्तियाँ में केश विन्यास सुन्दर है। शुंगकाल में बनी कुछ मृण्मूर्तियों में आभूषण पहने हुए दिखाया गया है। जिससे प्राचीनकाल के आभूषणों के बारे में पता चलता है। विभिन्न प्रकार के जानवर, पशु-पक्षियों की मृण्मूर्तियाँ मिली हैं जिससे पता चलता है कि प्राचीनकाल में लोग कौन-कौन से जानवर पालते थे। कालीबंगा से मिट्टी की बनी चूड़ियाँ, भुजबंध, अंगूठियाँ कर्णाभूषण और गले में धारण करने वाले आभूषण मिले हैं। सांड की मृण्मूर्तियों को अधिक बनाया गया है उससे सिद्ध होता है कि मृत्तिका शिल्प में सांड को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। छठी शताब्दी में पत्थर की मूर्तियाँ ज्यादा बनने लगी तथा मृण्मूर्तियों में कमी आई। अतः मृण्मूर्तियों से प्राचीनकाल की सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक जीवन पर गहरा प्रकाश पड़ता है।

### सन्दर्भ-ग्रंथसूची

१. लाल, बी. बी., जोशी जगपति, शर्मा ऐ. के, मधुबाला, रामचन्द्रन के. एस., एक्सकेवेशन एट कालीबंगन द हड़प्पनस, पार्ट- २ (१९६०-१९६९), पृ. सं. १०५३, ११७०, १२५७
२. त्रिवेदी, पी. के., एक्सकेवेशन एट तरखान वाला डेरा एण्ड चक- ८६ (२००३-२००४), पृ. सं. ८९, ९०, ९८
३. चौबे, सौरभ, प्राचीन भारत, यूनिवर्सल बुक्स, अल्लापुर, प्रयागराज, २०१७, पृ. सं. १७४, १७५
४. पुरी, के. एन., एक्सकेवेशन एट रैढ़ जयपुर स्टेट, १९३९, पृ. सं. ४६-४९
५. शर्मा, देवदत्त, राजस्थान का माटीशिल्प, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, २०१३, पृ. सं. २६
६. रीड, हन्ना, एक्सकेवेशन एट रंगमहल, १९५२-१९५४, पृ. सं. १५८-१६०
७. संत, उर्मिला, टेराकोटा आर्ट ऑफ राजस्थान फ्रॉम प्री हड़प्पन एण्ड हड़प्पन टाइम्स टू द गुप्त पीरियड, आर्यन बुक इन्टरनेशनल, नई दिल्ली, १९९७, पृ. सं. ५४-५५
८. शर्मा, देवदत्त, पूर्वोक्त पृ. सं. ३१, ३३, ३५

## कवि गङ्गाधरमेहेर प्रणीत 'तपस्विनी' महाकाव्य का हरेकृष्णमेहेर-कृत संस्कृतानुवाद : एक समीक्षण

डॉ. बुधिराम मिश्रः\*

ओड़िआ वाङ्मय में स्वभावकवि-गङ्गाधरमेहेर (१८६२-१९२४ ई.) 'प्रकृतिकवि' के रूप में सुपरिचित और स्वनामधन्य हैं, जैसे संस्कृत साहित्य में महाकवि कालिदास और अंग्रेजी साहित्य में वाईस्वार्थ। कवि गङ्गाधर के प्रमुख काव्य हैं - 'तपस्विनी', 'प्रणयबल्लरी', 'कीचकबध', 'इन्दुमती', 'उत्कळलक्ष्मी', 'अयोध्यादृश्य', 'भारतीभावना', 'पद्मिनी', 'अर्घ्यथाळी' आदि। भारतीय पृष्ठभूमि पर उनकी रचनायें आधारित हैं। उनकी लेखनी में प्रतिभात हैं भारतीयता, देशभक्ति, राष्ट्र के प्रति आन्तरिकता, भारतीय नारी का सामाजिक सम्मान एवं आदर्शबोध, साहित्य-संगीत-कला का आन्तरिक आदर, विनम्रता और साधुता की गभीर संवेदना, प्रकृति की अपूर्व मधुरिमा, सामाजिक संस्कार एवं धर्मन्याय-संगत सारे सदगुण। उनकी रचनाओं में इतना आकर्षण है कि पाठक निश्चित रूप से रसाप्लुत हो जाता है।

कवि गङ्गाधर मेहेर की रचनाओं में 'तपस्विनी' सर्वश्रेष्ठ कृति मानी जाती है। १९१४ ख्रीष्टाब्द में प्रणीत इस महाकाव्य में कुल ग्यारह सर्ग हैं और मुख्य रस है करुण। वाल्मीकि-रामायणीय उत्तरकाण्ड की सीता-वनवास कथावस्तु पर यह काव्य आधारित है, परन्तु कवि की मौलिक उद्भावना एवं विशेषता प्रणिधान योग्य है। कवि कालिदास-कृत 'रघुवंश' के चतुर्दश सर्ग एवं नाट्यकार भवभूति के 'उत्तररामचरितम्' नाटक का प्रासंगिक प्रभाव यहाँ अनुभूत होता है। स्वामी राजा श्रीरामचन्द्र की धर्मपत्नी सती साध्वी जानकी निर्वासिता होकर महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में रहकर 'तपस्विनी' के रूप में जीवनयापन करती है। कवि की दृष्टि में यहाँ 'तपस्विनी' है - सीता। यह तपस्विनी-शब्द का आधार है रघुवंश में प्रयुक्त 'साहं तपः सूर्य-निविष्ट-दृष्टिः' इत्यादि श्लोक-पंक्ति। कवि गंगाधर ने अपनी सर्जनशील प्रतिभा से इस अपूर्व काव्य का प्रणयन पूर्वक भारतीय साहित्य को विशेष समृद्ध किया है।

प्रकृतिकवि गंगाधर की रचनावली को, विशेष रूप से 'तपस्विनी' महाकाव्य को विश्व-साहित्य दरबार में परिचित कराने हेतु डॉ. हरेकृष्ण मेहेर का साहित्यिक अवदान निश्चित अभिनन्दनीय और सराहनीय है। डॉ. मेहेर संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, ओड़िआ और कोशली भाषाओं के एक सुसाहित्यिक कवि तथा सफल अनुवादक हैं। उन्होंने तपस्विनी काव्य का हिन्दी-अंग्रेजी-संस्कृत त्रिभाषी अनुवाद या अनुसृजन करके इसका गौरव बढ़ाने में बहुत सहायता की है और साथ ही अपनी अनुवाद-कला का सुपरिचय प्रदान किया है। उनका हिन्दी तपस्विनी अनुवाद सम्बलपुर विश्वविद्यालय द्वारा २००० ख्रीष्टाब्द में प्रकाशित हुआ है। अंग्रेजी अनुवाद आर्. एन्. भट्टाचार्य कोलकाता द्वारा २००९ में प्रकाशित होकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर

\* साहित्य विभाग, राष्ट्रियसंस्कृत विश्वविद्यालय, तिरुपति, आन्ध्रप्रदेश

ख्यातिप्राप्त है। संस्कृत तपस्विनी अनुवाद परिमल पब्लिकेशन्स दिल्ली द्वारा २०१२ में प्रकाशित हुआ है (आन्तर्जातिक मानक पुस्तक संख्या : ९७८-८१-७११०-४१२-३)। ये तीनों अनुवाद अन्तर्जाल पर डॉ. मेहेर के जालपुट (<http://tapasvini-kavya.blogspot.in/2013/05/complete-tapasvini-kavya-hindi-english.html>) में उपलब्ध हैं। उनके द्वारा अनूदित संस्कृत तपस्विनी के बारे में यहाँ कुछ प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

डॉ. हरेकृष्ण मेहेर के कई अनुवादों में 'तपस्विनी' महाकाव्य का संस्कृत रूपान्तर एक उल्लेखनीय ग्रन्थ है। उनके विभिन्न अनुवादों में अनुवाद-शैली की विशेषता है मूलभाषा के भाव को यथा संभव अपनी मौलिक शब्दावली के प्रयोग से उपर्युक्त परिवेषण करना और यथार्थ सुरक्षित रखना। मुक्त छन्द में व्यवधान एवं अव्यवधान से मित्राक्षर और उपधा मिलन का प्रयोग उनके अनुवाद का प्राणिधेय तत्त्व है। तपस्विनी-अनुवाद में भी उनकी शैली उसी प्रकार परिलक्षित होती है। उन्होंने अनुवादकीय अनुभूति का बयान करके त्रिभाषी रूपान्तर के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। अपनी अनुवाद-शैली के बारे में उन्होंने 'प्राक्कथनम्' में लिखा है।

'तपस्विनी- महाकाव्यस्य मदीयानुवादानां सारस्वते त्रिवेणी-स्रोतसि मया रुच्यनुरूपं मुक्तच्छन्दोधारया सह व्यवहितैरव्यवहितैश्च मित्राक्षरैरुपधा-मिलनस्य विहितोऽस्ति प्रयोगः। अनुवादत्रये मम रचनाशैली प्रायेण समरूपा। मित्राक्षरच्छन्दःसमेतम् अमित्राक्षरच्छन्दोऽपि मम प्रियम्, तथापि मित्राक्षरच्छन्दस्तथा अन्त्यानुप्रासं प्रति मम विशेषाकर्षणं वर्तते। अतः सर्वेषु त्रिषु अनुवादिषु मित्राक्षर-प्रयोगो मामकं सारस्वतानुरागविशेषत्वं द्योतयति इति समनुभूयते। एषु भाषान्तरेषु अधिकतया मदीय-मौलिक-शब्दावली-माध्यमेन काव्यस्य मूलभावाः पूर्णतया यथार्था अक्षुण्णाः सुरक्षिताश्च विद्यन्ते इति मे दृढो विश्वासः।'

कवि गंगाधर मेहेर ने अपने काव्यों में भारतीय साहित्य-परम्परा को यथासम्भव सश्रद्ध सम्मान प्रदान किया है। प्रान्तीय भाषा-साहित्यों में संस्कृत साहित्य का गहरा प्रभाव परिलक्षित होता है। यहाँ उल्लेख योग्य है एक और विशेष विषय, जिसमें तपस्विनी के महाकाव्यत्व-प्रतिपादन के साथ सामग्रिक अनुशीलन का सारांश सन्निवेशित है। संस्कृत के प्रख्यात अलङ्कारशास्त्री विश्वनाथ कविराज ने अपने 'साहित्यदर्पण' ग्रन्थ में महाकाव्य का लक्षण निरूपित किया है - 'सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः। सद्गुणः क्षत्रियो वापि धीरोदात्त-गुणान्वितः' इत्यादि कारिकाओं में। अनुवादक डॉ. हरेकृष्ण मेहेर ने साहित्यदर्पण-निर्देशित आलङ्कारिक शैली में 'तपस्विनी' के महाकाव्यत्व एवं सारतत्त्व को अपनी ललित मधुर पदावली में इस प्रकार निबद्ध किया है-

तपस्विनी-महाकाव्यं स्वभावकविना कृतम्।  
गङ्गाधर-मेहेरेण रङ्गायितं सुवर्णकम्॥  
जानकी नायिका यत्र श्रीराम-सहधर्मिणी।  
सती-शिरोमणी साध्वी पतिव्रता तपस्विनी॥  
सर्गा एकादश ख्याताश्छन्दोरागैरलङ्कृताः।  
ग्रन्थाद्यं प्रार्थना-वस्तुनिर्देशात्मकमङ्गलम्॥

निर्वासनोत्तरं वृत्तं रामपत्न्याः प्रकीर्तितम्।  
सीतायाश्च तपश्चर्या-विभा कवेरभीप्सिता॥  
वाणी भावमयी स्निग्धा प्रधानः करुणो रसः।  
दर्शनीयं निसर्गस्य चित्रणं चात्र मञ्जुलम्॥  
मौलिकोद्भावना भाति कवेरत्र स्वतन्त्रता।  
सौरभं भारतीयं च सांस्कृतिकं सुसम्भृतम्॥  
सीताचरितमाश्रित्य विशेषेण विनिर्मितम्।  
वक्तुं हि शक्यते काव्यं सीतायनमिति स्मृतम्॥  
ओड़िआ-मूलभाषायाः कृतः संस्कृतभाषया।  
हरेकृष्णस्य काव्यानुवादोऽयं मोदयतु सतां मनः॥<sup>१</sup>

इसके साथ 'तपस्विनी' ग्रन्थ में सन्निवेशित है डॉ. मेहेर का एक दीर्घ शोधलेख, शीर्षक है 'तपस्विनी-महाकाव्यम् : एकमालोकनम्।' इसमें तपस्विनी का एक सामग्रिक एवं तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। अब देववाणी में अनूदित तपस्विनी की कुछ पंक्तियों का परिवेषण किया जा रहा है सहृदय पाठकवर्ग के काव्य रसास्वादन एवं मनोरञ्जन के लिये।

रूपकालङ्कार के माध्यम से कवि गंगाधर मेहेर ने 'तपस्विनी' काव्य के मुख्य विषय की सूचना दी है। दशम सर्ग में कवि ने रामायण की करुणगाथा को अपनी शब्दों में व्यक्त किया है। इस प्रकार ओड़िआ मूल पद्य है -

रस-रत्नमय काव्य-शिखरी, बिराजन्ति ग्रहिं राम-केशरी।  
राबण-बारण- रक्त-धार, बहइ झर्झर निर्झराकार।  
कान्दन्ति, सिंही कन्दरे रहि, दन्ति-दन्ताघात-बेदना सहि॥<sup>२</sup>

अनुवादक डॉ. मेहेर के संस्कृत पदविन्यास में यह पंक्ति है -

रस-रत्न-परिपूर्णः काव्य-पर्वतो वर्त्तते  
श्रीरामचन्द्र-मृगेन्द्रो यत्र विराजते।  
दशकन्धर-सिन्धुरस्य रुधिर-धारा  
प्रवहति झर्झरं निर्झरिणी।  
क्रन्दति तद्-गिरि-कन्दरागारा  
विषह्य दन्ताबल-दन्ताघात-क्लेशं केशरिणी॥<sup>३</sup>

द्वितीय सर्ग में ऋषिवर वाल्मीकि पतिव्रता सीता को जब सान्त्वना प्रदान करते हैं, उसी प्रसंग में सागर-सङ्गम के लिये उत्सुक सरिता की स्वाभाविक आन्तरिक प्रीति का दृष्टान्त उपस्थापित किया गया है। ओड़िआ मूल पद्य है -

स्रोतस्वती-गति सहज थाए सागर आशे,  
लङ्गे शिळा-शैळ-सङ्कट ग्रेबे बिरुद्धे आसे।

सागर-सङ्गमे बिस्मरे सबु बिगत क्लेश,  
उभय जीबने न रहे आउ प्रभेद लेश।  
बिधिबशे उठि मध्यरे ग्रेबे ऊर्द्धकु भेदि,  
बालि-स्तूप दिए सरित- सिन्धु-हृदय छेदि।  
सरित मरि त न पारे तार जीवन-भार,  
हृदय प्रसारि रखइ होइ हृद आकार।।<sup>४</sup>

डॉ. मेहेर के संस्कृत अनुवाद में यह पंक्ति इस प्रकार जीवन्त होती है -

स्वत एव गति-र्भवति  
स्रोतस्वत्याः पारावारं प्रति।  
लङ्घति सा शिला-शैल-सङ्कट-सकलम्  
समागच्छति मार्गे यद् विरुद्धमर्गलम्।  
पूर्व-क्लेश-समस्तं विस्मर्यते  
तथा तोयनिधे-मिलने,  
भेद-लेशोऽपि पुन-र्नावशिष्यते  
तयोरुभयो-जीवने  
मध्ये दैववशात् समुत्थाय सपदि  
ऊर्ध्वं भित्त्वा यदि  
छिनत्ति बालुका-स्तूपस्तयोः  
हृदयं ह्यादिनी-समुद्रयोः,  
कल्लोलिनी तु न म्रियते।  
प्रियतमस्य कृते  
वहति सा जीवन-भारं स्वयम्  
हृदाकारं प्रसार्य स्वहृदयम्।।<sup>५</sup>

तपस्विनी के चतुर्थ सर्ग का उषा-वर्णन ओड़िशा में विशेष लोकप्रिय है। 'मङ्गळे अइला उषा' वाक्य से कवि गंगाधर मेहेर समग्र राज्यभर सुपरिचित हैं। चतुर्थ सर्ग के आरम्भ में वाल्मीकि मुनि के आश्रम पर पदार्पण करती है सुन्दरी उषा, जो प्रकृतिकवि गंगाधर की लेखनी में अपूर्व सौम्य कान्त रूप से सुसज्जित है। प्रस्तुत है प्रथम पंक्ति, जो ओड़िआ भाषा के अत्यन्त मनमोहक श्रुतिमधुर सांगीतिक 'चोखि' राग में रचित है। श्रीरामरानी सती सीतादेवी के स्वागत सत्कार करने प्रकृति की अतीव सुन्दर अंशरूपिणी उषा यहाँ उपस्थित है। ओड़िआ साहित्य में स्वभावकवि का सुप्रसिद्ध यही पद्य वास्तव में सदैव स्मरणीय है। ओड़िआ मूल पद्य इस प्रकार है -

मङ्गळे अइला उषा बिकच-राजीब-दृशा  
जानकी-दर्शन-तृषा हृदये बहि,

कर-पल्लवे नीहार- मुक्ता धरि उपहार  
सतीङ्क बास-बाहार प्राङ्गणे रहि।  
कळकण्ठ-कण्ठे कहिला,  
दरशन दिअ सति ! राति पाहिला।।<sup>६</sup>

डॉ. मेहेर के संस्कृत रूपान्तर में भी यह पंक्ति उसी प्रकार आस्वादनीय है। अनुवादक ने वैदिक मन्त्रों में वर्णित उषा के लिये प्रयुक्त 'सूनरी' पद का यहाँ प्रसंगवश प्रयोग करके और अधिक सुन्दरता का यथार्थ समावेश किया है। उनके अनूदित संस्कृत शब्दों में भाव इस प्रकार व्यक्त हुए हैं -

मङ्गलं समागता सौम्याङ्गना  
उषा व्याकोषारविन्द-लोचना  
वैदेही-दर्शनाभिलाषं वहन्ती स्वहृदये।  
पल्लव-कर-द्वये  
नीहार-मौक्तिक-प्रकरोपहारं दधाना  
सती-निलय-बहिरङ्गणे विद्यमाना  
अभाषत कोकिल-कण्ठस्वना सूनरी,  
'दर्शनं देहि सति ! प्रभाता विभावरी।।'<sup>७</sup>

कन्या के प्रति माता की संवेदना हृदय की गहरी दिशा को पहचानती है और उसी प्रकार माता के प्रति कन्या की आन्तरिक ममता अटूट रहती है। काव्य में प्रसंगानुसार मातृस्वरूपा तमसा नदी के प्रति कन्या-स्वरूपा सीता की कारुण्यभरी अन्तरानुभूति वास्तविक आत्मीयता का प्रकृष्ट निदर्शन है। ओड़िआ मूल पद्य इस प्रकार है -

सीता बोड़ले, 'पनीर- मधुर ओ स्वच्छ नीर  
नीर नुहे जननीर क्षीर प्रत्यक्षे,  
गिरि-स्तनुं विनिःसृत होइ आसुछि अमृत-  
धारा परि सीता मृत-कळपा लक्ष्ये।  
ओहो तुत मो मा ए देशे,  
मो दुःखे विदीर्ण-वक्षा तमसा-वेशे।।'<sup>८</sup>

डॉ. मेहेर के संस्कृत रूपान्तर में यह हृदयस्पर्शी पंक्ति इस प्रकार है -

जानक्या व्यक्तमकारि,  
'अनाविलमिदं वारि  
नारिकेल-नीर-सम्मिदम्  
माधुर्य-प्रपूरितम्।  
न खलु तन्नैरम्,

भाति जनन्याः प्रत्यक्षमेव क्षीरम्।  
पर्वत-वक्षोज-विनिःसृतमेतत्  
प्रवहति पीयूष-निष्यन्दवत्  
कृते मृतकल्पायाः  
कन्यकायाः सीतायाः।  
देशेऽस्मिन्नहो! त्वमेव माता मे सदाशया  
तमसामूर्ति-मद्वेदना-विदीर्णहृदया।।<sup>१९</sup>

तपस्विनी महाकाव्य में करुणरस की प्रतिमा सीता का प्रासंगिक शोभावर्णन भी अत्यन्त रोचक है। मुनिवर वाल्मीकि के समक्ष तापसी कन्या सुनाती है वन के भीतर उपेक्षित सीता की उपस्थिति के बारे में। ओड़िआ मूल पद्य इस प्रकार है -

सम्बोधन करि थरकु थर ता प्रिय कान्ते,  
पति-गुण पति-बात्सल्य स्मरुअछि एकान्ते।  
लळति दिशुछि ललाटे तार सिन्दूर-बिन्दु,  
मुख-कमळकु होइछि ग्रेहे पूर्णिमा-इन्दु।।<sup>२०</sup>

डॉ. मेहेर के संस्कृत अनुवाद में यही पद्य इस प्रकार व्यक्त है -

सम्बोधयन्ती वारंवारम्  
प्रियतमं भर्तारम्।  
स्मरति विविक्ते स्वमनसा  
वात्सल्यं गुणराशिं स्वामिनः सा।।  
तस्या ललाट-देशे सन्दृश्यते  
सिन्दूर-बिन्दुः सुन्दरः।  
वदनारविन्दं प्रति प्रतीयते  
यथा राका-कलाकरः।।<sup>२१</sup>

प्रकृति एवं सीता परस्पर दुःख-सुख की समभागिनी हैं। हर सर्ग में प्रकृति का चित्रण कवि की लेखनी में विशेष मनोहारी और आकर्षक प्रतीत होता है। प्रकृति के सारे विभाव प्राणवान् सजीव और मानवायित हैं। चतुर्थ सर्ग का फिर एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत है, जहाँ सीता के प्रति वनलक्ष्मी की हार्दिक सखी-प्रीति अभिव्यक्त है। आश्रम के उद्यान में कवि-कल्पिता वनलक्ष्मी सखी-रूपिणी सीता के प्रति भावभरी बातें कहती है। ओड़िआ मूल पद्य है -

ग्रेतेबेळे पुष्पकरे बाहुडिगलु पुष्करे  
उभा होइ पुष्प-करे मृग-नयने,  
ऊर्ध्वे चाहिँ बिषादरे तोते मयूरी-नादरे

डाकु ये थिलि सादरे दीर्घ अयने।  
सखी-कथा स्मरि मनरे,  
आसिलु कि सखि ! आजि एते दिनरे।।<sup>१२</sup>

डॉ. मेहेर के संस्कृत-भाषान्तर में यह भावभरी वाणी इस प्रकार है -

समारूढ-पुष्पक-विमाना  
प्रत्यावृत्ता यदा गगनायने त्वम्,  
पुष्प-करा तदाऽहं दण्डायमाना,  
मृग-नयनाभ्यामूर्ध्वम्  
सविषादं विलोकयन्ती,  
आसं मयूरी-स्वनैस्त्वामाहूतवती  
सुदीर्घ-मार्गतः सादरम्।  
वचनं सख्याः संस्मृत्य मानसे  
सखि ! कृत-पदारपणा किमद्य विद्यसे  
एतावद्-दिवसानन्तरम् ?<sup>१३</sup>

कवि गङ्गाधर के वर्णन में पत्नी विरह से व्याकुल श्रीराम राज सिंहासन को अत्यन्त तुच्छ समझते हैं। प्रजारञ्जन-रूप राजधर्म के पालन हेतु उन्होंने अपना समस्त पारिवारिक सुख को भी त्याग दिया है। फिर भी उनके हृदय में सदा विराजित है - प्राणप्रिया पद्मिनी सीता। श्रीराम का मन-भ्रमर सरस कमल के मकरन्द के आस्वादन में मग्न है। तृतीय सर्ग में प्रसङ्गानुसार प्रियाविरह-व्याकुल सीतापति श्रीराम अपने इन्द्रियों को प्रबोधना देते हैं। उदाहरण-स्वरूप, ओड़िआ मूल पद्य को देखा जा सकता है -

आउ एक कथा कहुछि एकता  
बान्धि तुम्भे मन सङ्गे,  
चाल हृद-सरे अनन्त बासरे  
बिळसिब रस-रङ्गे।  
मो प्राण-सङ्गिनी नब कमळिनी  
फुटि रहिअछि तहिँ,  
स्मरण-भास्कर चिर तेजस्कर  
अस्त तार नाहिँ ग्रहिँ।।<sup>१४</sup>

डॉ. मेहेर के संस्कृत अनुवाद में इस प्रकार शब्द संयोजना है -

ब्रवीमि विषयमेकमपरम्  
यूयं स्वान्तेन सार्धम्  
ऐक्य-बद्धाः सर्वे निर्बाधं

व्रजत हृदय-सरोवरम्।  
अशेष-दिवसान्यथ  
रस-रङ्गेषु विलसिष्यथ।।  
तत्र वर्त्तते मम जीवन-सङ्गिनी  
प्रफुल्ला नवीना राजीविनी,  
यस्मिन् सुचिर-ज्योतिष्मान्  
स्मरण-विवस्वान्  
अविरतं विराजते,  
कदापि नास्तं भजते।।<sup>१५</sup>

कवि गंगाधर मेहेर के 'तपस्विनी' काव्य में वर्णित श्रीरामचन्द्र एक महान् आदर्शवादी प्रजावत्सल राजा और सामाजिक त्यागी गृहस्थ हैं। आदर्श पति हैं श्रीराम एवं आदर्श पत्नी हैं साध्वी पतिव्रता सती सीता। ये दोनों भारतीय संस्कृति में युग-युग पूजास्पद और सदैव स्मरणीय हैं। कवि ने इस काव्य के हर सर्ग में सीता के लिये 'सती' शब्द का प्रयोग करके उनके उज्ज्वल आदर्श चरित्र का अनुपम चित्रण किया है।

'तपस्विनी' के उपर्युक्त उदाहरण केवल दिग्दर्शनमात्र हैं। समग्र पुस्तक में अपने सरस, लालित्य-माधुर्यपूर्ण एवं आनुप्रासिक शब्दविन्यास के माध्यम से अनुवादक डॉ. हरेकृष्ण मेहेर ने स्वकीय अनुवाद-कला का एक सफल निदर्शन उपस्थापित किया है। उनका सुरभारती-रूपान्तर में प्रस्तुत यह 'तपस्विनी' महाकाव्य निश्चित ही आधुनिक संस्कृत साहित्य की समृद्धि में विशेष सहायक होगा और सहृदय काव्यामोदी विद्वानों का आदर-भाजन रहेगा, ऐसा विश्वास है।

### सन्दर्भ सूची

१. हरेकृष्णमेहेरस्य आत्मनीकथा।
२. तपस्विनी महाकाव्य, दशम सर्ग।
३. तपस्विनी महाकाव्य, दशम सर्ग।
४. तपस्विनी महाकाव्य, द्वितीय सर्ग।
५. तपस्विनी महाकाव्य, द्वितीय सर्ग।
६. तपस्विनी महाकाव्य, चतुर्थ सर्ग।
७. तपस्विनी महाकाव्य, चतुर्थ सर्ग।
८. तपस्विनी महाकाव्य, चतुर्थ सर्ग।
९. तपस्विनी महाकाव्य, चतुर्थ सर्ग।
१०. तपस्विनी महाकाव्य, तृतीय सर्ग।
११. तपस्विनी महाकाव्य, तृतीय सर्ग।
१२. तपस्विनी महाकाव्य, चतुर्थ सर्ग।
१३. तपस्विनी महाकाव्य, चतुर्थ सर्ग।

१४. तपस्विनी महाकाव्य, तृतीय सर्ग।

१५. तपस्विनी महाकाव्य, तृतीय सर्ग।

**सहायकग्रन्थ-सूची**

- गङ्गाधर- ग्रन्थावली (तपस्विनी-काव्य सहिता, मूल ओडिआ), संपादक - डॉ. हेमन्त कुमार दास, प्रकाशक - पुस्तक भण्डार, ब्रह्मपुर, गञ्जाम, ओडिशा १९७७
  - तपस्विनी महाकाव्यम् (कवि - गङ्गाधरमेहेर कृत), संस्कृतानुवादक : प्रो. हरेकृष्ण मेहेरः, प्रकाशकः - सम्बलपुर विश्वविद्यालय, ज्योतिविहार, ओडिशा, २०१२
-

## हिन्दी पत्रकारिता : मिशन से प्रोफेशन

दीपक कुमार\*, डॉ. अमित कुमार मिश्र\*\*

### शोध सारांश

पत्रकारिता सामाजिक संचार का सबसे सशक्त और विस्तृत माध्यम है। जिसका जनमानस पर अमित प्रभाव है। जिसमें विश्वनीयता के साथ साथ आकर्षण भी है। बदलते समय के साथ आये परिवर्तन से नए बाज़ार का आगाज हुआ है। तभी तो यह मिशन से प्रोफेशन और प्रोफेशन से मिशन में परिवर्तित होकर भी सामाजिक जिम्मेदारियों का निर्वहन कर रहा है। प्रस्तुत शोध में पत्रकारिता के समयानुकूल परिवर्तित स्वरूपों की व्याख्या है जिसमें मिशन से प्रोफेशन तक और पुनः प्रोफेशन से मिशन तक की संक्षिप्त चर्चा की गई है। प्रस्तुत शोध में वर्णात्मक सह विश्लेषणात्मक शोध पद्धति का प्रयोग किया गया है। साथ ही वर्णात्मक सह विश्लेषणात्मक पद्धति के लिए शोधार्थी द्वारा द्वितीयक आकड़ों का उपयोग कर शोध की सार्थकता एवं उपयोगिता सिद्ध करने का प्रयास भी किया गया है। उपर्युक्त शोध हेतु किये गए साहित्य अवलोकन से इस बात की भी पुष्टि होती है कि समय के साथ भारतीय पत्रकारिता में आमूल-चूल परिवर्तन हुए। तकनीकी विकास के साथ-साथ तकनीकी समझ वाले पाठकों में भी इजाफा साफ़ दिखता है। अन्तोगत्वा निष्कर्ष निकलता है कि पत्रकारिता समय के साथ बदल रहा है, जिसमें मिशन और प्रोफेशन दोनों का समावेश है। जो सामाजिक प्रश्नों का तर्कपूर्ण उत्तर भी देता है, ताकि कहा जा सकता है कि पत्रकारिता मिशन के साथ-साथ प्रोफेशन भी है।

शब्दसार - मीडिया, संचार, कॉर्पोरेट सेक्टर ।

### प्रस्तावना

पत्रकारिता शब्द अपने आप में बहुत व्यापक और विस्तृत है। इसका स्वरूप काफी बड़ा है जिस कारण इसका कार्यक्षेत्र भी अपने आप में विस्तृत है। भारत में पहली बार इस शब्द की ताकत को १७८० ई. में जेम्स अगस्ट्स हिकी ने महसूस किया और अन्याय के विरुद्ध आवाज़ उठाने के लिए समाज में क्रांति का शंखनाद किया। दूसरे शब्दों में आप कह सकते हैं कि भारतीयों में भी क्रांति जागृत करने के लिए जेम्स अगस्ट्स हिकी ने भारतीयों को पहला समाचार पत्र अंग्रेज़ी भाषा में “बंगाल गजट” के रूप में दिया था। ताकि वे लेखनी के माध्यम से अपनी बातों को दूसरों तक पहुँचाएँ। लेकिन सही मायनों में माना जाता है कि “बंगाल गजट” के बाद १८२६ ई. में पं. युगल किशोर शुक्ल ने भारतीयों को उनकी अपनी भाषा हिन्दी में “उदन्त मार्तण्ड” के रूप में समाचार पत्र दिए जो भारतीय समाज में आज़ादी की लड़ाई के प्रति नई चेतना

\* छात्र, पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग जी. एन. एस. विश्वविद्यालय जमुहार, सासाराम, बिहार

\*\* विभागाध्यक्ष, पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग जी. एन. एस. विश्वविद्यालय जमुहार, सासाराम, बिहार

जगाने का काम किया। इस समाचार पत्र ने जंगों आज़ादी की लड़ाई को एक अलग दिशा दी। भारतीयों को उनकी अपनी भाषाओं में एक दूसरे से संवाद करने का मौका मिला। अंग्रेजों की कुरीतियों को इस समाचार पत्र ने बेनकाब करने का काम किया। हिन्दी पत्रकारिता को लेकर आज चाहे जो भी परिभाषा गढ़ लें या लिख दें, लेकिन जो भारत के पहले हिन्दी समाचार पत्र “उदन्त मार्तण्ड” में उसके सम्पादक ने पत्र प्रकाशित होने के पहले दिन ही मुख्य पृष्ठ पर जो अपनी भाषा में लिखा है कि “यह उदन्त मार्तण्ड अब पहले पहल हिंदुस्तानियों के हेतु जो, आज तक किसी ने नहीं चलाया पर अंग्रेज़ी ओ पारसी ओ बंगाली में जो समाचार का कागज छपता है उसका उन बोलियों को जानने ओ समझने वालों को ही होता है और सब लोग पराए सुख सुखी होते हैं। जैसे पराए धन धनी होना और अपनी रहते परायी आँख देखना वैसे ही जिस गुण में जिसकी पैठ न हो उसको उसके रस का मिलना कठिन ही है और हिंदुस्तानियों में बहुतेरे ऐसे हैं। इसका मतलब ये है कि हिन्दुस्तानियों के हित के लिए इस समाचार पत्र को निकाला गया था। कई किताबों में पं. युगल किशोर शुक्ल जी के बारे में लिखा गया है कि वो जानते थे अगर ब्रिटिश सरकार की कुरीतियों के बारे में लोगों को बताना है तो उनकी ही भाषा में समाचार पत्र को निकालना होगा, लोगों तक पहुँचाना होगा हालाँकि उस समय हिन्दी में समाचार पत्र पढ़ने वाले लोग भी बहुत कम ही मिलते थे। ब्रिटिश सरकार भी इस बात को बखूबी जानती थी कि भारत में पढ़े लिखे लोग बहुत कम है। यहाँ कोई भी काम अंग्रेज़ी में आसानी से किया जा सकता है। दूसरी तरफ वो भयभीत भी थे कि अगर हिन्दी में उनके कार्यों के बारे में आमलोगों को जानकारी मिलने लगेगी तो उनकी कुरीतियों को बड़ी आसानी से यहाँ के लोग समझ जायेंगे। यही कारण रहा कि पं. युगल किशोर शुक्ल जी के उस आवेदन को बार-बार अस्वीकार किया गया जिसमें उन्होंने ब्रिटिश सरकार से ये माँग की थी कि उनके समाचार पत्रों को दूर दराज जगहों पर भेजने में जो डाक खर्च लग रहा है उसे कम की जाए ताकि लोगों तक आसानी से कम से कम खर्च में समाचार पत्र पहुँच सके लेकिन ब्रिटिश सरकार ने उनके इस माँग को खारिज कर दिया। अगर हम इतिहास के पन्नों को पलट के देखें तो पाते हैं कि हिन्दी पत्रकारिता की ताकत सिर्फ भारत में ही महसूस नहीं की जा रही थी बल्कि इसकी ताकत विदेशों में भी महसूस की गयी थी, यही कारण रहा कि विदेशों में रह रहे भारतीय प्रवासियों ने लन्दन से सन् १८८३ ई. में “हिन्दुस्तान” नामक त्रैमासिक समाचार पत्र का प्रकाशन किया जिसके संस्थापक राजा रामपाल सिंह थे। आप इतिहास के अन्य पन्नों को पलट कर देखें तो जितने भी स्वतंत्रता सेनानी थे उन सबों ने पत्रकारिता को ही अपना मजबूत हथियार बनाया, उन सभी ने अपनी बातों को रखने के लिए पत्रकारिता का सहारा लिया चाहे राजा राममोहन राय हों, लाला लाजपत राय हों, बाल गंगाधर तिलक हों, भगत सिंह हों, बाबा साहेब भीमराव अम्बेडकर हों, पं. जवाहर लाल नेहरू हों, महात्मा गाँधी हों, गणेश शंकर विधार्थी हों ऐसे कई हजारों, लाखों नाम इतिहास के पन्नों में दर्ज हैं जिन्होंने इस पत्रकारिता को अपनी अपनी भाषाओं में हथियार बनाकर ब्रिटिश सरकार से दो दो हाथ किये और इस देश को अंग्रेजों की चंगुल से छुड़ाया। दूसरी तरफ हिन्दी पत्रकारिता के विकास में साल १९०० ई. बेहद महत्वपूर्ण माना जाता है, इसी वर्ष “सरस्वती” समाचार पत्र का प्रकाशन शुरू हुआ था, जो अपने समय का सबसे अधिक महत्वपूर्ण और प्रभावी समाचार पत्र माना जाता है। इस समाचार पत्र का मुख्य उद्देश्य था हिन्दी साहित्य को बढ़ावा देना, आज़ादी के पूर्व हिन्दी पत्रकारिता ने अनेक उतार-चढ़ाव देखे, इसके पत्रकार जेल गये, पुलिस की लाठियाँ खाई, अपनी जान की कुर्बानियाँ दी सिर्फ इसलिए की उनका देश

आजाद हो सके। तब उस लड़ाई को लड़ने का एक ही जरिया था- “पत्रकारिता।” कहते हैं समय परिवर्तनशील होता है। पत्रकारिता में भी इस बात को स्पष्ट महसूस किया जा सकता है; क्योंकि आज समय के साथ-साथ पत्रकारिता के रूप में काफी बदलाव हुए हैं। स्वतंत्रता पूर्व जो पत्रकारिता मिशन हुआ करती थी वही आज प्रोफेशन बनकर लोगों द्वारा की जा रही है। एक समय था जब पत्रकार निष्पक्ष पत्रकारिता के लिए जान दे दिया करते थे लेकिन अंग्रेजों के दिए गए लालच, धन सम्पत्ति के सामने अपनी कलम को कभी झुकने नहीं दिया। अपनी कलम की धार को तलवार की धार से भी तेज रखा। आज वही कलम, वही पत्रकारिता स्वतंत्रता बाद कॉर्पोरेट घरानों की गुलाम बनकर रह गयी, अब तो ऐसा देखा जाता है कि कलम तभी बोलती है जब उसका मालिक बोलने के लिए कहता है, वही लिखती है जो उसका सम्पादक कहता है। हालाँकि बावजूद इसके कहीं न कहीं, कुछ न कुछ, कोई न कोई तो है जिसने पत्रकारिता की विश्वनीयता को बनाए रखा है।

### कॉर्पोरेट चंगुल में पत्रकारिता

आजादी के बाद हिन्दी पत्रकारिता का विकास बहुत ही तेजी से हुआ है। जहाँ एक तरफ तकनीकी विकास हुआ तो वही दूसरी ओर पाठकों ने में भी बदलते तकनीक को तेजी से अपनाया। लेकिन यह भी सत्य है कि इस कालखण्ड में हिन्दी पत्रकारिता का पतन भी हुआ। इसी कालखण्ड में पत्रकारिता ने आपातकाल जैसी स्थितियों का भी सामना किया, दूसरी ओर बाजारवाद भी हावी होता देखा गया। वर्तमान में ऐसा महसूस हो रहा है कि पत्रकारिता आज उद्योगपतियों के हितों की रक्षा के मुख्य साधन बन गये हैं। प्रारम्भिक दौर में पत्रकारिता करना अपने आप में मिशन हुआ करती थी, देश सेवा हुआ करती थी। लेकिन आज उस सेवा और पत्रकारों की उस पत्रकारिता की परिभाषा बदल गयी है। आज की पत्रकारिता सिर्फ और सिर्फ व्यापार, उद्योगपतियों और नेताओं के हाथ की कठपुतली बनकर रह गयी है। कभी दूसरों की आवाज बनने वाली पत्रकारिता आज अपनी आवाज को ही सही से उठा नहीं पा रही है। आज हिन्दी पत्रकारिता के साधन बदल गये हैं। आज हिन्दी पत्रकारिता करने वाले ही सही से हिन्दी नहीं बोल पा रहे हैं वो हिन्दी और इंग्लिश को मिला कर हिंगलिश बना दिए हैं। स्वतंत्रता पूर्व पत्रकारिता करने के लिए पत्रकारिता की पढ़ाई नहीं करनी पड़ती थी, इसके लिए कोई कोर्स भी नहीं था लेकिन आज पत्रकारिता का इतना बाजारीकरण हो गया है कि इसके लिए देश और दुनिया में पत्रकारिता की पढ़ाई देश के विभिन्न संस्थानों में कराई जा रही है साथ ही इसके लिए अलग अलग पाठ्यक्रम भी शुरू किये गये हैं। इसके बावजूद पत्रकारिता मिशन है या प्रोफेशन यह सवाल आज यक्ष प्रश्न जैसा है।

हालाँकि पत्रकारिता के मिशन की एक कहानी इतिहास के पन्नों में कुछ इस तरह दर्ज है कि जब लोकमान्य तिलक को उनके समाचार पत्र में लिखे एक लेख को लेकर एक बार ब्रिटिश सरकार के अदालत में उन्हें बुलाया गया तो उन्होंने बड़े ही गर्व के साथ कहा कि “मेरा समाचार पत्र निकालने का उद्देश्य धन अर्जन करना या यश प्राप्ति की लिप्सा नहीं है। मैंने उसके अक्षर-अक्षर में क्रांति के बीज बोये हैं जो विदेशी शासन के प्रसाद को धूल-धूसरित कर देगा। शासन के प्रति विद्रोह ही मेरी पत्रकारिता का पहला और अंतिम उद्देश्य है।” आज स्थिति ठीक उसके उलट है हिन्दी पत्रकारिता का दुर्भाग्य है कि जब उसके पास विचार था मिशन था तब उसके पास समाचार नहीं थे आज समाचार है साधन है तो विचार नहीं है। इसका कारण ये भी है आज पत्रकारिता सिर्फ प्रिंट तक सीमित नहीं रही इसके कई स्वरूप आ चुके हैं,

प्रिंट मीडिया के अलावा टेलीविजन, रेडियो, डिजिटल मीडिया यहाँ तक कि अब मोबाइल भी पत्रकारिता में हस्तक्षेप करने लगा है। आज हर को पत्रकार है हर कोई पत्रकारिता कर रहा है कोई अपना यूट्यूब चैनल खोल कर काम कर रहा है तो कोई अपना न्यूज वेबसाइट चला रहा है, कोई फेसबुक स्ट्रीम के जरिये फ्रीलांसर पत्रकारिता कर रहा है। मतलब देखते-देखते आज यह पूर्ण रूपेण व्यवसाय बन गया है।

### पत्रकारिता का व्यापक विस्तार

पूर्व में मिशन भावना से शुरू हुई पत्रकारिता, सामाजिक, राजनैतिक आदि समाचारों का संकलन, साहित्य का सृजन आदि तक सीमित थी वहीं अब पत्रकारिता के साथ जुड़ी व्यावसायिकता और विज्ञान के बढ़ते चरणों ने पत्रकारिता में संभावनाओं को विस्तार किया है। अपनी इच्छा के अनुसार इस क्षेत्र में सबके लिए द्वार खुले पड़े हैं, क्योंकि पत्रकारिता के साथ व्यापार और व्यवसाय से जुड़े तमाम विषय खेल, संस्कृति, भाषा, कला, सिनेमा, फोटोग्राफी, कार्टून, साहित्य, सामान्य राजनीति, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, कूटनीति, विश्वव्यापी हलचलें, पर्यावरण, पर्यटन व साहसिक पर्यटन सहित कई विषय इसके अन्तर्गत जुड़ गए हैं। इसी कारण से आज पत्रकारिता के क्षेत्र में असीम संभावनाएँ बन गई हैं। कैरियर के हिसाब से पत्रकारिता का क्षेत्र संभावनाओं से भरा है। इंडिया टीवी, इंडिया न्यूज, नवभारत टाइम्स आदि मीडिया हाउस में काम कर चुके वरिष्ठ पत्रकार मधुरेन्द्र सिन्हा पत्रकारिता को लेकर कहते हैं – “बदलते वक्त के साथ पत्रकारिता अगर बदल गई है तो इसमें गलत कुछ भी नहीं है, जो लोग इस तरह के आरोप लगाते हैं कि पत्रकारिता एक मिशन नहीं है और यह अपने उद्देश्य से भटक गई है लेकिन इसे शाश्वत सत्य मान लेना एक बड़ी गलती हो सकती है। असल में पत्रकारिता में जिस चीज की जरूरत है वह है एक पत्रकार के भीतर उसके जुझारूपन की, अगर ये हर पत्रकार मान लें तो आज भी पत्रकारिता प्रोफेशन के साथ मिशन ही होगा।”

### पत्रकारिता का बदलता स्वरूप

आज भारत ही नहीं बल्कि पूरी दुनिया में पत्रकारिता मिशन और प्रोफेशन दोनों रूपों में फल-फूल रहा है और इसका व्यवसाय लाखों करोड़ों का है। आज बड़ी बड़ी कंपनियाँ इसमें दिलचस्पी दिखा रही हैं। अपने पैसे लगाकर नए नए चैनल खोल रहे हैं जिनके लिए पत्रकारिता अब दूध देने वाली गाय है एक तरफ कंपनियाँ पत्रकारिता के जरिये सत्ता से साँट-गाँठ तो बनाती हैं, तो दूसरी तरफ पैसे भी खूब कमाती हैं। उनके लिए यह काम मुनाफे का होता है। इन कंपनियों की इस व्यवसाय से आय इतनी है कि इन सबने मिलकर पत्रकारिता के स्वरूप को बदल दिया है। यही कारण है कि आज लोग पत्रकारिता पर प्रश्न चिन्ह खड़ा कर रहे हैं और कहते हैं पत्रकारिता अब मिशन नहीं रही। यह बात बार-बार उठाई जा रही है। कई आलोचक कहते हैं कि बाजारीकरण ने पत्रकारिता के मूल सिद्धान्त को खत्म कर दिया है। इसमें कोई शक नहीं कि पत्रकारिता अब मिशन नहीं रहा। हालाँकि ऐसा भी नहीं है कि अब मिशन वाली पत्रकारिता नहीं की जा सकती है अगर इस प्रोफेशन कोई ईमानदारी से निभाया जाए तो यह अब भी समाज का भला कर सकता है। वस्तुतः कर भी रहा है, लेकिन सार्थकता कम नकारात्मकता ज्यादा परिलक्षित हैं। जिसने पत्रकारिता के विश्वनीयता को खतरे में डाल रखा है। हमारे यहाँ पत्रकारिता को लेकर एक बहुत ही प्रसिद्ध उक्ति है “पत्रकार दो ही चीजों से मरते हैं पहला बोली, दूसरा गोली इसमें अधिक संभावनाएँ गोली से मरने की होती है।” आज भी तमाम देशों में हर साल हजारों पत्रकारों की हत्या की खबरें आती हैं। अभी हाल

ही (जनवरी, २०२१) में किसान आंदोलन को कवरेज करते हुए हरियाणा के रहने वाले स्वतन्त्र पत्रकार मनदीप पुनिया को गिरफ्तार कर लिया गया। मनदीप पर आरोप लगा कि उन्होंने पुलिस के काम में बाधा पहुँचाया है। ऐसे ही किसान आंदोलन को कवरेज कर रहे कई और पत्रकारों पर मुकदमे दर्ज किए गए। जो अभिव्यक्ति की आज़ादी के लिए कितना ठीक है। फैसला पाठकों और दर्शकों को लेना होगा। उत्तर प्रदेश पुलिस किसान आंदोलन को लेकर वरिष्ठ पत्रकार राजदीप सरदेसाई, नेशनल हेराल्ड के वरिष्ठ सलाहकार मृणाल पांडे, कौमी आवाज के संपादक जफर आगा, द कारवां के परेश नाथ, अनंत नाथ और विनोद के. जोस के खिलाफ राजद्रोह कानून के तहत मुकदमा दर्ज किया। इन पर आरोप लगा कि इन लोगों ने ट्वीट के जरिए लोगों को गुमराह किया है। इसको लेकर प्रेस क्लब ऑफ इंडिया की सीमा मुस्तफ़ा ने कहा 'इस तरह के दौर में पत्रकारिता कैसे की जा सकती है। ये आरोप सिर्फ पत्रकारों को डराने के लिए नहीं है बल्कि अपना काम करने वाले हर व्यक्ति को डराने के लिए है। ये कहानी कोई नई नहीं है ऐसे बहुत से पत्रकार हैं जो पहले भी जेल गए हैं और अभी भी जा रहे हैं। लेकिन तब और अब में काफी फर्क है। gijin.org वेबसाइट पर कमिटी टू प्रोटेक्ट जर्नलिस्ट्स के रिपोर्ट में इस बात का जिक्र है कि दुनिया भर में १९९२ से अब तक १४०० से अधिक पत्रकारों की हत्या कर दी गई है। उनमें से ८९० से अधिक पत्रकारों के किसी भी हत्यारे को कभी न्याय के कटघरे में लाया तक नहीं गया। आज भी दुनिया भर में २७४ से अधिक पत्रकार जेल में बन्द हैं। इन आँकड़ों को देखने के बाद ये सीना ठोक कर यह कहा जा सकता है कि आज भले ही पत्रकारिता मिशन ना रही हो लेकिन आज भी इस काम को करना आसान नहीं है, अगर किसी दर्शक और पाठक के विचार पत्रकारों के विचार नहीं मिलते हैं तो सुबह से शाम तक उन पत्रकारों को सोशल मीडिया के जरिये ट्रोल किया जाता है। एक गलती पर सरकार स्वतन्त्र पत्रकारिता कर रहे पत्रकारों को उठा कर जेल में डाल देती है। आये दिन ऐसी खबरें हमारे बीच दिखता है।

एक पत्रकार से जनता की अपेक्षाएँ बहुत होती हैं, लेकिन जब उसी पत्रकार के साथ कुछ गलत होता है तो यही समाज उससे मुँह मोड़ लेता है इसके बाबजूद आज भी कुछ लोग खोजी पत्रकारिता कर रहे हैं ऐसे में यह कहना गलत होगा कि पत्रकारिता एक मिशन नहीं है। यह अभी भी एक मिशन है लेकिन इसका स्वरूप बदल गया है। अब इसमें अधिक हस्तक्षेप कॉर्पोरेट घरानों का हो गया है ये दुर्भाग्य है जैसे शिक्षा का बाजारीकरण हो गया है वैसे ही इसका भी हुआ है यही कारण है कि आज सवालों के घेरे में पत्रकारिता खड़ा है। किसी भी लोकतांत्रिक समाज की व्यवस्था के संचालन में मीडिया की शक्तिशाली भूमिका होती है। सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में पत्र-पत्रिकाएँ जनता की पथ प्रदर्शक, शुभचिंतक एवं निस्वार्थी भूमिका का निर्वहन करता है। उनकी वास्तविक प्रकृति एवं गतिविधियाँ सामाजिक एवं राजनैतिक भ्रष्टाचार, अन्याय, शोषण एवं असमानता के विरुद्ध होती है, लेकिन ऐसे सिद्धान्तों का पालन करते बहुत कम ही कम मीडिया घरानों को देखा जाता है। samachar4media.com की एक रिपोर्ट के मुताबिक वरिष्ठ पत्रकार उमेश त्रिवेदी वर्तमान समय की पत्रकारिता को लेकर कहते हैं कि आज किसी भी समाचार पत्र को, टेलीविजन हाउस को, रेडियो चैनल को शुरू करने के लिए उसे खड़ा करने के लिए करोड़ों रूपए खर्च होते हैं - "इसी कारण मीडिया या पत्रकारिता को एक व्यवसाय के रूप में देखा जाने लगा है। लेकिन इस बात पर कोई ध्यान देने को तैयार नहीं कि यह व्यवसाय कैसे चल रहा है और इसे चलाने के लिए किस तरह के संसाधन इस्तेमाल किए जा रहे हैं यह विचारणीय है। मार्केटिंग का एडिटोरियल पर बढ़ते दबाव के

कारण एडिटरियल के पन्ने भी तरह-तरह के विचारों को खबरों की तरह प्रकाशित कर रहा है। मीडिया से विचार नाम की शक्ति के गायब हो जाने से और अपने मूल स्वभाव के दूर होने से पत्रकारिता मिशन की बजाय प्रोफेशन बनती जा रही है।”

आज लगभग जितने भी मीडिया घराने हैं सभी की कमान व्यवसायी लोगों के हाथों में है उनके मीडिया हाउस में आठ दस हजार के वेतन पर काम करने वाले पत्रकार कहाँ से निष्पक्ष हो पायेंगे, उन्हें भी अपनी रोजी रोटी चलानी है उनकी भी मजबूरी है जैसे उनके मालिक कहते हैं वैसी पत्रकारिता उन्हें करनी पड़ती है। कोई पत्रकार पूरी ईमानदारी से, पत्रकारिता के मूल मिशन और सिद्धान्त पर काम करना भी चाहे तो वह कुछ महीने ही मुश्किल से काम कर पाएगा, क्योंकि समाचार पत्र या पत्रिका के मालिक उसे चलता कर देंगे। अब महात्मा गाँधी और गणेश शंकार विद्यार्थी जैसे पत्रकारों का जमाना भी नहीं रहा, आज एक अखबार प्रकाशित करने में और न्यूज चैनल के ऑन-एयर होने में काफी खर्च होता है। मीडिया घरानों को विज्ञापन के जरिए ही अपने कर्मचारियों का खर्च निकालना होता है इसमें गलत भी कुछ नहीं है।

### पत्रकारिता का भविष्य

जब से पत्रकारिता में डिजिटल मीडिया ने एंट्री मारी है इसके प्रति लोगों का रुझान बहुत ही तेजी से बढ़ा है, वहीं हम भारत के टॉप १० समाचार पत्रों और टॉप १० टेलीविजन चैनलों की भाषा देखें तो ऊपर से नीचे तक हिन्दी भाषा के ही समाचार पत्र और टेलीविजन चैनल हैं जिसे दर्शक पसंद करते हैं। जैसे-जैसे पत्रकारिता का क्षेत्र बढ़ रहा है वैसे-वैसे हिन्दी का प्रयोग भी तेजी से बढ़ रहा है ये बहुत अच्छी बात है। आज हिन्दी में खबरों को पढ़ने वालों की दर प्रतिवर्ष ९४ प्रतिशत की रफ्तार से बढ़ रही है जबकि अंग्रेजी में यह दर १९ प्रतिशत के लगभग है। आज हमारे देश में ८० प्रतिशत रीडर मोबाइल पर उपलब्ध हैं इन सभी आँकड़ों को देखने के बाद ये स्पष्ट कहा जा सकता है कि आने वाले दिनों में पत्रकारिता का क्षेत्र और भी व्यापक होने वाला है।

आज मीडिया में एक नया शब्द जन्मा है जिसे न्यू मीडिया कहते हैं। ये नए व्यवसायिक पत्रकारिता की नयी शुरुआत है। बाजार में अभी इसका ट्रेंड है और सबसे बड़ी बात ये है कि सबसे अधिक काम न्यू मीडिया के पास है, क्योंकि बाजार में न्यूज पोर्टल की माँग बढ़ रही है। न्यू मीडिया ने बाजार के हर उत्पाद को हर दरवाजे तक पहुँचाया है। यह मीडिया उपभोक्ताओं के जरूरतों को बखूबी समझ चुका है। तभी तो आज एक स्टूडेंट भी न्यूज पोर्टल खोल कर अच्छी कमाई कर रहा है। कई बड़े पत्रकारों ने भी मेन स्ट्रीम मीडिया से जाँब छोड़ कर अपना न्यूज पोर्टल खोलकर स्वतन्त्र रूप से काम करना प्रारम्भ कर दिया है। दूसरी ओर मीडिया में विज्ञापन भी आय का मुख्य स्रोत है यह अपने आप में एक बड़ा बाजार है जिसमें लाखों लोग मिलकर काम कर रहे हैं। टेलीविजन और रेडियो का जब से विस्तार ब्रॉड लेवल पर हुआ है लोगों ने इसमें अपनी बेहतर कैरियर की संभावना की तलाश शुरू कर दी है। मोटी कमाई और पब्लिक फिगर बनने जैसी संभावनाओं को मीडिया ने जन्म दिया है। इस क्षेत्र में सेल्स रिप्रेजेंटेटिव, स्पोर्ट्स एंकर, न्यूज एंकर, वीडियो एडिटर, ऑडियो एडिटर, फिल्म डॉयरेक्टर, रेडियो आरजे, फोटोग्राफर, स्क्रिप्ट राईटर, एडिटर आदि जैसे पदों पर काम करके लोग कैरियर बना रहे हैं और ये निरन्तर बढ़ भी रही है।

### शोध पद्धति

प्रस्तुत शोध में वर्णात्मक सह विश्लेषणात्मक शोध पद्धति का प्रयोग किया गया है। साथ ही वर्णात्मक सह विश्लेषणात्मक पद्धति के लिए शोधार्थी द्वारा द्वितीयक आँकड़ों का उपयोग कर शोध की

सार्थकता एवं उपयोगिता सिद्ध करने का प्रयास भी किया गया है।

### साहित्य अवलोकन

उपर्युक्त शोध शीर्षक से सम्बंधित विभिन्न साहित्य का जब अवलोकन शोधकर्ता द्वारा किया गया तो देखा गया कि डॉ. मनोज लोढ़ा और डॉ कुंदन आचार्य ने अपनी पुस्तक “संवाद सेतु” में इस बात का जिक्र किया है कि हिन्दी पत्रकारिता का प्रभाव विदेशों में भी रहा है, क्योंकि १८८३ में जब “हिंदुस्तान” त्रैमासिक पत्र का प्रकाशन लंदन में हुआ तो उसका खासा प्रभाव वहाँ के जन मानस पर पड़ा। फिर यही समाचार पत्र बाद में भारत से प्रकाशित किया जाने लगा। वहीं दूसरी तरफ प्रमोद पांडेय अपनी किताब “काल विभाजन - हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास” में हिन्दी पत्रकारिता के लिए १९०० ई. के समय को अति महत्वपूर्ण माना है, क्योंकि इस समय हिन्दी पत्रकारिता का काफी विकसित होने के प्रमाण मौजूद हैं। इसी के साथ इस बात का भी वर्णन उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय के पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग द्वारा प्रकाशित किताब “पत्रकारिता का इतिहास एवं समसामयिक परिप्रेक्ष्य” में हैं कि कैसे समय के साथ आज पत्रकारिता सिर्फ प्रिंट तक सीमित नहीं है बल्कि अब मोबाइल भी पत्रकारिता में हस्तक्षेप करने लगा है।

### निष्कर्ष

प्रस्तुत शोध पत्र में पत्रकारिता को जनमाध्यम का सबसे सशक्त साधन माना गया है। जिसकी पहुँच हर व्यक्ति विशेष तक है, क्योंकि इसके विस्तार ने आज प्रत्येक घर में अपनी अलग पहचान बना ली है। साथ ही वर्तमान की पत्रकारिता ने सामाजिक उत्थान के साथ नये तकनीकों को अपनाकर बाजारवाद का विस्तार किया है। जिससे रोजगार के अवसर विकसित हुए हैं। पत्रकारिता के बदलते स्वरूप से इस बात का भी पता चलता है। नए युग की पत्रकारिता मिशन और प्रोफेशन दोनों का निर्वाह करते हुए सूचनाओं का प्रसारण कर रहा है।

### सन्दर्भ

- कुमार, श्रवण (२००६), हिन्दी पत्रकारिता का बदलता स्वरूप, ओमेगा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, ११०००२.
- मिश्र, अखिलेश (२००४), पत्रकारिता मिशन से मीडिया तक, राज कमल प्रकाशन, पटना।
- कुमार, संतोष (२००८), पत्रकारिता कल आज और कल, ओमेगा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, ११०००२.
- खांडेकर, कोहली विनीता (२०१३), भारतीय मीडिया व्यवसाय, सेज पब्लिकेशन, नई दिल्ली, ११००४४.
- पुराणिक, आलोक (२००७), आर्थिक पत्रकारिता, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली.
- चड्ढा, सविता (२००७), हिन्दी पत्रकारिता : सिद्धांत और स्वरूप, तक्षशिला प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली, ११००२२.
- <http://www.newswriters.in/?p=614>
- <https://gijn.org/safety-and-security-journalists-hindi/>
- <https://www.bbc.com/hindi/india-55877915>
- <https://www.samachar4media.com/industry-briefing/45846-45846.html>

## स्त्री विरुद्ध अपराध : देवी अस्मिता का खंडन के संदर्भ में 'दयानन्द दिग्विजयम्' महाकाव्य में नारी विमर्श एक नैतिक मूल्य

प्रवीण शर्मा\*

सारांश

यत्रनार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।

यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।।<sup>१</sup>

मनुस्मृति का यह उद्धोष वैदिक संस्कृति के दृश्य को परिलक्षित करता है जहाँ पर नारी को एक सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। आज के समाज की नारी की अपेक्षा वैदिक काल की नारी को अधिक अधिकार व समानता के भाव से देखा जाता था। अपाला, घोषा, त्रिषला, बिपाशा, लोपामुद्रा तथा गार्गी इत्यादि वैदिक ऋषियों के नाम का संकेत यहाँ पर दिया जा सकता है। जिन्हें वैदिक काल में सम्मान व यश समाज में प्राप्त था। कालचक्र ने अपनी गति को बदला व धीरे-धीरे स्त्रियों के सम्मान व अधिकारों में कमी तथा उनके प्रति अपराधों में वृद्धि होने लगी। महर्षि दयानन्द सरस्वती के संपूर्ण जीवन चरित्र पर आधारित पंडित अखिलानंद शर्मा द्वारा प्रणीत 'दयानन्द दिग्विजयम्' महाकाव्य संस्कृत का आधुनिक महाकाव्य है जो नारी जाति के उद्धार, कल्याण, इनके प्रति सम्मान, समान अधिकार, सामाजिक कुरीतियों, सती प्रथा, विधवा विवाह का समर्थन, बाल विवाह निषेध इत्यादि नारी संबद्ध विषयों का वर्णन करता है। इस महाकाव्य में स्त्रियों के प्रति अनेक अपराधों की निंदा महर्षि दयानन्द सरस्वती ने पग-पग पर की है तथा नारी की देवी अस्मिता को बनाए रखने के लिए महर्षि द्वारा आजीवन अनवरत् प्रयास किया गया है।

शोचयन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।

न शोचयन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा।।<sup>२</sup>

कूट शब्द : महर्षि, नैतिक, नारी, वैदिक धर्म, कन्या, कुरीतियाँ, ब्रह्म, प्राजापत्य, आर्ष।

'दयानन्द दिग्विजयम्' महाकाव्य अर्वाचीन कवि पंडित कविरत्न पं. अखिलानंद शर्मा द्वारा प्रणीत है। इसमें २१ सर्ग व २३४८ पद्यों में महर्षि दयानन्द सरस्वती के निःशेष जीवन चरित्र को प्रस्तुत किया गया है। इसमें स्वामी दयानन्द सरस्वती के वैदिक धर्म चिंतन व प्रचार-प्रसार को प्रमुखता से प्रकट किया गया है। १९वीं सदी में भारतीय समाज की जो दयनीय दशा थी उसका संपूर्ण दर्शन इस अर्वाचीन महाकाव्य में प्राप्त हो जाता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती का व्यक्तित्व अद्भुत व निराला था। वह वैदिक धर्म के पुरोध

\* सहायक आचार्य-संस्कृत, राजकीय महाविद्यालय सुन्नी, शिमला, हिमाचल प्रदेश एवं शोधार्थी (पीएच.डी.), संस्कृत विभाग, श्री जगदीश प्रसाद झाबरमल टिबड़ेवाला विश्वविद्यालय झुंझुनू, राजस्थान।

तथा विविध नैतिक मूल्यों व सामाजिक मूल्यों के अगाध भण्डार थे। परतंत्रता के उस युग में राष्ट्रभक्ति व नैतिक मूल्यों में न्यूनता परिलक्षित हो रही थी। महर्षि ने नानाविध नैतिक व सामाजिक मूल्यों में आयी कमी को दूर किया व समाज के परोपकार के लिए अनवरत् प्रयास करते रहे हैं। इन्हीं सतत् प्रयासों में से नारी विमर्श एवं कल्याण की दिशा में महर्षि ने उद्यम किया व स्वानुरूप श्रेष्ठ परिणामों को भी प्राप्त किया। स्वामी जी ने जीवित माता-पिता के सत्कार के संदर्भ में वेदों की सहायता ली है। उनका मानना था कि माता-पिता की आजीवन सेवा करते रहना सबसे बड़े तीर्थ दर्शन के समान है। मृत्यु पर्यन्त श्राद्ध आदि संस्कारों में केवल स्वार्थ की भावना परिलक्षित होती है। यथा -

गुरुषु मातृषु पितृषु यार्चना  
विलिखिता निगमानुगबुधिभिः।  
मरणतःपरमत्र भवत्सु सा  
जगति किन्न मदेन विधीयते।।<sup>३</sup>

महर्षि दयानन्द कन्या शिक्षा के प्रबल समर्थक थे इसके लिए उन्होंने नगर-नगर में पाठशालाओं को खुलवाया व समाज के लिए मंदिरों का निर्माण करवाया। यथा-

अनाथ दीनार्त दशा निवारणम्  
विधाय कन्यासुत्पाठनालयान।  
पुरे पुरे यः स्वपरिश्रमैरलम्  
चकार सामाजिक मन्दिरान्यपि।।<sup>४</sup>

तत्कालीन समाज में बाल विवाह का प्रचलन चारों वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र में अपनी चरम पर था जिससे बाल विधवाओं की संख्या समाज में अहर्निश वृद्धि को प्राप्त हो रही थी। यथा-

भुवस्तले मन्दजनोद्गताम् कृतिं  
निनाय नाशं व्यभिचारितां च यः।<sup>५</sup>

महर्षि ने समाज में प्रचलित कन्या विक्रय का जीवन पर्यन्त विरोध किया इन्होंने कड़े शब्दों का प्रयोग करते हुए कहा कि जो द्रव्य लेकर कन्या का विवाह करते हैं उन कन्याओं में और वेश्याओं में कुछ विशेष अन्तर नहीं रहता है। यथा -

दिनान्तरे श्रावयता स्ववकृताम्  
महात्मना तेन सुताकरग्रहे।  
स विक्रयो दर्शित एव सर्वथा  
प्रगृह्यते यत्र पणेन तद्धनम्।।<sup>६</sup>

अन्यापि उक्तं च। यथा -

न कन्यकोद्वाहपणेन गृह्यतां  
धनं मनुष्यैरिति वादिनि प्रजा।  
मुनौ सनाथेव बभूव सर्वश-  
श्चकार चास्यानुमतेन तां कृतिम्।।<sup>७</sup>

अर्थात् मनुष्य कभी भी आत्मजा पर द्रव्य को प्राप्त न करें, यदि वह द्रव्य को प्राप्त करता है तो महापाप का भागी बनता है। आत्मजा कन्या का द्रव्य लेकर विवाह करना अपना मांस काटकर बेचने के समान है।

कन्याओं से ही वंश वृद्धि को प्राप्त होता है। यदि इन कन्याओं को लोभ में आकर विक्रय किया जाए तो इससे बड़ा पाप और क्या हो सकता है।<sup>१८</sup> मनु निर्दिष्ट विवाह पद्धति में ब्रह्म, देव, आर्ष, प्राजापत्य इन चार विवाहों को सभी मनुष्यों के लिए श्रेयस्कर बतलाया गया है ऐसा करने से किसी को भी कष्ट नहीं होगा। यथा -

यथा विधानं मनुना प्रदर्शितम्  
तथा भवेच्चेदिह पानिपीडनम्।  
न कोऽपि दुःखी जगतीतलेजनो  
न चाल्पजीवी न दरिद्रदारितः।।<sup>१९</sup>

संसार में कन्या के विक्रय से किसी भी मनुष्य को सद्गति प्राप्त नहीं हो सकती।<sup>१०</sup> महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सर्वत्र वेश्यावृत्ति की निंदा व खंडन किया।<sup>११</sup> क्षत्रियों के लिए स्वामी जी ने श्रवणकटु शब्दों का प्रयोग करते हुए कहा है कि राजाओं को सिंह सदृश होते हुए कदापि शुनी सदृश वेश्याओं से समागम नहीं करना चाहिए। यथा -

शुनीसमानाः किल वारयोषाः  
कदापि सेव्या न महिपवर्यैः।  
यतः प्रसंगाद्भवतीहलोके  
विनिन्दना व्यर्थं धनव्ययश्च।।<sup>१२</sup>

महर्षि नारी जाति के हितैषी थे उन्होंने सर्वत्र जीवन पर्यन्त नारियों के सम्मान व अधिकारों के प्रति सदा समाज को जागरूक किया। यथा -

शोचनीयदशा समन्विता  
वास्तवे पशुसमान धर्मिणः।  
सम्भवन्ति किल ये निजस्त्रियं  
तोषयन्ति न समस्त साधनैः।।<sup>१३</sup>

अर्थात् ऐसे मनुष्य शोचनीय व निंदनीय हैं जो स्वभार्या को समस्त साधनों से संतुष्ट या प्रश्न नहीं करते हैं।

### निष्कर्ष

स्वामी दयानन्द सरस्वती परम वैदज्ञ व वैदिक धर्म के पुरोधा थे। वैदिक समयानुसार ही वह तत्कालीन समाज में समस्त व्यवस्थाओं के पक्षधर थे जिसमें नारी विमर्श एक महत्त्वपूर्ण अंग था। वैदिक काल में नारियों की समाज में एक सम्माननीय स्थिति थी। महर्षि वर्तमान समय में भी ऐसी ही व्यवस्था के पक्षधर थे। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने बाल विवाह, बाल-विधवा विवाह कन्याओं की शिक्षा के लिए

पाठशालाओं की व्यवस्था, नारियों के प्रति सम्मान की दृष्टि रखना तथा स्त्रियों को समाज में समान अधिकार प्रदान करना आदि को अपना नैतिक व सामाजिक मूल्य स्वीकार किया व इनके उत्थान के लिए अनवरत् अथक प्रयास किए। महर्षि दयानन्द ने स्त्री विक्रय व्यभिचार इत्यादि अनैतिक मूल्यों की सर्वत्र निंदा की तथा संपूर्ण जीवन में नारियों की देवी अस्मिता को बनाए रखने के लिए अनवरत रूप से प्रयास किए ऐसे युगपुरुष, धार्मिक पुरुष, सामाजिक पुरुष व वैदिक पुरुष को कोटि-कोटि नमन। ऐसे योगी महर्षि दयानन्द सरस्वती जी के चिंतन को यदि निवर्तमान समाज धारण करें तो निश्चित रूप से राष्ट्र की अधिकांश समस्याओं का समाधान स्वतः ही हो जाएगा तथा विश्वगुरु बनकर पुनः यह आर्यावर्त अपने गौरव को संस्थापित करेगा।

### सन्दर्भ

१. मनुस्मृति, ३.५६
  २. मनुस्मृति, ३.५१
  ३. शर्मा, पण्डित अखिलानन्द, दयानंद दिग्विजयम् महाकाव्य, दिल्ली : आर्य प्रकाशन, १९९७, सर्ग, ४.४६
  ४. वही, १.२४
  ५. वही, १.२६
  ६. वही, १३.४२
  ७. वही, १३.४३
  ८. वही, १३.४४
  ९. वही, १३.४६
  १०. वही, १३.५४
  ११. वही, १५.६०
  १२. वही, १५.६१
  १३. वही, १८.३५
-

## ईशोपनिषदि श्रीबलदेवभाष्यभास्करोदयेन पञ्चमुख्यतत्त्वानामनुसन्धानम्

Subrata Sarkar \*

### भूमिका

श्रीपादलदेवविद्याभूषणैः अचिन्त्यभेदाभेदतत्त्वं ईशोपनिषदि कथं प्रतिष्ठापितं तदत्र अनुसन्धीयते। अचिन्त्यभेदाभेदसम्प्रदायते बहुनि महत्त्वपूर्णानि तत्त्वानि सन्ति। तेषु तत्त्वेषु पञ्चमुख्यतत्त्वानि सन्ति। जीवपादाभिः अपि एतानि मुख्यपञ्चतत्त्वानि स्वीकुर्वन्ति। ननु कानि तानि मुख्यतत्त्वानि। अचिन्त्यवैष्णवसम्प्रदाये ईश्वरजीवप्रकृतिकालकर्माणि इत्येतानि पञ्चमुख्यतत्त्वानि। अचिन्त्यभेदाभेदसम्प्रदाये बलदेवविद्याभूषणः मुख्याचार्यः आसीत्। प्रबन्धेऽस्मिन् बलदेवविद्याभूषणभाष्येन ईशोपनिषदि एतेषां पञ्चतत्त्वानां स्वरूपम् अनुसन्धीयते। किञ्च कथं एतेषां तत्त्वानां ईशोपनिषदि समन्वयः भवति तदत्र प्रदर्शयते। किञ्च एतैः मुख्यतत्त्वैः अचिन्त्यभेदाभेदतत्त्वस्यापि प्रकाशनं कथं भवति। किञ्च एतेषां तत्त्वस्थापनात् अद्वैतादिसम्प्रदायानां विरोधः चेत् कथं समन्वयः तदत्र प्रदर्शयते। किञ्च यद्यपि अचिन्त्यभेदाभेदतत्त्वैः साकम् अन्येषां सम्प्रदायानां विरोधः अस्ति तथापि दोषः नास्ति। अतः विरोधे सत्त्वेऽपि कथं दोषो नास्ति तदपि विचार्यते। प्रबन्धोऽयं छात्राणाम् बोधगमाय न तु विदुषां कृते। प्रसिद्धाचार्यबलदेवविद्याभूषणैः कथं स्वसम्प्रदायमतस्थापनापुरस्सरं कथं ईशोपनिषदः भाष्यविरचनं कृतं तदत्र आलोच्यते। अनेन छात्राणां चित्तविभ्रमदोषः न भवति। यतो हि अद्वैतादिभाष्यग्रन्थबलात् तेषां चित्तविभ्रमः दोषः भवति। कस्य सम्प्रदायस्य साधुत्वं कस्य सम्प्रदायस्य मतम् ग्राह्यम् इति चिन्ता जायते। अस्य निवारणमत्र क्रियते।

### अचिन्त्यभेदाभेदवादाः

श्रीश्रीकृष्णचैतन्यचरणानुचरगौडीयवैष्णवाचार्यपादगणाः सर्ववेदान्तसारभूतसर्वसिद्धान्तरत्न-श्रीमद्भागवतरसामृतसिन्धुतलगरुतः अतर्क्यसहस्रशक्त्यद्वयज्ञानतत्त्वं तच्छक्तिवैचित्र्यवस्तुसमूह-सम्बन्धज्ञापकसर्वतन्त्रसिद्धान्तं प्रकोटीचक्रुः तदेव अचिन्त्यभेदाभेदवादः नाम्ना अभिधीयते। अचिन्त्यानन्तशक्तिसम्पन्नपरतत्त्वेन<sup>१</sup> सह परतत्त्वस्य यः अचिन्त्ययुगपत्भेदाभेदसम्बन्धः तदेव अचिन्त्यभेदाभेदवाद इति। भगवान् श्रीकृष्णचैतन्यदेवः सर्ववेदैकफलरूपश्रीमद्भागवतमेव ब्रह्मसूत्रस्य अकृत्रिमभाष्यमिति सूचितवान्।<sup>२</sup> श्रीमद्भागवतं द्वैतस्य वा भेदाभेदवादस्य प्रतिपादकं न भवति। किञ्च मायातः भयमुत्पद्यते। अतः अद्वितीयपरतत्त्वं भयसंसारनिर्वतकमेव श्रीमद्भागवतम्।

\* Assistant Professor, Department of Sanskrit, Bejoy Narayan Mahavidyalaya Itachuna, Hooghly, West Bengal

निर्विशेषवस्त्वैक्याभेदवादस्य श्रीमद्भागवतं न प्रतिपादकम्। अतः अचिन्त्यतत्त्वप्रतिपादकपरं<sup>३</sup> भागवतमिति फलितम्। गौडीयदार्शनिकसिद्धान्तानुसारं शक्तिमतः शक्तिं पृथक् कर्तुं अशक्यत्वात् शक्तिशक्तिवन्तौ मिलित्वा अभेदरूपाद्वितीयवस्तु प्रतिपाद्यते। वस्तु विशेष्यं वस्तुशक्तिः विशेषणम्। विशेषणगुणयुक्तविशेष्यमेव वस्तु। अत्र प्रश्नो भवति यत् विशेष्यविशेषणयोः मेलनेन एव यदि वस्तु भवति तर्हि विशेषणात् विशेष्यं शक्तिमानतः शक्तिं पृथक् कर्तुं न शक्यते। अतः शक्तेः स्वीकारस्य आवश्यकता एव नास्ति। प्रसङ्गेऽस्मिन् श्रीजीवपादैः प्रोक्तं वस्तु सत्त्वेऽपि मन्त्रमहौषधादिप्रभावेन शक्तिः दुर्बला भवति। किञ्च हस्तः अदग्धश्चेदपि अग्निः दृश्यते। अतः अग्निमतः तस्य दाहिकाशक्तिः पृथक् इति युक्तिसङ्गतम्। अत्र यद्यपि वस्तुतत्त्वं तु एकमेव न द्वयम्। स्वाभाविकशक्तिवैचित्र्यात् शक्तिमतः अद्वयतत्त्वस्य व्याघातो न भवति। अतः स्वरूपात् अभिन्नरूपे शक्तेः चिन्ता असम्भवा इति कारणात् भेदः इति। अपि च भिन्नरूपेऽपि चिन्ता अशक्या इति अभेदः। अतः शक्तिशक्तिमतो भेदाभेदः स्वीकृतः। तदेव अचिन्त्यं तर्केण अगम्यं परन्तु शास्त्रगम्यं शब्दमूलकम्। गौडीयवैष्णवदार्शनिकैः अतीन्द्रियतत्त्वं वा तच्छक्तेः अलौकिकत्वनिरूपणे अचिन्त्य इति पदस्य प्रयोगः क्रियते। परन्तु शङ्कराचार्यः तु मायातत्त्वनिरूपणे अनिर्वचनीयम् उक्तवान्। अचिन्त्यानिर्वाच्ययोः अभेदः न भवति। शब्दप्रमाणगम्यतत्त्वनिर्देशकाचिन्त्यशब्दः इति। अचिन्त्यमित्यस्य प्रयोगः श्रुतौ, श्रीमहाभारते, श्रीगीतायां, श्रीविष्णुसहस्रनामग्रन्थे, श्रीविष्णुपुराणे, श्रीभागवतपुराणे दरीदृश्यते। अचिन्त्यशब्दस्य तात्पर्यं तु श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्<sup>४</sup> इति ब्रह्मसूत्रेण प्रतिपादितम्। आचार्यशङ्करैरपि उक्त-सूत्रभाष्ये अङ्गीकृतम्<sup>५</sup> अचिन्त्यशक्तिः एव परब्रह्म इति। विष्णुसहस्रनामस्तोत्रे अचिन्त्यशब्दस्य प्रयोगः दृश्यते। श्रीशङ्कराचार्यः अपि अचिन्त्यमित्यस्य अर्थं लिखितवान् यत् प्रमाणादिसाक्षित्वेन सर्वप्रमाणागोचरत्वादचिन्त्यः।<sup>६</sup> अयमीदृशः इति विश्वप्रपञ्चविलक्षणत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वात् वा अचिन्त्यम्<sup>७</sup> इति। श्रीधरस्वामिपादैः श्रीजीवगोस्वामिपादैः तु अचिन्त्यशब्दस्य अर्थः क्रियेते यत् शब्दमूलकश्रुतार्थापत्तिज्ञानगोचरः इति। यद्यपि भेदाभेदयोः युगपदवस्थानमुभयोः समभावेन नित्यानित्यमिति अबोधमचिन्त्यम् प्रतीयमानं मनुष्यबुद्धौ तथापि शास्त्रोपदिष्टमवश्यमङ्गीकर्तव्यमिति। श्रीविष्णुपुराणे<sup>८</sup> श्रीमैत्रेयः श्रीपराशरं प्रपच्छ यत् सत्त्वादिगुणरहितदेश-कालाद्यपरिच्छिद्राकृतदेहहीनरागादिशून्यब्रह्मणः कथं जगत्सर्जनं भवति। श्रीपराशरः अवोचत् यत् हे भगवन् यथा समस्तभावपदार्थस्य शक्तिसमूहः अचिन्त्यज्ञानगोचराः तथैव ब्रह्मणः जगत्सृष्ट्यादिशक्तिसमूहः अचिन्त्यज्ञानगोचराः इति। एतन्तु अग्नेः उष्णताशक्तिः इव स्वभावसिद्धः।

**बलदेवभाष्यपुरस्सरं पञ्चतत्त्वानां विवेकः**

ईशोपनिषदि अचिन्त्यभेदाभेदतत्त्वस्य समन्वयार्थं श्रीरीपाद्परमवैष्णवाचार्येण श्रीमद्बलदेवविद्याभूषणेन शोपनिषत्मन्त्रस्य भाष्यारचनात् पूर्वं मङ्गलाचारणं आचरितम्।

वेदास्तथा स्मृतिगिरो यमचिन्त्यशक्तिं सृष्टिस्थितिप्रलयकारणमामन्ति।

तं श्यामसुन्दरविक्रयमात्ममूर्तिं सर्वेश्वरं प्रणतिमात्रवशं भजामः।। इति।।<sup>९</sup>

मङ्गलश्लोकेन अनेन आचार्यबलदेवविद्याभूषणेन अचिन्त्यभेदाभेददर्शनस्य स्वरूपं दार्शनिकतत्त्वम् अनुबन्धचतुष्टयञ्च आलोचितम्। यद्यपि मङ्गलं सम्प्रदायेषु दृश्यते शिष्यशिक्षार्थं विघ्नादिनाशाय<sup>१०</sup> तथाप्यत्र मङ्गलाचारणेन आचार्येण अचिन्त्यभेदाभेददर्शनस्य प्रकृष्टस्वरूपं प्रदर्शितम्। श्लोकेऽस्मिन् मोक्षदातुः भगवतः श्रीकृष्णस्य स्वरूपद्वयं दृश्यते। तद्यथा एकं स्वरूपलक्षणम् अपरञ्च तटस्थलक्षणमिति। यद्यपि

अचिन्त्यभेदाभेदसम्प्रदाये स्वरूपतटस्थयोः अङ्गीकारः नास्ति तथापि मङ्गलश्लोकपर्यालोचनेन एतल्लक्षणद्वयं स्पष्टं दृश्यते। तद्यथा श्लोके आत्ममूर्तिमविक्रियमचिन्त्यशक्तिमित्यादिभिः पदैः आचार्यः भगवतः श्रीकृष्णवजेन्द्रनन्दनस्य स्वरूपलक्षणं प्रकोटीचकार। अवशिष्टांशेन भगवतः तटस्थलक्षणं प्रदर्शितम्। किञ्च भगवतः वजेन्द्रनन्दनस्य सविशेषस्वरूपमेव बलदेवैः प्रतिपाद्यते। तदेव अचिन्त्यभेदाभेदवादस्य मूलम्। यतो हि श्रीवैष्णवाः श्रीकृष्णस्य निर्विशेषत्वं न स्वीकुवन्ति। किञ्च श्रीकृष्णः एव सृष्टिस्थितिप्रलयरूपजगतः कारणम्। जगज्जीवौ ब्रह्मणः शक्तिस्वरूपौ। समस्तवेदराशिः<sup>१०</sup> स्मृतिवाक्यसमूहः<sup>११</sup> यस्य प्रतिपादकाः। श्रीगौडीयदर्शने अचिन्त्यशक्तेः मनुष्यबुद्ध्या चिन्तयितुमशक्यत्वात् केवलशब्दप्रमाणगम्यमिति<sup>१२</sup> उच्यते। अनेन अचिन्त्यतत्त्वस्य शब्दमात्रप्रमाणगम्यत्वं सूचितम्। किञ्च समस्तवेदराशिः इत्यनेन अचिन्त्यतत्त्वस्य वेदमूलत्वमपि दर्शितम्। नैतत् कपोलकल्पितत्वं वेदमूलत्वात्। किञ्च श्रुतिस्मृतिभ्यां अचिन्त्यतत्त्वस्य प्रामाण्यमपि दर्शितम्। अपि च अचिन्त्यशक्तिमिति पदेन साक्षात् स्वसम्प्रदायस्य अचिन्त्यतत्त्वस्य प्रतिपादनं चकार आचार्यः। अचिन्त्यानन्तशक्तिसम्पन्नपरतत्त्वेन सह परतत्त्वस्य य अचिन्त्ययुगपद्भेदाभेदयुक्तसम्बन्धः तदेव अचिन्त्यभेदाभेदतत्त्वम् इति। श्रीपादलदेवमते ब्रह्मणः त्रिविधा शक्तयः सन्ति। ताः शक्तयः परापराविद्या चेति।<sup>१३</sup> ननु का नाम परा शक्तिरिति चेत् उच्यते आचार्येण विष्णुशक्तिरेव स्वरूपशक्तिः पराशक्तित्वेन कल्प्यते। अपरा नाम क्षेत्रज्ञाख्या जीवशक्तिः इति। मायाशक्तिस्तु अविद्याशक्तिः तमोरूपा कर्मस्वरूपा इत्यभिधीयते। श्रीपादलदेवैः प्रोक्तं यत् ब्रह्म पराख्यशक्तिमद्रूपेण जगतः निमित्तकारणं भवति। ब्रह्म जीवशक्तिमायाशक्तिभ्यां तु जगतः उपादानकारणं भवति। अतः एव ब्रह्म शक्त्या जगतः उभयकारणं<sup>१४</sup> भवति। अपराशक्तिः जीवस्य अविद्याशक्तिः जगतः उत्पत्तिः भवति। निमित्तकारणरूपेण ब्रह्म नित्यं कूटस्थमपरिमेयमपरिवर्तनीयम्। उपादानकारणरूपेण ब्रह्म परिणामिनित्यं जगद्रूपेण नित्यम्। परन्तु परिणतो भूत्वापि ब्रह्म अविकृतापरिवर्तितरूपेण तिष्ठति। श्रीबलदेवेन पुनः परब्रह्मणः पराशक्तेः त्रिविधाः वृत्तयः प्रदर्शिताः। तद्यथा सन्धिनी संवित् हलादिनी<sup>१५</sup> चेति। आचार्यबलदेवैः संवित्प्रधानवृत्तिः वाग्देवी इति अभिधीयते। किञ्च हलादप्रधानावृत्तिः लक्ष्मी इति उच्यते। अनेन सिद्धान्तेन एव आचार्यैः श्रीविष्णोः स्वशक्तिः श्रीलक्ष्म्याः जीवकोटित्वशक्तेः पृथक् इति ज्ञापितम्।<sup>१६</sup> किञ्च परतत्त्वं यदा रसास्वादिनिमित्तेन हलादिनीशक्तेः सर्वानन्दातिशायिनीवृत्त्या तस्यैव शक्त्यंशस्वरूपं भक्तजनानां हृदि सञ्चारयति तदा सा वृत्तिः कृष्णप्रीतिरूपवैचित्र्यं<sup>१७</sup> धारयित्वा परममास्वादनचमत्कारितां प्राप्नोति। अतः भक्तिभक्तकोटिं प्रविश्य भगवान्भक्तयोः आह्लादित्वात् एव भगवच्छशक्तिविशेषः<sup>१८</sup> इत्यपि उच्यते। एतादृशाचिन्त्यशक्तिविशिष्टश्यामसुन्दर एव जगत्कर्ता। स एव परमब्रह्म। आचार्यैः श्यामसुन्दर इत्यनेन पदेन श्रीकृष्णस्य सविशेषभक्तिव्यङ्गरूपम् एव प्रकाशयते। अचिन्त्यभेदाभेदसम्प्रदायिकाः सविशेषत्वमेव अङ्गीकुर्वन्ति परब्रह्मणः। जगतः सृष्टिस्थितिप्रलयकारणं अचिन्त्यशक्तिः एव। श्रीकृष्णः शक्तिमान्, जगत् जीवसमूहः तस्य शक्तिः। उभयोः मध्ये भेदाभेदः स्पष्टः। किन्तु युगपद्भेदाभेदः केन प्रकारेण एकस्मिन्नेनाधारे तिष्ठतीति चिन्तातीतमतः अचिन्त्यम्। किञ्च मङ्गलश्लोके अचिन्त्यशक्तिं इत्यनेन ब्रह्मजीवयोः सम्बन्धः अचिन्त्यः इति द्योत्यते। अविक्रियमिति पदेन परमब्रह्मणः क्षयरहित्वं वर्णितम्। अनेन एव नित्यत्वं ख्यापितम्। आत्ममूर्तिमित्यनेन सच्चिदानन्दविग्रहविशिष्टश्रीवजेन्द्रनन्दनस्य सविशेषस्वरूपत्वरूपं प्रकाशयते। सर्वेश्वरम् इत्यनेन अखिलस्य जगतः ईशानकर्ता इति। प्रणतिमात्रवशमित्यनेन भक्त्या एव लब्धुं शक्यते इति द्योत्यते। भजामः इत्यनेन भजनाद्यनुष्ठानेन श्रीकृष्णप्रीतिमुत्पद्यते। भजनेन एव शरणागतिः भवति

मनुष्यानाम्।

मुक्तिः पुरुषोत्तमसाक्षात्कारः<sup>१९</sup> एव परमप्रयोजनम्। अशेषसंसारबन्धदोषविनाशपूर्वक-परतत्त्वश्रीकृष्णसाक्षात्कारः भगवच्छरणागतिः एव मोक्षः। भक्तिभजनाद्यनुष्ठानेन भगवान्श्रीश्यामसुन्दर-वजेन्द्रनन्दस्य चरणाश्रयप्राप्तिः एव प्रयोजनम्।<sup>२०</sup> तत्तु अचिन्त्यतत्त्वज्ञानेन जायते।

मन्त्रव्याख्यानात्पूर्वम् उपद्घातभाष्ये श्रीपाद्वैष्णवाचार्यमद्वलदेवविद्याभूषणः स्वसम्प्रदायनिहित-सिद्धान्तस्य अचिन्त्यभेदाभेदवादतत्त्वस्य प्रतिष्ठापनाय पूर्वपक्षत्वेन बहूनां सम्प्रदायानां सिद्धान्तवर्णनपुरस्सरं तत्तत्सिद्धान्तखण्डनाय स्वसिद्धान्तं अवोचत्। न चेत् स्वसिद्धान्तस्य किं गुरुत्वं तत् स्पष्टतया न ज्ञायते। किञ्च अचिन्त्यभेदाभेदतत्त्वस्य प्रतिष्ठापने का आवश्यकता तत्तु न ज्ञायते। किञ्च पूर्वपक्षत्वेन श्रीवैष्णवसम्प्रदायान्तर्गताचार्याणां सिद्धान्तानि न गृहीतानि। केवलं मीमांसाशास्त्रं<sup>२१</sup> सांख्यशास्त्रम्<sup>२२</sup> अद्वैतवेदान्तशास्त्रं<sup>२३</sup> च स्वकृतानि। अनेन एव ज्ञायते तस्मिन् समये मीमांसादिशास्त्राणां प्रभावः अधिकः आसीत्। किञ्च द्वैतादिशास्त्राणामुल्लेखः नास्ति। अपि च अचिन्त्यभेदाभेदतत्त्वस्य स्थापनाय एतेषां शास्त्राणां खण्डनमत्यन्तमावश्यकमासीत्।

ततः सिद्धान्तरूपेण प्रोक्तमाचार्यैः यत् परस्य विष्णोरिह स्वातन्त्र्यसर्वकर्तृत्वसर्वज्ञत्वपुमर्थत्वादि-धर्मकत्वज्ञानसुखस्वरूपत्वं निरूप्यते इति। अत्र ग्रन्थस्य आरम्भः किमर्थं क्रियते तत्प्रोक्तवान्। परतत्त्वरूपेण विष्णोः उल्लेखः कृतः आचार्येण अनेन माध्वमतश्रीवैष्णवमतयोः समन्वयितुमिच्छतीति प्रतीयते। यतो हि आचार्यः पूर्वाश्रमे माध्वसम्प्रदायी आसीत्। किञ्च माध्वसम्प्रदाये नारायणः विष्णुरेव परमब्रह्म<sup>२४</sup> इति अङ्गीक्रियते। किञ्च स्वातन्त्र्यसर्वकर्तृत्वादिगुणविशिष्टविशेषणैः सविशेषत्वं परस्य ब्रह्मणः सूचितम्। अचिन्त्यभेदाभेदसम्प्रदाये सविशेषत्वं ब्रह्मणः अङ्गीक्रियते। सुखस्वरूपत्वमित्यनेन मुक्तेः स्वरूपं ख्यापितम्। श्रीवैष्णवाः तु श्रीकृष्णप्रेमलक्षणमेव प्रयोजनमिति ब्रूवन्ति। अतः सिद्धान्तख्यापनेन एव अचिन्त्यभेदाभेदवादस्य बीजम् स्थापितवान् आचार्यः।

मन्त्रभाष्यस्य रचनात् पूर्वमेव आचार्यः स्वाचिन्त्यभेदाभेदसम्प्रदायाभिमतानि तत्त्वानि ख्यापितानि। तेनैव श्रीवैष्णवाचिन्त्यसम्प्रदायस्य मुख्यतत्त्वानि कानि तेषां स्वरूपविषये ज्ञानं भवति। येन ग्रन्थपाठकानाम् अचिन्त्यभेदाभेदसम्प्रदायविषये ज्ञानम् उत्पद्यते। अधः श्रीबलदेवविद्याभूषणस्य सिद्धान्तपुरस्सरम् तानि तत्त्वानि आलोच्यन्ते।

तद्यथा ईश्वरजीवप्रकृतिकालकर्माणि चेति पञ्चमौलिकतत्त्वानि श्रीबलदेवनये। अत्र जीवेश्वरौ अजडौ ज्ञानस्वरूपौ। अन्तिमत्रयं जडं ज्ञानहीनम्। किञ्च प्रथमचतुष्टयं नित्यानाद्यनन्तस्वरूपम्। अवशिष्टतत्त्वमनित्यमनादिः परन्तु अनन्तस्वरूपं न भवति। किञ्च प्रथमतत्त्वं नियन्ता तदव्यतिरिक्त्य अन्यत्सर्वं नियन्त्रितम्। तियन्त्रितेषु जीवः भोक्ता, प्रकृतिः भोग्या, कालः भोगस्य निमित्तकारणमिति। जीवप्रकृतिकालकर्माणि एतानि चत्वारि ब्रह्मणः शक्तिरूपाणि। अतः शक्तिमान् ब्रह्म अद्वितीयवस्तु<sup>२५</sup> इति।

**ईश्वरः**

ईश्वरः स्वतन्त्रः सर्वकर्ता सर्वज्ञः मुक्तिदाता विज्ञानस्वरूपम्। किञ्च ईश्वरः विभुचैतन्यं नित्यज्ञानादिगुणविशिष्टास्मदर्थवाच्यस्वरूपम् इति। प्रकृतिषु अनुप्रवेशनियमनाभ्यां जगत्सर्जनं कृत्वा जीवोपभोगमुक्तिविधानं चकार सर्वशक्तिमान् स्वतन्त्रः ईश्वरः। किञ्च ईश्वरः एकः अभिन्नः सन्नपि

गुणगुणीभावेन देहदेहिभावेन ज्ञानवतः प्रतीतिगोचरो भवति। ईश्वरः यद्यपि अव्यक्तं तथापि भक्तिग्राह्यः। एकरसः भूत्वापि चिदानन्दस्वरूपं ददाति भक्ताय। सर्वव्यापी भूत्वापि जीवान्तस्थदेवतारूपेण तिष्ठति। वैषम्यरहितः सन्नपि भक्तपक्षपातकारी। जगतः उपादानकारणं सदपि परिणामरहितः परिवर्तनहीनः। अंशहीनोऽपि स्वांशः। परमेश्वरे एवं बहवः विरुद्धगुणाः दृश्यन्ते। परमब्रह्मणः गुणशक्तिसमूहाः स्वाभिन्नाः। परन्तु अभिन्नः सन्नपि लोकव्यवहाराय भिन्नत्वेन व्यवहियते। एषः एव लोकाचारसम्मतभेदविशेषः परमात्मनः। परमात्मस्वशक्त्योः मध्ये भेदो नास्ति परन्तु विशेषः अस्ति। विशेषः भेदप्रतिनिधिः भूत्वा प्रकृतभेदमसृष्ट्वा आपातभेदप्रतीतिं<sup>१६</sup> प्रदर्शयति। परमेश्वरः युगपत् सत् सत्तावान्, ज्ञानं ज्ञाता, आनन्दः आनन्दमयः, धर्म-धर्मी, शक्तिः शक्तिमान् च भवन्ति। यथा सर्पः एव कुण्डलाकृत्या कुण्डलं सर्पस्य विशेषणं भवति तथैव ब्रह्म ज्ञानात्मकः सन्नपि तस्य ज्ञानं गुणाः धर्मरूपेण कल्पयितुं शक्यते। अनेन अचिन्त्यभेदाभेदसम्प्रदायानुसारं सविशेषत्वं प्रतिपाद्यते। ब्रह्म सजातीयविजातीय-स्वगतभेदरहितम्। यतो हि शक्तिभिन्नः ब्रह्मणः वस्त्वन्तरं नास्ति। अतः तस्य सजातीयविजातीयभेदोऽपि न भवति। अपि च श्रीविग्रहस्य प्रत्येकं अवयवाः यस्मात् आनन्दमयरूपाः अतः स्वगतभेदोऽपि न भवति। अतः परमात्मनि यद्यपि अभेदः तथापि भिन्नवस्तुव्यवहारबोधकशब्दः इव ज्ञानानन्दहस्तपादप्रभृतिभिन्नशब्दानां व्यवहारस्तु अचिन्त्यविशेषस्वभावात् भवति। तद्यथा एकस्मादेव वैदूर्यमणेः नीलपीतादिविभिन्नवर्णानां प्रकाशः दृश्यते तद्वत् ब्रह्मणः ज्ञानानन्दादीनां प्रकाशः। मणौ यथा नानावर्णाप्रकाशकारिणी शक्तिः अस्ति तथैव परब्रह्मणि नानाविर्भावसंघटनपटीयसी विशेषशक्तिः वर्तते। अननैव विशेषस्वभावेन अभिन्नज्ञानानन्दप्रभृतीनां भिन्नवत्प्रकाशो भवति। स्वरूपतः अभिन्नज्ञानानन्दादीनाम् आर्विभावभेददर्शनेन भेदाभेदपक्षमपि स्वीकर्तुम् अयोग्यम्। यतो हि श्रुत्या तु भेददर्शानां नरकपातः सूच्यते।

### जीवः

नियामकस्य ईश्वरस्य नियम्यः जीवः अणुचैतन्यविशिष्टः। जीवात्मनः बहवः विविधावस्थापन्नाः। किञ्च जीवः स्वरूपतः भगवद्दासः। ईश्वरवैमुख्यात् बन्धकारणं। बन्धः द्विविधः तत्स्वरूपावरणम् तद्गुणावरणरूपम्। एतत् द्विविधबन्धकारणमोचनपुर्वकं ईश्वरानुग्रहेण स्वरूपसाक्षात्कारो भवति। ईश्वरस्य शक्तिः जीवः, शक्तिमान् ईश्वरः इति बलदेवविद्याभूषणसिद्धान्तम्। यद्यपि भोगविषये मुक्तः जीवोऽपि ब्रह्मसमानः तथापि स्वरूपतः सामर्थ्यतः नित्यभेदः उभयोः वर्तते। जीवाः अपि परस्परभिन्नाः साधनतारतम्यात्। तद्यथा भक्त्यतारतम्यात् मुक्तजीवाः एव नित्यमुक्ताः बद्धमुक्ताः बद्धाः इति त्रिधा भिन्नाः भवन्ति। जीवस्य ब्रह्मनिष्ठत्वात् ब्रह्मव्यप्यहेतुत्वात् ब्रह्मात्मकता नु वस्तुतः जीवः स्वयं ब्रह्म<sup>१७</sup> इति। मुक्तावस्थायामपि जीवाः श्रीहरेः नित्योपासकाः भवन्ति। अतः जीव परमेश्वरतः भिन्नः नित्यचेतनः भगवद्दासः<sup>१८</sup> इति।

### प्रकृतिः

सांख्यप्रसिद्धः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः एव अचिन्त्यभेदाभेदवादिभिः अङ्गीकृता। तथाहि आचार्यबलदेवैः प्रोक्तं स्वभाष्ये यत् प्रकृतिः सत्त्वादिगुणसाम्यावस्थातमोमयादिशब्दवाच्या तदीक्षणावाप्तसामर्थ्या अविद्यारूपा विचित्रजगज्जननी इति। तमोमयादिशब्दवाच्याप्रकृतिः ईश्वरस्य क्षणेन चेतनवती भूत्वा अखिलं जगत् ससर्ज। परन्तु सांख्यानामिव अचिन्त्यभेदाभेदमते प्रकृतिः स्वतन्त्रा चेतनवती न भवति। परन्तु नित्या प्रकृतिः ईश्वराश्रिता ईश्वरवश्या भवति। प्रकृतिः ब्रह्मणः शक्तिः। अत्र

बलदेवविद्याभूषणेन सांख्यमतानुसारं महत्तत्त्वमहङ्कारतत्त्वं स्वीक्रियते।<sup>३९</sup>

**कालः**

त्रैगुण्यशून्यं जडं ईश्वरस्य चेष्टाशक्तिविशेषः कालः। भूतभविष्यद्वर्तमानप्रभृतिशब्दव्यवहारहेतुः। क्षणादि-परार्धान्तचक्रवत्परिवर्तमानप्रलयसर्गनिमित्तभूतजडद्रव्यविशेषस्य नाम कालः इति। कालः नित्यः ईश्वराधीनः।<sup>३०</sup>

**कर्म**

कर्मणः लक्षणवर्णनप्रसङ्गे आचार्येण बलदेवेन प्रोक्तं यत् कर्म जडम् अदृष्टादिशब्दवाच्यं अनादि शब्दवाच्यम् नश्यम् इति। कर्म परमेश्वरशक्तिभूतम्<sup>३१</sup> तस्मात् एतानि एव जीवादित्त्वारिमुख्यतत्त्वानि परमेश्वरस्य शक्तिमत्त्वात् शक्तिमद्ब्रह्म इति अद्वैतवाक्ये अपि सङ्गतिः भवतीति श्रीपादलदेवैः प्रोक्तम्। शक्तिमद्ब्रह्मप्रतिपादनमेव अचिन्त्यभेदाभेदवादस्य उद्देश्यम्। आचार्येण स्वमतेन साकम् शक्तिमद्ब्रह्म इत्युक्त्वा अद्वैतस्य समन्वयं साधितवान्। अतः आचार्येण सूचितं यत् शक्तिमद्ब्रह्मनिरूपयितुम् आचार्यरूपा श्रुतिः आह-इशेत्यादि। ईशावास्यमन्त्रस्य व्याख्यानात् पूर्वम् आचार्यश्रीपादलदेवभूषणैः गदितं यत् आत्मयाथात्मप्रकाशकत्वेन मन्त्राणां कर्मस्वविनियोगः परन्तु उपासनायां विनियोगः अविरोधात् इति। अत्र उपसना नाम तु जीवपरयोः सम्बन्धविशेषसाधनं भजनमिति। सम्बन्धो हि जीवे परसाम्मुख्यमिति। अत्रापि अचिन्त्यतत्त्वस्य प्रतिष्ठा कृता आचार्येण। यतो हि अचिन्त्यभेदाभेदवादमते तु भक्त्या एव भगवत्प्रीतिः उत्पद्यते। तेन परतत्त्वेन सह साक्षात्कारो भवति। किञ्च आचार्यबलदेवविद्याभूषणः अचिन्त्यशक्तिं विशेषत्वेन उच्यते। तस्मात् एव प्रोक्तं टीकाकारैः सम्बन्धविशेषसाधनं भजनमिति।<sup>३२</sup> अपि च वैष्णवसम्प्रदाये भक्तिविशेष एव परमात्मनुशीलनं वा योग इति अभिधीयते। भक्तिरपि अचिन्त्यभेदाभेदसम्प्रदाये शक्तिविशेषः।<sup>३३</sup> जीवे परसाम्मुख्यम् इति कथनेन जीवात्मापरमात्मनोः भेदः कथितः। परन्तु भेदः चिन्तयितुम् अशक्यं चेदपि मुक्तावस्थायां भेदस्तु वर्तते। न चेत् परसाम्मुख्यमित्यस्य व्यर्थता स्यात्। अतः भक्तिलब्धाचिन्त्यतत्त्वप्रतिपादानाय एव संक्षेपतः मन्त्रार्थान् व्याख्यास्यामि अयं भावः द्योत्यते।

**उपसंहारः**

श्रीपादलदेवदेवविद्याभूषणरचितैः ईशोपनिषद्भाष्यैः श्रीवैष्णवसम्प्रदायस्य श्रीचैतन्यमहाप्रभुकालतः यत् अचिन्त्यतत्त्वस्य प्रतिपादनं प्रचलत् अस्ति तस्यैव परिपूर्णता स्थाप्यते। श्रीगौडीयचैतन्यसम्प्रदायिकाचार्यैः न स्वसम्प्रदायप्रतिपादनपरभाष्यं टीका ग्रन्थः चेति लिखिताः। अतः तत्कालस्थपण्डितैः श्रीचैतन्यसम्प्रदायस्य भिन्नसतन्त्रसम्प्रदायकत्वेन अस्तित्वं नाङ्गीकृतम्। अतः श्रीपादलदेवाचार्यैः पञ्चमसतन्त्रवैष्णवसम्प्रदायस्य प्रतिष्ठापनाय ब्रह्मसूत्रस्य उपनिषदः भाष्यं रचितवान्। ततः स्वकीयभाष्यबलादेव एव अचिन्त्यभेदाभेदतत्त्वं प्रतिष्ठाप्य भारतीयवैष्णवदर्शनेषु अन्यतमस्थानं प्रापितम् आचार्येण। किञ्च अचिन्त्यसम्प्रदायस्य यद्यपि शङ्कराचार्यैः ईशोपनिषद्भाष्येण जगति यत् अद्वैततत्त्वं स्थापितं तथापि आचार्येण सुव्याख्याकौशलेन मनसि अचिन्त्यतत्त्वप्रतिपादनं मया करणीयम् इति विधाय भाष्यं लिखितम्। भाष्यं पर्यालोच्य अचिन्त्यभेदाभेदतत्त्वप्रतिपादनशीलस्य आचार्यबलदेवस्य स्वसम्प्रदायात् किञ्चित् नावीन्यं प्रदर्शितं तद्दृश्यते।

**व्याख्यातृणामनेकार्थत्वे चित्तविभ्रमदोषनिवारणम्**

व्याख्यायाः अनेकार्थत्वे भ्रमः इति चेत् न उपासकानां साधकानां आध्यात्माधिकारिणां वैचित्र्यात्

उपास्यविषयस्य च दुर्विज्ञेयत्वात् च प्राचीनैः शास्त्रकारैः व्यवहारे नैके लक्ष्यप्राप्त्यानुमार्गाः प्रदर्शिताः। इदमुक्तम् अप्ययदीक्षितैः सिद्धान्तलेशसंग्रहग्रन्थे -

प्राचीनैर्व्यवहारसिद्धविषयेष्वात्मैक्यसिद्धौ परं

सन्नह्यादिभरनादरात् सरणयो नानाविधा दर्शिताः।।

तन्मूलानिह सङ्ग्रहेण कतिचित् सिद्धान्तभेदान् भिय-

श्शुद्धये सङ्कलयामि तातरणव्याख्यावचः ख्यापितान्।। इति।।<sup>३४</sup>

अतः अत्र अध्यात्ममार्गे अकल्पितार्थवस्तुप्रतिपादनानुकूलतया कल्पिताः नानामार्गाः प्रदर्शिताः शास्त्रव्याख्यातृभिः इति भूषणमेव न दूषणम्। अतः प्रकृतेः ब्रह्मसूत्रमाश्रित्य द्वैताद्वैतरूपमार्गभेदः साधाकोपयोगितया नानाप्रकारैः उपदिष्टः।

भारतीयसंस्कृतिः अनेकेषु एकत्वं साधयितुमच्छति। सनातनसंस्कृतवाङ्मये अनन्तशास्त्रम् अगणिततद्भाष्यव्याख्यानानि विलसन्ति। तत्र सर्वेषां शास्त्राणां विषयः, साध्यं (उद्देश्यम्), अधिकारी इत्यादयः अर्थाः मिथो भिन्नाः। एवं सति शास्त्रेषु विषयाधिकारिमुखेन परस्परभेदः अस्ति चेदपि सर्वेषु शास्त्रेषु मध्ये किञ्चित् विलक्षणसमन्वयसूत्रं टीकाकृद्भिः सुकौशलं प्रकाशितम्। अस्माकं संस्कृतौ सर्वमपि शास्त्रमितरशास्त्रसहकृतं सत् स्वलक्ष्यं साधयति। न किञ्चिद् शास्त्रं सर्वात्मना इतरशास्त्रसहकृतम् सत् श्रेष्ठत्वं साधयति इति न दृष्टम्। अतः शास्त्रव्याख्याकाराः स्वस्वटीकाटिप्पण्यादिषु तत्तच्छास्त्रस्य इतरशास्त्रापेक्षितत्वं कस्मिन् प्रसङ्गे कथमस्ति इति सप्रमाणं प्रदर्शयन्ति। सर्वस्य पर्यालोचनेन अस्माभिः दृष्टं यत् विना ईशोनिषद्भाष्ये यद् अचिन्त्यभेदाभेदतत्त्वमालोचितम् आचार्यैः तत्तु यथार्थमेव न संशयः।

#### अन्तःटिप्पणी

१. श्रीस्तवमाला श्रीवलदेवविरचितभाष्यसमेता, मुम्बई, निर्णयसागरः १९०३ क्रीस्ताब्दे।
२. श्रीभक्तिविनोदठाकुरसम्पादिता श्रीसज्जनतोषणीपत्रिका सिद्धान्तरत्न (९म वर्षः, १०म संख्या, १३०८ वङ्गाब्दः)।
३. श्रीसज्जनतोषणीपत्रिका, द्वितीयवर्षः १२९२ वङ्गाब्दः।
४. अतर्कत्यसहस्रशक्तिः - भाः ३.३३.३
५. चैतन्यचरितामृतः - २५.८९.९८
६. एकात्मवादस्य भगवदनभिमतत्वात्। यदुक्तं तृतीये भगवतैव-सारार्थदर्शिना, ४.२८.६२
७. सर्वसम्बादिनी, वङ्गीयसाहित्यपरिषद् १३२७।
८. ब्रह्मसूत्रम् - २.१.२७
९. ब्रह्मसूत्रम् - २.१.२७, भाष्यं द्रष्टव्यम्।
१०. अचिन्त्याः खलु ये भावाः न तांस्तर्केण योजयेत्। प्रकृतिभ्यः परं यत्तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम्।। महाभारतम्, भीष्मर्व, ५.१२।
११. श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्-शाङ्करभाष्योपेतम् (संस्कृत प्रेस् डिपोजिटरी, कलिकाता, १९८५, १०२ श्लोकः)।
१२. श्रीविष्णुपुराणम् - १.३.१२, आत्मप्रकाशटीका द्रष्टव्या।

१३. निर्गुणस्याप्रमेयस्य शुद्धस्याप्यमलात्मनः। कथं सर्गादिकर्तृकत्वं ब्रह्मणोभ्युपगम्यते।। शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः। यतोतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः। भवन्ति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता।।इति।। विष्णुपुराणम् -१.३.१-२
१४. समाप्तिकामो मङ्गलमाचरेत् इति श्रुतिः।
१५. अचिन्त्यः स आत्मा स विज्ञेयः, माण्डूक्योपनिषद्।
१६. अचिन्त्याः खलु ये भावाः न तां स्तर्केण योजयेत्। प्रकृतिभ्यः परं खलु यत्तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम्।। महाभारतम्, भीष्मपर्व, ५.१२।
१७. श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्, ब्रह्मसूत्रम्, २.१.२७
१८. तस्य हरेस्तिष्ठः शक्तयः सन्ति-पराख्या क्षेत्रज्ञाख्या मायाख्या चेति। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रुयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च, प्रधानक्षेत्रज्ञपतिगुणेशः, संसारबद्धस्थितिः मोक्षहेतुः इति श्रुतेः। विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा। अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते।। इति- श्रीविष्णुपुराणम्।
१९. स च पराख्याशक्तिमद्रूपेण जगन्निमित्तं क्षेत्रज्ञादिशक्तिमद्रूपेण तु तदुपादानञ्च भवति। तदात्मानं स्वयमकुरुत इत्यादि श्रवणात्। (वेदान्तस्यमन्तकः २.९-१०, श्रीश्यामलालगोस्वामि सं।)।
२०. तावदेकस्यैव तत्त्वस्य सच्चिदानन्दत्वाच्छक्तिरप्येका त्रिधा भिद्यते। तदुक्तं विष्णुपुराणे श्रीध्रुवेण- हलादिनीसन्धिनी संवित्तय्येका सर्वसंस्थितौ। (श्रीभगवत्सन्दर्भः, १०२, अनु, २५०-५१ पृष्ठा सत्यानन्दः सं.)।
२१. तत्रैव त्रिवृत् परा कीर्त्यते। अत्र सम्बित्प्रधाना वृत्तिर्गीर्दिवी, हलादप्रधाना तु लक्ष्मीः। इत्थञ्चास्या जीवकोटित्व निरस्तम्। (वेदान्तस्यमन्तकः २.२१)।
२२. तस्या हलादिन्या एव कापि सर्वानन्दातिशायिनी वृत्तिनित्यं भक्तवृन्देष्व निक्षिप्यमाणा भगवत्प्रीत्याख्याया वर्तते। अतस्तदनुभवेन श्रीभगवानपि श्रीमद्भक्तेषु प्रीत्यतिशयं भजत इति। प्रीतिसन्दर्भः - ६५।
२३. भक्तिर्हि भक्तकोटिप्रविष्टतदार्त्रीभावयितृत्च्छक्तिविशेषः, (श्रीभक्तिसन्दर्भः, श्रीगौडीयमठ सं, १८० अनु., २०२ पृष्ठा)।
२४. पुरुषोत्तमसाक्षात्कार, तथा परस्परहर्षातिशयः प्रयोजनम्- गोः भाः, १.१ उपक्रमः, ४।४ उपक्रमः।
२५. श्रीकृष्णप्रेमलक्षणप्रयोजनम् - तत्त्व सः १ अनु।
२६. कर्मणो निखलपूमर्थहेतुत्वम्। सर्गादिः कर्मफलस्य नित्यत्वम् इति बलदेवभाष्यम्।
२७. प्रकृतेश्च स्वतः कर्तृत्वम्- इति बलदेवभाष्यम्।
२८. परिच्छिन्नस्य प्रतिविम्बितस्य भ्रान्तस्य वा ब्रह्मण एव जीवत्वं चिन्मात्रब्रह्मात्मकत्वधीमात्रादेवास्य-इति बलदेवभाष्यम्।
२९. विष्णुरेव ब्रह्मशब्दवाच्यम्, सू भाः १.१.१
३०. श्रीगोविन्दभाष्यस्य प्रारम्भः, श्रीगीताभूषणभाष्यस्य प्रारम्भः द्रष्टव्यः।
३१. श्रीव्यासतीर्थकृतन्यायमृतम् - २ अक्छेदः, विशेषसमर्थननामकं षोडशप्रकरणं द्रष्टव्यम्।
३२. सिद्धान्तरन्तम् द्रष्टव्यम्- १.१७-१९ (श्रीश्यामलालसोस्वमी सं.)।
३३. श्रीगोविन्दभाष्यम्- १.१.१
३४. सिद्धान्तलोषसंग्रहः- ६.२८

**ग्रन्थसूचयः**

- अप्पय्यदीक्षितः। सिद्धान्तलेशसंग्रहः। संपादकः- पारसनाथद्विवेदी। वाराणसी। सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः। २००५ ख्रिष्टाब्दः। मुद्रितम्।
- ईशाद्यष्टोत्तरशततोपनिषद्। संपादकः- वासुदेवशर्मा। वाराणसी। चौखम्बा विद्याभवनम्। १९९५ ख्रिष्टाब्दः। मुद्रितम्।
- गोस्वामिप्रभुपादशीलभक्तिसिद्धान्तसरस्वती। गौडीयदर्शनम्। संपादकः- गौडीयमिशन। कलकाता। वागवाजारा। २०१५ ख्रिष्टाब्दः। मुद्रितम्।
- बलदेवविद्याभूषणः। ईशोपनिषद् (बलदेवभाष्योपेतम्)। संपादकः - कृष्णदासबाबा। मथुरा। गौरहरिप्रेस कुसुमसरोवर। २०२२ गौरसम्बत्। मुद्रितम्।
- प्रमेयरत्नावली। संपादकः -श्रीमद् अक्षयकुमारशर्मा। कलकाता। १९२७ ख्रिष्टाब्दः। मुद्रितम्।
- वेदान्तसूत्रम्। संपादकः- त्रिदण्डस्वामी। कलिकाता। संस्कृतपुस्तकभाण्डारः। १९६९ ख्रिष्टाब्दः। मुद्रितम्।
- श्रीवेदान्तदर्शनम् (ब्रह्मसूत्रम्)। संपादकः- श्रीश्यामदासः। वृन्दावनम्। ब्रजगौरव प्रकाशनम्। २००३ ख्रिष्टाब्दः। मुद्रितम्।
- सिद्धान्तदर्पणः। संपादकः-श्रीहरिदासः। नवद्वीपः। हरिबलकुटीरः। ४५७ गौराब्दः। मुद्रितम्।
- स्वामीशिवानन्दसरस्वती। ईशोपनिषद्। संपादकः - स्वामी सत्यव्रतानन्दसरस्वती। कलिकाता। उमाचल प्रकाशनी। १३९२ बङ्गाब्दः (प्रथमप्रकाशनम्)। मुद्रितम्।
- श्रीमत्सुन्दरानन्दविद्याविनोदः। अचिन्त्यभेदाभेदवादः। संपादकः - सुन्दरानन्दविद्याविनोदः। कलकाता। गौडीयमिशन। १९९१ ख्रिष्टाब्दः। मुद्रितम्।



## शोध नवनीत शोध पत्रिका के सामान्य नियम

- शोध-नवनीत शोध पत्रिका के सम्पादक, समीक्षक आदि समस्त पद अवैतनिक हैं।
- शोध-नवनीत शोध पत्रिका देश-विदेश के विद्यार्थियों, शोधच्छात्रों, शिक्षाविदों तथा विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञों के शोध प्रक्रिया आधारित गुणवत्तापरक, ज्ञानपूर्ण एवं स्तरीय शोधपत्रों/शोधलेखों को निःशुल्क प्रकाशन के लिए आमंत्रित करता है।
- सम्पादक मण्डल/समीक्षक समिति द्वारा चयनित शोधपत्रों/शोधलेखों को ही प्रकाशित किया जायेगा; किन्तु इसकी सामग्री के प्रति जवाबदेही इसके लेखकों की होगी। शोधपत्र/शोधलेख मौलिक या पाण्डुलिपि से सम्बन्धित होना चाहिए। लेखकों के मत से सम्पादक मण्डल की सहमति अनिवार्य नहीं है, किन्तु किसी धर्म, जाति, सम्प्रदाय आदि के विरुद्ध लेखों के प्रकाशन के लिए न विचार किया जायेगा और न ही प्रकाशित किया जायेगा।
- सम्पादक/सम्पादक मण्डल/समीक्षक आदि के द्वारा अस्वीकृत शोधपत्रों/शोधलेखों को उनके लेखकों को वापस नहीं किया जायेगा। इसलिए लेखक अपने पास इसकी एक प्रति सुरक्षित रखें। शोधपत्रों/शोधलेखों की सामग्री अनुचित या विवादित होने की स्थिति में सम्पादक/सम्पादक मण्डल/समीक्षक का निर्णय अन्तिम होगा। सम्पादक/सम्पादक मण्डल आदि द्वारा शोधपत्रों/शोधलेखों के पाण्डुलिपि आदि में कुछ परिवर्तन करके प्रकाशित किया जा सकता है।
- शोध-नवनीत में प्रकाशित शोधपत्रों/शोधलेखों को देश-विदेश के विश्वविद्यालय, महाविद्यालय, शोध-संस्थान आदि के द्वारा स्वीकृत या अस्वीकृत किये जाने पर प्रकाशक, सम्पादक, सम्पादक मण्डल, मुद्रक आदि की कोई जिम्मेदारी नहीं होगी।
- अगला अंक प्रकाशित होने के बाद पहले के अंकों की सामग्री का दुरुपयोग न हो इसलिए नष्ट कर दिया जायेगा। सी.डी./ई-मेल से प्राप्त लेखों को सुरक्षित रखने का प्रयास किया जायेगा।
- शोध-नवनीत से सम्बन्धित विवाद के किसी भी निर्णय के लिए न्यायिक क्षेत्र जनपद न्यायालय फैजाबाद ही मान्य होगा।
- लेखक शोध प्रक्रिया आधारित शोधपत्रों/शोधलेखों को 5 से 7 पृष्ठों (2000-3000 शब्दों) में Unicode (Mangal), Kruti Dev-10 (size 16)/Times New roman (Size-14) में संस्कृत/अंग्रेजी/हिन्दी भाषा में टंकित कराकर सी.डी. (हार्ड कॉपी सहित)/ई-मेल के माध्यम से नाम, पता, मोबाइल नं. ई-मेल सहित भेजें।
- शोधपत्र में लगभग 150 शब्दों के शोधसार एवं मुख्य शब्द सहित सन्दर्भ अन्त में होना चाहिए।
- शोधपत्र में सन्दर्भ, लेखक, पुस्तक, व्याख्याकार का नाम, प्रकाशक, प्रकाशन का स्थान, प्रकाशन वर्ष और पेज संख्या आदि सहित होना चाहिए।

सम्पर्क सूत्र : +91-7800193920

ई-संज्ञेत : shodhnaveet@gmail.com



अक्षर संयोजन एवं मुद्रक : प्रभा कम्प्यूटर्स एण्ड प्रिंटेर्स, युनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद